हमारा संविधान

भारत का संविधान और संवैधानिक विधि

डा. सुभाष काश्यप—अन्य कृतियां

हिंदी में

हमारी संसद
संविधान की आत्मा
संविधान की कहानी
स्वाधीनता संघर्ष – चित्र गाथा
संवैधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष
संसदीय प्रक्रिया
राजनीति कोश
भारतीय सरकार एवं राजनीति
जवाहरलाल नेहरू और भारत का संविधान
दल बदल और राज्यों की राजनीति

अंग्रेजी में

हिस्ट्री आफ पार्लियामेंट
अवर पार्लियामेंट
अवर (हिंदी, पंजाबी, तेलुगु तथा कन्नड़ संस्करण भी उपलब्ध) कांस्टीट्यूशन
डीलिंकिंग रिलीजन एंड पालिटिक्स
एंटी डिफैक्शन ला एंड पार्लियामेंटरी प्रिविलेजेज
हिस्ट्री आफ पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी
पार्लियामेंटरी विट एंड ह्यूमर
आफिस आफ द स्पीकर एड स्पीकर्स आफ लोक सभा
पार्लियामेंट आफ इंडिया—मिथ्स एंड रिअलिटीज़
द टैन लोक सभाज
द पालिटिक्स आफ पावर
द पालिटिक्स आफ डिफैक्शन
जवाहरलाल नेहरू—द कांस्टीट्यूशन एंड द पार्लियामेंट
हिस्ट्री आफ द फ्रीडम मूवमेंट
द अननोन नीत्शे
द पालिटिकल सिस्टम एंड इंस्टीट्यूशन बिल्डिंग अडर जवाहरलाल नेहरू
गोविंद वल्लभ पंत—पार्लियामेंटेरियन, स्टेट्समैन एंड एडमिनिस्ट्रेटर ट्राइस्ट विद फ्रीडम
द मिनिस्टर्स एंड द लेजिसलेटर्स
ह्यूमन राईट्स एंड पार्लियामेंट
लेजिसलेटिव मैनेजमेंट स्टडीज़
रिफारमिंग द कांस्टीट्यूशन
पर्सपैक्टिव्स आन द कांस्टीट्यूशन
बेसिक कांस्टीट्यूशनल वैल्यूज़

भारत—देश और लोग

हमारा संविधान

भारत का संविधान और संवैधानिक विधि

सुभाष काश्यप

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय सूची

आमुख

इस पुस्तक के लिखे जाने का सारा श्रेय नेशनल बुक ट्रस्ट को जाना चाहिए क्योंकि उन्हीं के आग्रह पर इस पर काम शुरू हुआ और एक निश्चित समयावधि के भीतर पूरा किया गया। कुछ वर्ष पूर्व ट्रस्ट ने मेरी एक पुस्तक 'हमारी संसद' शीर्षक से प्रकाशित की थी। उसका पाठकों ने बडा स्वागत किया। पुनर्मुद्रण हुआ, नया संस्करण निकला तथा हिंदी और अंग्रेजी मूल पुस्तकों का कई अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी हुआ। मुझे प्रसन्नता है कि उसी शृंखला में अब 'हमारा संविधान' शीर्षक प्रकाशित हो रहा है। अंग्रेजी में इसका दूसरा संस्करण आ चुका है।

मेरी विनम्र मान्यता रही है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को—युवक-युवती को, बच्चे-बूढ़े को—अपने देश के संविधान से, उसकी राजनीतिक व्यवस्था से परिचित होना चाहिए। यह दुर्भाग्य का विषय है कि संविधान की शिक्षा को विभिन्न स्तरों पर अभी तक समुचित स्थान नहीं दिया गया। और भी खेद की बात है कि हिंदी भाषा में भारत के संविधान और संवैधानिक विधि पर प्रामाणिक और मानक मूल लेखन बहुत कम हुआ है।

मैं गत चार दशकों से भी अधिक से संविधान और संवैधानिक विधि का विद्यार्थी रहा हूं। वस्तुतया संविधान के निर्माण के काल से ही इस विषय में मेरी रुचि रही है। 1965 तक भारत के संविधान निर्माण पर पांच ग्रंथों पर काम पूरा करने के बाद से बराबर सोचता रहा हूं कि संविधान के विकास और कार्यकरण पर तथा न्यायालयों द्वारा विभिन्न उपबंधों की व्याख्या के आधार पर बनती-बढ़ती संवैधानिक विधि पर एक संपूर्ण और प्रामाणिक किंतु साथ ही सरल, संक्षिप्त और पठनीय पुस्तक लिखूं। किसी न किसी कारणवश यह काम बराबर टलता रहा जबकि इन वर्षों में मैंने अन्य विषयों पर पुस्तकें लिखीं।

संसार के सबसे बड़े संविधान की व्याख्या को इस पुस्तक के थोड़े से पृष्ठों में समोकर प्रस्तुत करना काफी कठिन काम था। सच तो यह है कि भारत के संविधान और उसकी संवैधानिक विधि पर 1000 या उससे भी अधिक पृष्ठों का ग्रंथ लिखना अपेक्षाकृत आसान पड़ता।

पुस्तक की ग्राह्यता, गुणात्मकता और उपादेयता का निर्णय तो विज्ञ पाठक ही करेंगे किंतु इतना विनम्र निवेदन मैं अवश्य करना चाहूंगा कि इस विषय पर अब तक जो साहित्य उपलब्ध है, उसके संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक की शैली और तकनीक अपनी है, मौलिक है और प्रचलित ढर्रे से हटकर है।

मैं समझता हूं कि यह पुस्तक संवैधानिक अध्ययन के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाएगी, एक भारी कमी को पूरा करेगी और राजनीतिशास्त्र, संवैधानिक विधि और लोक प्रशासन के शिक्षार्थियों, अधिवक्ताओं और साधारण नागरिकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक के प्रणयन में मुझे जिन मित्रों से सहायता मिली है, उनमें मैं विशेष रूप से स्वर्गीय श्री रघुनाथ सिंह और श्री गुरचरण सिंह छाबड़ा का आभारी हूं। श्री बी.सी. सिंह भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने पुस्तक की पांडुलिपि का टंकण किया।

पुस्तक में रही कमियों और त्रुटियों का दायित्व मेरा है। सभी सुझावो का मैं सदैव स्वागत करूंगा और सुधार का प्रयास करूंगा।

डी-298 सर्वोदय,
नयी दिल्ली-110 017
जनवरी, 1995

सुभाष काश्यप

1

प्रवेश

संविधान क्या है?

किसी देश का संविधान उसकी राजनीतिक व्यवस्था का वह बुनियादी सांचा-ढांचा निर्धारित करता है जिसके अंतर्गत उसकी जनता शासित होती है। यह राज्य की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे प्रमुख अंगों की स्थापना करता है, उनकी शक्तियों की व्याख्या करता है, उनके दायित्वों का सीमांकन करता है और उनके पारस्परिक तथा जनता के साथ संबंधों का विनियमन करता है।

लोकतंत्र में प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। आदर्शतया जनता ही स्वय अपने ऊपर शासन करती है। किंतु, प्रशासन की बढ़ती हुई जटिलताओं तथा राष्ट्र रूपी राज्यों के बढते हुए आकार के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र अब संभव नहीं रहा। आजकल के प्रतिनिधिक लोकतंत्रों में जनता इस बात का निर्णय करती है कि उस पर किस प्रकार से तथा किसके द्वारा शासन हो। जनता अपनी प्रभुसत्ता का सबसे पहला तथा सबसे बुनियादी अनुप्रयोग तब करती है, जब वह अपने आपको एक ऐसा संविधान प्रदान करती है जिसमें उन बुनियादी नियमों की रूपरेखा दी जाती है जिनके अंतर्गत राज्य के विभिन्न अंगों को कतिपय शक्तियां अंतरित की जाती हैं और जिनका प्रयोग उनके द्वारा किया जाता है।

सघीय राज्य व्यवस्था में संविधान अन्य बातों के साथ साथ एक ओर परिसंघीय या संघ-स्तर पर और दूसरी ओर राज्यों या इकाइयों के स्तर पर राज्यों के विभिन्न अंगों के बीच शक्तियों का निरूपण, परिसीमन और वितरण करता है।

किसी देश के संविधान को इसकी ऐसी आधारविधि भी कहा जा सकता है, जो उसकी राज्य व्यवस्था के मूल सिद्धांत विहित करती है और जिसकी कसौटी पर राज्य की अन्य सभी विधियों तथा कार्यपालक कार्यों को उनकी विधिमान्यता तथा वैधता के लिए कसा जाता है।

प्रत्येक संविधान उसके संस्थापकों एवं निर्माताओं के आदर्शों, सपनों तथा मूल्यों का दर्पण होता है। वह जनता की विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रकृति, आस्था

एवं आकांक्षाओं पर आधारित होता है।

संविधान को एक जड़ दस्तावेज मात्र मान लेना ठीक नहीं होगा क्योंकि संविधान केवल वही नहीं है, जो संविधान के मूलपाठ में लिखित है। संविधान सक्रिय संस्थानों का एक सजीव संघट्ट है। यह निरंतर पनपता रहता है, पल्लवित होता रहता है। हर संविधान इसी बात से अर्थ तथा तत्व ग्रहण करता है कि उसे किस तरह अमल में लाया जा रहा है। बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि देश के न्यायालय किस प्रकार उसका निर्वचन करते हैं तथा उसे अमल में लाने की वास्तविक प्रक्रिया में उसके चारों ओर कैसी परिपाटियां तथा प्रथाएं जन्म लेती हैं।

सवैधानिक विधि

सवैधानिक विधि सामान्यतया संविधान के उपबंधों में समाविष्ट देश की मूलभूत विधि की द्योतक होती है। विशेष रूप से इसका सरोकार राज्य के विभिन्न अंगों के बीच और संघ तथा इकाइयों के बीच शक्तियों के वितरण के ढांचे की बुनियादी विशेषताओं से होता है। किंतु आधुनिक सवैधानिक विधि में, खासतौर पर स्वाधीन प्रतिनिधिक लोकतंत्रों में, मूल मानव अधिकारों और नागरिकों तथा राज्य के परस्पर संबंधों पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। इसके अलावा, सवैधानिक विधि के स्रोतों में संविधान का मूल पाठ ही सम्मिलित नहीं होता बल्कि इसमें सवैधानिक निर्णयजन्य विधि, परिपाटियां और कतिपय सवैधानिक उपबंधों के अंतर्गत बनाए गए अनेक कानून भी सम्मिलित होते हैं।

संविधानवाद

संविधानवाद एक ऐसी राज्य व्यवस्था की संकल्पना है, जो संविधान के अतर्गत हो तथा जिसमें सरकार के अधिकार सीमित और विधि के अधीन हों। स्वेच्छाचारी, सत्तावादी अथवा सर्वाधिकारवादी जैसे शासनों के विपरीत, सवैधानिक शासन प्रायः लोकतांत्रिक होता है तथा लिखित संविधान के द्वारा नियमित होता है। लिखित संविधान में राज्य के विभिन्न अंगों की शक्तियों तथा उनके दायित्वों की परिभाषा तथा सीमाकन होता है। लिखित संविधान के अतर्गत स्थापित सरकार सांकुश सरकार ही हो सकती है। लेकिन, यह भी संभव है कि किन्हीं देशों मे—ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं—लिखित संविधान तो हों लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था न हो। कहा जा सकता है कि उनके पास संविधान हैं किंतु वहा पर संविधानवाद नही है। ऐसे भी उदाहरण हैं, जैसे ब्रिटेन, जहां लिखित संविधान नहीं किंतु लोकतंत्र और संविधानवाद है।

भारत का संविधान

हमारा वर्तमान संविधान—भारत का प्रथम संविधान जो भारत के लोगों द्वारा बनाया तथा

स्वयं को समर्पित किया गया—संविधान सभा द्वारा 26 नवंबर, 1949 को अंगीकार किया गया था। यह 26 जनवरी, 1950 से पूर्णरूपेण लागू हो गया था। मूल रूप में स्वीकृत संविधान में 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थीं। इस समय जो पाठ हमारे सामने है, वह इसका समय समय पर सशोधित रूप है जिसमें कुछ अनुच्छेद संशोधनों के द्वारा निकाल दिए गए और कुछ के साथ क, ख, ग आदि करके नये अनुच्छेद जोड़ दिए गए। इस समय गणना की दृष्टि से कुल अनुच्छेद (1 से 395 तक) वस्तुतया 440 हो गए हैं। अनुसूचियां 8 से बढ़कर 12 हो गई हैं। पिछले 45 वर्षों में 78 संविधान संशोधन विधेयक पारित हुए हैं।

संविधान के स्रोत

भारत के संविधान के स्रोत नानाविध तथा अनेक हैं। ये देशी भी है तथा विदेशी भी। सविधान निर्माताओं ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि वे नितांत स्वतंत्र रूप से या एकदम नये सिरे से संविधान-लेखन नहीं कर रहे। उन्होने जानबूझकर यह निर्णय लिया था कि अतीत की उपेक्षा न करके पहले से स्थापित ढाचे तथा अनुभव के आधार पर ही संविधान को खडा किया जाए। भारत के संविधान का एक समन्वित विकास हुआ। यह विकास कतिपय प्रयासो के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था। स्वाधीनता के लिए छेड़े गए राष्ट्रवादी संघर्ष के दौरान प्रतिनिधिक एव उत्तरदायी शासन संस्थानों के लिए विभिन्न मांगें उठाई गई और अग्रेज शासकों ने झींक झींककर बड़ी कजूसी से समय समय पर थोडे थोड़े सवैधानिक सुधार किए। प्रारंभिक अवस्था में यह प्रक्रिया अति अविकसित रूप मे थी, कितु राजनीतिक संस्थान-निर्माण, विशेष रूप से आधुनिक विधानमंडलों का सूत्रपात 1920 के दशक के अंतिम वर्षों में हो गया था। वास्तव में, संविधान के कुछ उपबंधों के स्रोत तो भारत मे ईस्ट इडिया कपनी तथा अंग्रेजी राज के शैशव काल में ही खोजे जा सकते है।

राज्य के नीति-निदेशक तत्वो के अतर्गत ग्राम पंचायतों के संगठन का उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राचीन भारतीय स्वशासी सस्थानों से प्रेरित होकर किया गया था। 73वे तथा 74वें सविधान सशोधन अधिनियमो ने उन्हे अब और अधिक सार्थक तथा महत्वपूर्ण बना दिया है।

कतिपय मूल अधिकारो की मांग सबसे पहले 1918 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मुंबई अधिवेशन मे की गई थी। भारत के राज्य-संघ विधेयक[1] में, जिसे राष्ट्रीय सम्मेलन[2] ने 1925 में अंतिम रूप दिया था, विधि के समक्ष समानता, अभिव्यक्ति, सभा करने और

1 राज्य-सघ विधेयक (Commonwealth of India Bill)

2. राष्ट्रीय सम्मेलन (National convention)

धर्म पालन की स्वतंत्रता जैसे अधिकारों की एक विशिष्ट घोषणा सम्मिलित थी। 1927 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया गया था जिसमें मूल अधिकारों की मांग को दोहराया गया था। सर्वदलीय सम्मेलन द्वारा 1928 में नियुक्त मोतीलाल नेहरू कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में घोषणा की थी कि भारत की जनता का सर्वोपरि लक्ष्य न्याय सीमा के अधीन मूल मानव अधिकार प्राप्त करना है। यहां यह उल्लेखनीय है कि नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में जो उन्नीस मूल अधिकार शामिल किए गए थे, उनमें से दस को भारत के संविधान में बिना किसी खास परिवर्तन के शामिल कर लिया गया है। 1931 में कांग्रेस के कराची अधिवेशन में पारित किए गए प्रस्ताव में न केवल मूल अधिकारो का बल्कि मूल कर्तव्यों का भी विशिष्ट रूप से उल्लेख किया गया था। 1931 के प्रस्ताव मे वर्णित अनेक सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारो को संविधान के निदेशक तत्वों में समाविष्ट कर लिया गया था। मूल संविधान में मूल कर्तव्यों का कोई उल्लेख नहीं था किंतु बाद में 1976 मे सविधान (बयालीसवा) सशोधन अधिनियम द्वारा इस विषय पर एक नया अध्याय संविधान में जोड़ दिया गया था।

संविधान में ससद के प्रति उत्तरदायी संसदीय शासन प्रणाली, अल्पसंख्यको के लिए रक्षोपायों और संघीय राज्य व्यवस्था की जो व्यवस्था रखी गई उसके मूल स्रोत भी 1928 की नेहरू कमेटी रिपोर्ट में मिलते है। अंतत· कहा जा सकता है कि संविधान का लगभग 75 प्रतिशत अंश भारत शासन अधिनियम, 1935 से लिया गया था। उसमें बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल कुछ आवश्यक संशोधन मात्र किए गए थे। राज्य व्यवस्था का बुनियादी ढांचा तथा संघ एवं राज्यों के संबंधों, आपात स्थिति की घोषणा आदि को विनियमित करने वाले उपबंध अधिकांशतया 1935 के अधिनियम पर आधारित थे।

देशी स्रोतों के अलावा संविधान सभा के सामने विदेशी संविधानों के अनेक नमूने थे। निदेशक तत्वों की संकल्पना आयरलैंड के संविधान से ली गई थी। विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों वाली संसदीय प्रणाली अंग्रेजों से आई और राष्ट्रपति में संघ की कार्यपालिका शक्ति तथा संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश[1] निहित करना और उपराष्ट्रपति को राज्य सभा का पदेन सभापति बनाने के उपबंध अमरीकी संविधान पर आधारित थे। कहा जा सकता है कि अमरीकी संविधान में सम्मिलित अधिकार पत्र[2] भी हमारे मूल अधिकारों के लिए प्रेरणा का स्रोत था।

कनाडा के संविधान ने, अन्य बातों के साथ साथ, संघीय ढांचे और संघ तथा राज्यों के संबंधों एवं संघ तथा राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण से संबंधित उपबंधों को प्रभावित

---

1. रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश' (Supreme Command of the DefenceForces)
2. अधिकार पत्र (Bill of Rights)

किया। सप्तम अनुसूची में समवर्ती अनुसूची, व्यापार, वाणिज्य तथा समागम और संसदीय विशेषाधिकारों से संबंधित उपबंध, संभवतया आस्ट्रेलियाई संविधान के आधार पर तैयार किए गए। आपात स्थिति से संबंधित उपबध, अन्य बातों के साथ साथ, जर्मन राज्य[1] संविधान द्वारा प्रभावित हुए थे। न्यायिक आदेशों[2] तथा संसदीय विशेषाधिकारों के विवाद से संबंधित उपबधों की परिधि तथा उनके विस्तार को समझने के लिए अभी भी ब्रिटिश संविधान का सहारा लेना पड़ता है।

संविधान का निर्वचन

कानूनों के निर्वचन के लिए लागू सामान्य नियम[3] संवैधानिक निर्वचन के क्षेत्र मे भी उतने ही मान्य है। किंतु संविधान मूलभूत तथा सर्वोच्च विधि होता है। वह विधायिका का सृजन करता है और उसके अतर्गत देश की सभी विधियां बनाई जाती हैं तथा वे वैधता प्राप्त करती है। उदार निर्वचन के सिद्धात[4] के अनुसार संविधान का निर्वचन उदार दृष्टि से किया जाना चाहिए, संकीर्ण दृष्टि से नहीं। संविधान के निर्वचन के लिए सामान्य नियमों के अलावा कुछ विशेष नियम भी हैं।

संविधान के प्रत्येक उपबध की व्याख्या इस तरह से की जानी चाहिए जिससे उसमे प्रयोग में लाए गए प्रत्येक शब्द को अर्थ तथा प्रासंगिकता मिले। उच्चतम न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया गया है कि जब तक अन्यथा निर्दिष्ट न हो, प्रत्येक शब्द इसके सामान्य या साधारण अर्थ मे प्रयोग किया गया समझा जाता है और उसका सीधा सादा व्यावहारिक अर्थ लिया जाना चाहिए। (*केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य* (1973) 4 एस सी सी 225)।

सविधान के निर्वचन का उद्देश्य संविधान निर्माताओ की मंशा को समझना होता है। किन्तु इसे मूलपाठ में प्रयुक्त वास्तविक शब्दों से समझा जाना चाहिए। यदि किसी संवैधानिक उपबंध की भाषा स्पष्ट तथा असंदिग्ध है, तो संविधान की भावना या संविधान-निर्माताओं द्वारा संविधान सभा मे व्यक्त किए गए विचार जैसी बातें निर्वचन के लिए बेमायने हैं। किंतु यदि भाषा की अस्पष्टता के कारण उसके एक से अधिक अर्थ लगाए जा सकते हों तो इन पर स्पष्टीकरण के लिए विचार किया जा सकता है। (*मेनन बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1951 एस सी 128, *गोपालन बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1950 एस सी 27)।

---

1. जर्मन राज्य (Reich)
2. न्यायिक आदेश (Writs)
3. सामान्य नियम (Rules of Interpretation)
4. उदार निर्वचन के सिद्धांत (Doctrine of Liberal Interpretation)

अनिवार्य है कि संविधान को, उसके प्रत्येक भाग को उचित महत्व देते हुए, समग्र रूप में पढ़ा जाए। जहां दो उपबंध परस्पर विरोधी प्रतीत हों, वहां समरस-संरचना-सिद्धांत[1] के अंतर्गत उनका यह अर्थ स्वीकार कर लेना चाहिए जो दोनों उपबंधों को प्रभावी बनाता हो तथा उसके सुप्रवाही तथा समरस प्रवर्तन को सुनिश्चित करता हो [देखिये *वेंकटरामन् बनाम मैसूर राज्य,* ए 1958 एस सी 225, *मद्रास राज्य बनाम चम्पकम,* (1951) एस सी आर, 5257, *गोपालन बनाम मद्रास राज्य* (1950) एस सी आर 88]।

'पृथक्करण के सिद्धांत'[2] के अंतर्गत यदि किसी उपबंध का कोई भाग अविधिमान्य पाया जाए तो शेष भाग की विधिमान्यता पर उसका कोई असर नहीं होना चाहिए बशर्ते इसे अपेक्षित भाग से पृथक किया जा सकता हो तथा यह अपने आप में पूर्ण हो। [*गया प्रताप सिंह बनाम इलाहाबाद बैंक,* ए आई आर 1955 एस सी 765, *गोपालन बनाम मद्रास राज्य,* (1950) एस सी आर 88]।

गोलकनाथ के मामले में हमारे उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाए गए भावी विरुद्ध-निर्णय के सिद्धांत[3] के अनुसार न्यायालय द्वारा दिए गए किसी निर्वचन तथा इसके द्वारा घोषित विधि को प्रतीप दिशा में अथवा किसी पिछली तारीख से लागू नहीं किया जाना चाहिए अर्थात अतीत के कार्यों की विधिमान्यता प्रभावित नहीं होनी चाहिए। (*गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1967 एस सी 1643)।

---

1. समरस-संरचना-सिद्धांत (Principle of Harmonious Construction)
2. 'पृथक्करण के सिद्धांत' (Doctrine of Severability)
3. विरुद्ध-निर्णय के सिद्धांत (Doctrine of Prospective Overruling)

2

संवैधानिक इतिहास

किसी देश के संविधान के भवन का निर्माण सदैव उसके अतीत की नींव पर किया जाता है। अत. किसी भी विद्यमान तथा लागू संविधान को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि तथा उसके इतिहास को जानना जरूरी होता है।

प्राचीन भारत में संवैधानिक शासन-प्रणाली

लोकतत्र, प्रतिनिधि-सस्थान, शासको की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर अंकुश और विधि के शासन की सकल्पनाए प्राचीन भारत के लिए पराई नहीं थीं। धर्म की सर्वोच्चता की सकल्पना विधि के शासन[1] या नियंत्रित सरकार[2] की सकल्पना से भिन्न नहीं थी। प्राचीन भारत में शासक 'धर्म' से बंधे हुए थे , कोई भी व्यक्ति धर्म का उल्लघन नहीं कर सकता था। ऐसे पर्याप्त प्रमाण सामने आए है, जिनसे पता चलता है कि प्राचीन भारत के अनेक भागो में गणतत्र शासन-प्रणाली, प्रतिनिधि-विचारण-मंडल और स्थानीय स्वशासी संस्थाएं विद्यमान थीं और वैदिक काल (3000-1000 ई.पू. के आसपास) से ही लोकतांत्रिक चिंतन तथा व्यवहार लोगों के जीवन के विभिन्न पहलुओं में घर कर गए थे।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे सभा (आम सभा) तथा समिति (वयोवृद्धों की सभा) का उल्लेख मिलता है। एतरेय ब्राह्मण, पाणिनी की अष्टाध्यायी, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत, अशोक स्तंभों पर उत्कीर्ण शिलालेख, उस काल के बौद्ध तथा जैन ग्रंथ और मनुस्मृति—ये सभी इस बात के साक्ष्य हैं कि भारतीय इतिहास के वैदिकोत्तर काल में अनेक सक्रिय गणतंत्र विद्यमान थे। विशेष रूप से महाभारत के बाद, विशाल साम्राज्यों के स्थान पर अनेक छोटे छोटे गणतंत्र-राज्य अस्तित्व में आ गए। जातकों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते है कि ये गणतंत्र किस तरह कार्य करते थे। सदस्यगण 'संथागार' में समवेत होते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव खुली सभा में किया जाता था। वे अपने 'गोप' का चयन

---

1. विधि का शासन (Rule of Law)
2. नियंत्रित सरकार (Limited Government)

करते थे। वह राजा बनता था तथा मंत्रिपरिषद की सहायता से शासन करता था।

ई.पू. चौथी शताब्दी में 'क्षुद्रक मल्ल संघ' नामक गणतंत्र-परिसंघ ने सिकंदर का डटकर मुकाबला किया था। पाटलीपुत्र (पटना) के निकट लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी। वह राज्य एक गणतंत्र था। उसका शासन एक सभा चलाती थी। उसका एक निर्वाचित अध्यक्ष होता था, और उसे नायक कहा जाता था। दुर्भाग्यवश, हमारे पास इन गणतंत्रों के संविधान के विवरण के विषय में कोई अधिक जानकारी नहीं है। यूनानी विद्वान मैगेस्थनीज ने ऐसी जन-निर्वाचित सभाओं के अभिलेख छोड़े हैं जिन्हें दक्षिण में जीवित रखा गया था तथा जिन्होंने राजाओं की शक्तियों पर अंकुश लगाया हुआ था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था में स्वेच्छाचारी शासन या राजाओं के दैवी अधिकारों के लिए कोई स्थान नहीं था। भारतीय राजा की शक्ति पर ऐसे प्रतिबध लगा दिए गए थे जिससे कि वह उसका दुरुपयोग न कर सके। उसकी शक्ति को अन्य लोक प्राधिकारियों तथा हितों के अधिकारों तथा शक्तियों द्वारा नियंत्रित कर दिया गया था। वस्तुतया वह एक सीमित या संवैधानिक राजा था और वह जनता के बहुमत के आधार पर कार्य करता था। मनु लिखते हैं कि जिस प्रकार पागल कुत्ते को मार दिया जाता है, उसी प्रकार अन्यायी तथा अत्याचारी राजा को उसकी अपनी प्रजा द्वारा मार दिया जाना चाहिए।

दसवीं शताब्दी में शुक्राचार्य ने 'नीतिसार' की रचना की जो संविधान पर लिखी गई पुस्तक है। इसमें केंद्रीय सरकार के संगठन एवं ग्रामीण तथा नगरीय जीवन, राजा की परिषद और सरकार के विभिन्न विभागों का वर्णन किया गया है।

गणराज्य, निर्वाचित राजा, सभा और समिति जैसे लोकतांत्रिक संस्थान बाद में लुप्त हो गए, किंतु ग्राम स्तर पर ग्राम संघ, ग्राम सभा अथवा पंचायत जैसे प्रतिनिधि-निकाय जीवित रहे और अनेक हिंदू तथा मुस्लिम राजवंशों के शासन के दौरान तथा अंग्रेजी शासन के आगमन तक कार्य करते रहे और फलते फूलते रहे।

अंग्रेजी शासन

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आए थे। 31 दिसंबर, 1600 को लंदन के चंद व्यापारियों द्वारा बनाई गई ईस्ट इंडिया कंपनी ने महारानी एलिजाबेथ से शाही चार्टर प्राप्त कर लिया था। उस चार्टर के द्वारा कंपनी को आरंभ में 15 वर्ष की अवधि के लिए भारत तथा दक्षिण पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार दे दिया गया था। उसमें कंपनी का संविधान, उसकी शक्तियां और उसके विशेषाधिकार निर्धारित थे।

औरंगज़ेब की मृत्यु (1707) के बाद कमजोर पड़ते हुए केंद्रीय प्राधिकार, मुगल साम्राज्य के विघटन और पूरे देश में गड़बड़ी के हालात का लाभ उठाते हुए, कंपनी धीरे धीरे प्रभावी

शक्ति के रूप में उभरकर सामने आ गई। 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के खिलाफ प्लासी की लड़ाई में कंपनी की विजय के साथ ही इसकी पकड़ और भी मजबूत हो गई तथा भारत में अंग्रेजी शासन की नींव पड़ी।

रेग्युलेटिंग एक्ट, 1773 : 1773 का एक्ट भारत के संवैधानिक इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारत में कंपनी के प्रशासन पर ब्रिटिश संसदीय नियंत्रण के प्रयासों की शुरुआत थी। कंपनी के शासनाधीन क्षेत्रों का प्रशासन अब कंपनी के व्यापारियों का निजी मामला नहीं रहा। 1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट में भारत में कंपनी के शासन के लिए पहली बार एक लिखित संविधान प्रस्तुत किया गया।

चार्टर एक्ट, 1833 : भारत में अंग्रेजी राज के दौरान संविधान निर्माण के प्रथम धुंधले से संकेत 1833 के चार्टर एक्ट में मिलते हैं। इस एक्ट के अंतर्गत सपरिषद गवर्नर जनरल[1] के विधि-निर्माण अधिवेशनों तथा इसके कार्यपालक अधिवेशनों में अंतर करते हुए भारत में अंग्रेजी शासनाधीन क्षेत्रों के शासन मे सस्थागत विशेषीकरण का तत्व समाविष्ट किया गया। भारत में अंग्रेजी शासनाधीन सभी क्षेत्रों में सपूर्ण सिविल तथा सैनिक शासन तथा राजस्व की निगरानी, निर्देशन और नियंत्रण स्पष्ट रूप से 'गवर्नर जनरल आफ इंडिया इन कौंसिल' (सपरिषद भारतीय गवर्नर जनरल) को सौप दिया गया। इस प्रकार, गवर्नर जनरल की सरकार 'भारत सरकार' और उसकी परिषद 'भारतीय परिषद' के रूप मे जानी गई। इस एक्ट के द्वारा विधायी क्षेत्रों में भी केंद्रीयकरण आरंभ कर दिया गया। विधायी कार्य के लिए परिषद का विस्तार कर दिया गया। पहले के तीन सदस्यों के अतिरिक्त उसमें एक 'विधि सदस्य' और जोड़ दिया गया। 'गवर्नर जनरल आफ इंडिया इन कौंसिल' को अब, कतिपय प्रतिबंधों के अधीन रहते हुए, भारत में अंग्रेजी शासनाधीन संपूर्ण क्षेत्रों के लिए कानून बनाने की अन्य शक्तियां मिल गईं।

चार्टर एक्ट, 1853 : 1853 का चार्टर एक्ट अंतिम चार्टर एक्ट था। इस एक्ट के अंतर्गत भारतीय विधान तत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। यद्यपि गवर्नर जनरल की परिषद को ऐसे विधायी प्राधिकरण के रूप में जारी रखा गया जो समूचे ब्रिटिश भारत के लिए विधियां बनाने के लिए सक्षम थी, तथापि इसके स्वरूप तथा संघटन में अनेक परिवर्तन कर दिए गए जिससे कि 'पूरी प्रणाली ही परिवर्तित' हो गई थी।

विधायी कार्यों के लिए परिषद में छह विशेष सदस्य जोड़कर इसका विस्तार कर दिया गया। इन सदस्यों को विधियां तथा विनियम बनाने के लिए बुलाई गई बैठकों के अलावा परिषद में बैठने तथा मतदान करने का अधिकार नहीं था। इन सदस्यों को 'विधायी पार्षद' कहा जाता था। परिषद में गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ, मद्रास, बंबई, कलकत्ता और

---

1. सपरिषद गवर्नर जनरल (Governor-General-in-Council).

आगरा के स्थानीय शासनों के चार प्रतिनिधियों समेत अब बारह सदस्य हो गए थे। परिषद के विधायी कार्यो को इसके कार्यपालक अधिकारों से स्पष्ट रूप से अलग कर दिया गया था और एक्ट की धारा 23 की अपेक्षाओं के अनुसार उनके इस विशेष स्वरूप पर बल दिया गया था कि सपरिषद गवर्नर जनरल में निहित विधियां तथा विनियम बनाने की शक्तियों का प्रयोग केवल 'उक्त परिषद की बैठकों' में किया जाएगा।

1858 का एक्ट : भारत में अंग्रेजी शासन के मजबूती के साथ स्थापित हो जाने के बाद 1857 का विद्रोह अग्रेजी शासन का तख्ता पलट देने का पहला संगठित प्रयास था। उसे अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय गदर तथा भारतीयों ने स्वाधीनता के लिए प्रथम युद्ध का नाम दिया। इस विद्रोह ने, जिसे अंततः दबा दिया गया, भारत में ईस्ट इंडिया कपनी की व्यवस्था को एक घातक झटका पहुंचाया। ब्रिटिश संसद ने कुछ ऐसे सिद्धातों पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श करने के बाद, जो नयी नीति का आधार होने चाहिए, एक नया एक्ट पास किया। यह एक्ट अततः 1858 का "भारत के उत्तम प्रशासन के लिए एक्ट"[1] बना। इस एक्ट के अधीन, उस समय जो भी भारतीय क्षेत्र कंपनी के कब्जे में थे, वे सब क्राउन में निहित हो गए और उन पर (भारत के लिए) प्रिंसिपल सेक्रेटरी आफ स्टेट के माध्यम से कार्य करते हुए क्राउन द्वारा तथा उसके नाम में, सीधे शासन किया जाने लगा। कितु 1858 का एक्ट अधिकांशतया ऐसे प्रशासन-तत्र में सुधार तक ही सीमित था जिसके द्वारा भारत के प्रशासन पर इंग्लैंड मे निरीक्षण और नियंत्रण किया जाना था। इसके द्वारा भारत की तत्कालीन शासन व्यवस्था में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं किया गया।

भारतीय परिषद एक्ट, 1861 : इसके बाद शीघ्र ही सरकार ने यह जरूरी समझा कि वह भारतीय प्रशासन की सुधार संबंधी नीति का निर्धारण करे। वह ऐसे साधनों तथा उपायों पर विचार करे जिसके द्वारा देश के जनमत से निकट संपर्क स्थापित किया जा सके और सरकार की सलाहकार-परिषद में यूरोपीय तथा भारतीय गैर सरकारी सदस्यों को शामिल किया जा सके ताकि "सरकार द्वारा प्रस्तावित विधानों के बारे में बाहरी जनता के विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति यथासमय हो सके।"

1861 का भारतीय परिषद एक्ट भारत के संवैधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण और युगांतरकारी घटना है। यह दो मुख्य कारणों से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इसने गवर्नर जनरल को अपनी विस्तारित परिषद में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को नामजद करके उन्हें विधायी कार्य से संबद्ध करने का अधिकार दे दिया। दूसरा यह कि इसने गवर्नर जनरल की परिषद की विधायी शक्तियों का विकेंद्रीयकरण कर दिया तथा उन्हें बंबई तथा मद्रास की सरकारों में निहित कर दिया।

---

1. भारत के उत्तम प्रशासन के लिए एक्ट (The Act for the Good Government of India)

गवर्नर जनरल की कार्यपालिका परिषद का विस्तार कर दिया गया। उसमें एक पांचवां सदस्य सम्मिलित कर दिया गया। उसके लिए न्यायविद होना जरूरी था। विधायी कार्यों के लिए कम-से-कम छह तथा अधिक-से-अधिक बारह अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित किए गए। उनमें से कम-से-कम आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना जरूरी था। यद्यपि एक्ट में इसका स्पष्ट रूप से उपबंध नहीं किया गया था, तथापि विधान परिषद के गैर सरकारी सदस्यो में भारतीयों को भी शामिल किया जा सकता था। वास्तव में, 1862 में गवर्नर जनरल, लार्ड कैनिंग ने नवगठित विधान परिषद मे तीन भारतीयों—पटियाला के महाराजा, बनारस के राजा और सर दिनकर राव—को नियुक्त किया। भारत में अंग्रेजी राज की शुरुआत के बाद पहली बार भारतीयों को विधायी कार्य के साथ जोडा गया।

1861 के एक्ट मे अनेक त्रुटियां थीं। इसके अलावा यह भारतीय आकांक्षाओं को भी पूरा नहीं करता था, इसने गवर्नर जनरल को सर्वशक्तिमान बना दिया था। गैर सरकारी सदस्य कोई भी प्रभावी भूमिका अदा नहीं कर सकते थे। न तो कोई प्रश्न पूछे जा सकते थे और न ही बजट पर बहस हो सकती थी। देश मे राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति निरंतर खराब होती गई। अनाज की भारी किल्लत हो गई और 1877 मे जबरदस्त अकाल पड़ा। इससे व्यापक असंतोष फैल गया और स्थिति विस्फोटक बन गई। 1857 के विद्रोह के बाद जो दमनचक्र चला, उसके कारण अंग्रेजों के खिलाफ लोगों की भावनाएं भड़क उठी थीं। इनमें और भी तेजी आइ जब यूरोपियों और आग्ल भारतीयों ने इल्बर्ट विधेयक का जमकर विरोध किया। इल्बर्ट विधेयक में सिविल सेवाओं के यूरोपीय तथा भारतीय सदस्यों के बीच घिनौने भेद को समाप्त करने की व्यवस्था की गई थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म : भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का श्रीगणेश 1885 में हुआ। ए ओ. ह्यूम इसके प्रणेता थे और प्रथम अध्यक्ष बने डब्ल्यू.सी. बनर्जी। श्री ह्यूम अंग्रेज थे। 28 से 30 दिसंबर, 1885 को बबई में श्री डब्ल्यू.सी. बनर्जी की अध्यक्षता में हुए इसके पहले अधिवेशन में ही काग्रेस ने विधान परिषदों में सुधार तथा इनके विस्तार की माग की। इसके बाद कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में इस मांग को दोहराया गया। हर वर्ष यह माग पहले की अपेक्षा अधिक जोर पकडती गई। कांग्रेस के विचार में 'सभी अन्य सुधारो के मूल में' परिषदों का सुधार था। कांग्रेस के पांचवें अधिवेशन (1889) में इस विषय पर बोलते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था : "यदि आपकी यह मांग पूरी हो जाती है तो आपकी अन्य सभी मांगें पूरी हो जाएंगी; इस पर देश का समूचा भविष्य तथा हमारी प्रशासन व्यवस्था का भविष्य निर्भर करता है।" 1889 के अधिवेशन में जो प्रस्ताव पारित किया गया, उसमें गवर्नर जनरल की परिषद तथा प्रांतीय विधान परिषदों में सुधार तथा उनके पुनर्गठन के लिए एक योजना की रूपरेखा दी गई थी और उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट में पेश किए जाने वाले बिल में शामिल करने का सुझाव भी दिया गया था।

इस योजना में अन्य बातों के साथ साथ यह मांग की गई थी कि भारत में 21 वर्ष से ऊपर के सभी पुरुष ब्रिटिश नागरिकों को मताधिकार तथा गुप्त मतदान पद्धति द्वारा मतदान करने का अधिकार दिया जाए

भारतीय परिषद एक्ट, 1892 : 1891 में कांग्रेस ने अपने इस दृढ़ निश्चय को दोहराया कि जब तक भारत की जनता को उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से विधानमंडलों में अपनी सक्षम आवाज उठाने की इजाजत नहीं मिल जाती तब तक भारत पर अच्छी तरह से शासन नहीं हो सकता। भारतीय परिषद एक्ट, 1892 मुख्यतया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1889 से 1891 तक के अधिवेशनों में स्वीकार किए गए प्रस्तावों से प्रभावित होकर पारित किया गया था। 1892 के एक्ट के अधीन, गवर्नर जनरल की परिषद में अतिरिक्त सदस्यों की सख्या बढाकर "कम-से-कम दस तथा अधिक-से-अधिक सोलह" कर दी गई (इससे पहले इनकी न्यूनतम संख्या छह और अधिकतम संख्या बारह थी)। इसी प्रकार, प्रातीय विधान परिषदों में भी अतिरिक्त सदस्यों की सख्या बढा दी गई।

परिषदो को, उनके विधायी कार्यों के अलावा, अब कतिपय शर्तों तथा प्रतिबंधों के साथ वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट पर विचार-विमर्श करने की इजाजत दे दी गई। परिषद के सदस्यो को भी, कतिपय शर्तों के अधीन रहते हुए, विहित नियमो के अंतर्गत लोक हित के मामलों के बारे मे प्रश्न पूछने की इजाजत मिल गई।

1892 का एक्ट, निश्चित रूप से, 1861 के एक्ट की अपेक्षा एक समुन्नत एक्ट था, क्योंकि इसके द्वारा विधान परिषद में प्रतिनिधित्व का पुट दे दिया गया था और परिषद के कार्यों का विस्तार करके इसके काम पर लगे प्रतिबंधों को कुछ हद तक शिथिल कर दिया गया था। परिषद में 'निर्वाचित' सदस्यों के प्रवेश से इसके जीवन में एक नये युग का सूत्रपात हो गया।

स्वराज ही लक्ष्य : कांग्रेस ने 1906 के अधिवेशन में घोषणा की कि इसका अंतिम लक्ष्य स्वराज है। "नरमपंथियों[1] के अनुसार इसका अर्थ था अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन संसदीय स्व-शासन और अतिवादियों[2] के लिए इसका अर्थ था स्वाधीनता। इसने विधान परिषदों के तुरंत विस्तार की मांग भी की ताकि जनता का और अधिक तथा वस्तुतया प्रभावी प्रतिनिधित्व हो सके और देश के वित्तीय तथा कार्यकारी प्रशासन पर और अधिक नियंत्रण हो सके।"

मिंटो-मार्ले सुधार : एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन में गरमपंथियों की शक्ति बढ़ती जा रही थी तो दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नरमपंथी लोग देश के कार्य-संचालन में भारतीयों के और अधिक तथा और प्रभावी प्रतिनिधित्व के लिए अनथक अभियान चला

1 नरमपंथी (Moderates)

2. अतिवादी (Extremists)

रहे थे। इसे देखते हुए तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, लार्ड मार्ले तथा तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिंटो ने मिलकर 1906-1908 के दौरान कतिपय संवैधानिक सुधार प्रस्ताव तैयार किए। इन्हें आमतौर पर मिंटो-मार्ले सुधार प्रस्ताव कहा जाता है। इनका मंतव्य था कि विधान परिषदों का विस्तार किया जाए तथा उनकी शक्तियों और कार्यक्षेत्र को बढ़ाया जाए, प्रशासी परिषदों में भारतीय सदस्य नियुक्त किए जाएं, जहां पर ऐसी परिषदें नहीं हैं, वहां पर ऐसी परिषदें स्थापित की जाएं, और स्थानीय स्वशासन प्रणाली का और विकास किया जाए।

भारतीय परिषद एक्ट, 1909 : 1909 के एक्ट और इसके अधीन बनाए गए विनियमों द्वारा परिषदों तथा उनके कार्यक्षेत्र का और अधिक विस्तार करके उन्हें अधिक प्रतिनिधिक एवं प्रभावी बनाने के लिए उपबंध किए गए। सदस्यों की संख्या दुगुनी अथवा दुगुनी से भी ज्यादा कर दी गई। भारतीय विधान परिषद (गवर्नर जनरल की परिषद) के अतिरिक्त सदस्यों की अधिकतम संख्या 16 (1892 के एक्ट के अधीन) में बढ़ाकर 60 कर दी गई (इनमें प्रशासी पार्षद सम्मिलित नहीं थे, वे पदेन सदस्य थे)।

इस एक्ट के अधीन अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धांत को मान्यता दी गई। किंतु यह निर्णय किया गया कि भारत की परिस्थितियों में, क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व जनता के लिए उपयुक्त नहीं है और वर्गों तथा हितबद्ध व्यक्तियों के माध्यम से प्रतिनिधित्व देना ही भारतीय विधान परिषदों का गठन करते समय निर्वाचन-सिद्धांत को मूर्त रूप देने की एकमात्र व्यावहारिक विधि होगी। तथापि, निर्वाचित सदस्यों की अनुपूर्ति के वास्ते (क) सरकारी सदस्यों की नियुक्ति के लिए, तथा (ख) गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति के लिए नामजदगी का उपबंध बनाए रखा गया ताकि जिन लोगों को निर्वाचन के द्वारा प्रतिनिधित्व देना अव्यावहारिक प्रतीत होता था, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जा सके। 'निर्वाचित सदस्य' ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाने थे यथा नगरपालिकाएं, जिला तथा स्थानीय बोर्ड, विश्वविद्यालय, वाणिज्य तथा व्यापार संघ मंडल और जमींदारों या चाय बागान मालिकों जैसे लोगों के समूह। ऐसे विनियम बना दिए गए जिनसे सभी प्रांतीय विधान परिषदों में गैर सरकारी सदस्यों का बहुमत हो, किंतु केंद्रीय विधान परिषद में सरकारी सदस्यों का ही बहुमत बना रहे। इन विनियमों में मुस्लिम संप्रदाय के लिए पृथक निर्वाचक मंडल तथा पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था भी कर दी गई। इस प्रकार, पहली बार सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व[1] के घातक सिद्धांत का सूत्रपात हुआ।

इस एक्ट के द्वारा लागू किए गए सुधार जिम्मेदार सरकार की मांग को न तो पूरा करते थे और न ही पूरा कर सकते थे, क्योंकि उसके अधीन स्थापित परिषदों में जिम्मेदारी का अभाव था, जो जन-निर्वाचित सरकार की विशेषता होती है।

---

1. **सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व** (Communal Representation)

मोंटेग्यू घोषणा : 20 अगस्त, 1917 को तत्कालीन सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, श्री मोंटेग्यू ने हाउस आफ कामंस में एक ऐतिहासिक वक्तव्य दिया। अंग्रेजी राज के दौरान भारत के उतार-चढ़ाव वाले इतिहास में पहली बार इस वक्तव्य के द्वारा भारत में 'जिम्मेदार सरकार' की स्थापना का वादा किया गया।

मोंटफोर्ड रिपोर्ट, 1918 : भारतीय संवैधानिक सुधार संबंधी रिपोर्ट मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड या मोंटफोर्ड रिपोर्ट के नाम से जानी जाती है। उसे सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, श्री मोंटेग्यू तथा भारत के वाइसराय, लार्ड चेम्सफोर्ड ने संयुक्त रूप से तैयार किया था। वह जुलाई, 1918 में प्रकाशित की गई।

इस रिपोर्ट में स्वशासी डोमिनियन के दर्जे की मांग की पूर्ण उपेक्षा की गई। उल्टे उसमें अति अनिष्टकर ढंग से पृथक निर्वाचक मंडल[1] संबंधी उन रियासतों को मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का आधार बना दिया गया जिन पर कांग्रेस और लीग के बीच 1916 में हुए लखनऊ समझौते के अधीन कांग्रेस सहमत हो गई थी।

राष्ट्रवादी आंदोलन तथा प्रतिनिधि संस्थाओं की उत्पत्ति (1919-1940)

भारत शासन एक्ट, 1919 : मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर आधारित भारत शासन एक्ट, 1919 में इस बात को स्पष्ट कर देने का प्रयास किया गया था कि अंग्रेज शासक भारतीयों के जिम्मेदार सरकार के ध्येय की पूर्ति तक केवल धीरे धीरे पहुचने के आधार पर स्वशासी संस्थानों के क्रमिक विकास को मानने के लिए तैयार हैं। संवैधानिक प्रगति के प्रत्येक चरण के समय, ढग तथा गति का निर्धारण केवल ब्रिटिश ससद करेगी और यह भारत की जनता के किसी आत्म-निर्णय पर आधारित नहीं होगा।

1919 के एक्ट तथा उसके अधीन बनाए गए नियमों द्वारा तत्कालीन भारतीय संवैधनिक प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। केंद्रीय विधान परिषद का स्थान राज्य परिषद (उच्च सदन) तथा विधान सभा (निम्न सदन) वाले द्विसदनीय विधानमंडल ने ले लिया। हालांकि सदस्यों को नामजद करने की कुछ शक्ति बनाए रखी गई, फिर भी प्रत्येक सदन में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना अब जरूरी हो गया था।

सदस्यों का चुनाव एक्ट के अंतर्गत बनाए गए नियमों के अधीन सीमांकित निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाना था। मताधिकार का विस्तार कर दिया गया था। निर्वाचन के लिए विहित अर्हताओं में बहुत भिन्नता थी और वे सांप्रदायिक समूह, निवास और संपत्ति पर आधारित थीं।

द्वैधशासन : 1919 के एक्ट द्वारा आठ प्रमुख प्रांतों में, जिन्हें "गवर्नर के प्रांत" कहा जाता था, द्वैधशासन की एक नयी पद्धति शुरू की गई। प्रांतों में आंशिक रूप से जिम्मेदार सरकार

1. पृथक निर्वाचक मंडल (Separate Communal Electorates)

की स्थापना से पहले प्रारंभिक व्यवस्था के रूप में प्रांतीय सरकारों के कार्य-क्षेत्र का सीमांकन करना जरूरी था। तदनुसार एक्ट में उपबंध किया गया था कि प्रशासनिक विषयों का केंद्रीय तथा प्रांतीय के रूप में वर्गीकरण करने, प्रांतीय विषयों के संबंध में प्राधिकार स्थानीय शासनों को सौंपने, और राजस्व तथा अन्य धनराशियां उन सरकारों को आवंटित करने के लिए नियम बनाए जाए। विषयों का 'केंद्रीय' तथा 'प्रांतीय' के रूप में हस्तांतरण नियमों द्वारा विस्तृत वर्गीकरण किया गया।

1919 के एक्ट की खामियां : 1919 के एक्ट में अनेक खामियां थीं। इसने जिम्मेदार सरकार की मांग को पूरा नहीं किया। इसके अलावा, प्रांतीय विधानमंडल गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बगैर अनेक विषय-क्षेत्रों में विधेयकों पर बहस नही कर सकते थे। सिद्धात के रूप में, केंद्रीय विधानमडल संपूर्ण क्षेत्र के लिए कानून बनाने के वास्ते सर्वोच्च तथा सक्षम बना रहा। केंद्र तथा प्रांतों के बीच शक्तियो के बटवारे के बावजूद "पहले के अत्यधिक केंद्रीयकृत शासन" को सघीय शासन मे बदलने का सरकार का कोई इरादा मालूम नहीं पड़ा। ब्रिटिश भारत का संविधान एकात्मक राज्य का संविधान ही बना रहा।

प्रांतों में द्वैधशासन पूरी तरह से विफल रहा। गवर्नर का पूर्ण वर्चस्व कायम रहा। वित्तीय शक्ति के अभाव मे, मत्री अपनी नीति को प्रभावी रूप से कार्यान्वित नहीं कर सकते थे। इसके अलावा, मत्री विधानमडल के प्रति सामूहिक रूप से जिम्मेदार नही थे। वे केवल गवर्नर के व्यक्तिगत रूप से नियुक्त सलाहकार थे।

काग्रेस तथा भारतीय जनमत असतुष्ट रहा और उन्होंने दबाव डाला कि प्रशासन को अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधिक और उत्तरदायी बनाने के लिए सुधार किए जाए। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था और आम लोगों के मन में अनेक आशाएं थी। किंतु, उनके हाथ लगे दमनकारी विशेष विधायी प्रस्ताव जिन्हें रौलट बिल कहा गया। भारतीय जनमत का व्यापक और जबरदस्त विरोध होने पर भी उन्हे पास कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप, गाधी जी के नेतृत्व मे स्वराज के लिए सत्याग्रह, अहसयोग और खिलाफत आदोलन शुरू किए गए।

साइमन आयोग : 1919 के एक्ट के अधीन, एक्ट के कार्यकरण की जाच करने तथा उसके सबंध में रिपोर्ट देने और सुधार के लिए आगे और सिफारिशे करने के लिए, दस वर्ष बाद 1929 मे एक आयोग नियुक्त करने का उपबंध था। व्याप्त असंतोष को देखते हुए भारतीय संवैधानिक आयोग (साइमन कमीशन) 1927 मे अर्थात निर्धारित समय से दो वर्ष पहले ही नियुक्त कर दिया गया लेकिन क्योंकि इसमे सारे के सारे सदस्य अंग्रेज थे, इसलिए इससे भारतीय जनता की भावनाओं को और भी ठेस पहुची।

पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव : कांग्रेस धीरे धीरे पूर्ण स्वराज के अपने लक्ष्य की ओर बढ़ चुकी थी किंतु कलकत्ता अधिवेशन में यह निर्णय किया गया कि अंग्रेजों को एक वर्ष

के अंदर-अंदर डोमिनियन दर्जे की मांग को स्वीकार करने के लिए एक आखरी मौका दिया जाए। डोमिनियन दर्जे की मांग ठुकरा दिए जाने के बाद कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज के संबंध में एक प्रस्ताव पास किया गया। नमक-कर संबंधी कानून को तोड़ने.के आह्वान तथा समुद्र तक पहुंचने के लिए गांधी जी की डांडी यात्रा के साथ ही सविनय अवज्ञा आंदोलन आरभ हो गया।

गोलमेज सम्मेलन तथा श्वेतपत्र : अततः सरकार ने संवैधानिक सुधारों पर विचार करने के लिए नवंबर, 1930 मे लदन में एक गोलमेज सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया। इसके बाद ऐसे ही दो सम्मेलन और हुए

तीन गोलमेज सम्मेलनों के बाद, ब्रिटिश सरकार ने मार्च, 1933 मे एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया। उसमें एक नये संविधान की रूपरेखा दी गई थी। इस योजना में संघीय ढाचे तथा प्रांतीय स्वायत्तता के लिए उपबंध सम्मिलित थे। इसमें केंद्र में द्वैधशासन तथा प्रांतों मे जिम्मेदार सरकारो का प्रस्ताव किया गया था।

ब्रिटिश संसद ने श्वेतपत्र में सम्मिलित सरकार की योजना पर आगे विचार करने के लिए दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति का गठन किया। लार्ड लिनलिथगो सयुक्त समिति के अध्यक्ष थे और इसमें कंजर्वेटिव सदस्यो का बहुमत था। ब्रिटिश भारत तथा देसी रियासतों के प्रतिनिधियों को इस समिति के सामने गवाह के रूप में साक्ष्य देने के लिए आमत्रित किया गया था। सयुक्त समिति ने नवंबर, 1934 में अपनी रिपोर्ट दी। इसमें इस बात को दोहराया गया था कि फेडरेशन की स्थापना तभी की जाएगी यदि कम-से-कम 50 प्रतिशत देसी रियासतें इसमे शामिल होने के लिए तैयार हो जाए।

इस रिपोर्ट के आधार पर एक विधेयक तैयार किया गया और वह 19 दिसंबर, 1934 को ब्रिटिश ससद में पेश किया गया। जब दोनों सदनों ने उसे पास कर दिया तथा 4 अगस्त, 1935 को उसे सम्राट ने अपनी अनुमति दे दी तो वह भारत शासन एक्ट, 1935 बन गया।

भारत शासन एक्ट, 1935 : भारत शासन एक्ट, 1935 की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसमें ब्रिटिश प्रांतों तथा संघ में शामिल होने के लिए तैयार भारतीय रियासतों की एक "अखिल भारतीय फेडरेशन" की परिकल्पना की गई थी। 1930 के गोलमेज सम्मेलन तक भारत पूर्णतया एक एकात्मक राज्य था और प्रांतों के पास जो भी शक्तियां थीं, वे उन्हें केंद्र ने दी थीं। अर्थात, प्रांत केवल केंद्र के एजेंट थे। 1935 के एक्ट में पहली बार ऐसी संघीय प्रगाली का उपबंध किया गया जिसमें न केवल ब्रिटिश भारत के गवर्नरों के प्रांत बल्कि चीफ कमिश्नरो के प्रांत तथा देसी रियासतें भी शामिल हों। इसने उस एकात्मक प्रणाली की संकल्पना को अंततः भंग कर दिया जिसके अधीन अब तक ब्रिटिश भारत का प्रशासन होता था। 1919 के संविधान का सिद्धांत विकेंद्रीकरण का था, न कि फेडरेशन का। नये एक्ट के अधीन, प्रांतों को पहली बार विधि में अपने ढंग से कार्यपालक

तथा विधायी शक्तियों का प्रयोग करने वाली पृथक इकाइयों के रूप में मान्यता दी गई। प्रांत, सामान्य परिस्थितियों में, उस क्षेत्र में केंद्र के नियंत्रण से मुक्त हो गए थे।

इस एक्ट के अधीन बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया और उड़ीसा तथा सिंध के दो नये प्रांत बना दिए गए। केंद्र में प्रस्तावित योजना को ध्यान में रखते हुए, गवर्नरों के ग्यारह प्रांतों को, कतिपय विशिष्ट प्रयोजनों को छोड़कर, केंद्रीय सरकार तथा सेक्रेटरी आफ स्टेट की 'निगरानी, निर्देशन और नियंत्रण' से पूरी तरह 'मुक्त' कर दिया गया। दूसरे शब्दों में, प्रांतों को एक पृथक कानूनी व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया। एक्ट द्वारा परिकल्पित प्रांतीय स्वायत्तता की योजना में 'प्रत्येक प्रांत में एक कार्यपालिका तथा एक विधानमंडल का उपबंध रखा गया था।' प्रांतीय विधानमंडलों को अनेक नयी शक्तियां दी गईं। मंत्रिपरिषद को विधानमंडल के प्रति जिम्मेदार बना दिया गया और वह एक अविश्वास प्रस्ताव पास करके उसे पदच्युत कर सकता था। विधानमंडल प्रश्नों तथा अनुपूरक प्रश्नों के माध्यम से प्रशासन पर कुछ नियंत्रण रख सकता था। किंतु, विधानमंडल लगभग 80 प्रतिशत अनुदान-मांगों को स्वीकार या अस्वीकार नहीं कर सकता था। विधायी क्षेत्र में, विधानमंडल समवर्ती सूची में सम्मिलित विषयों पर भी कानून पास कर सकता था, किंतु टकराव होने की स्थिति मे संघीय कानून ही प्रभावी रहता।

भारत शासन एक्ट, 1935 के अधीन संवैधानिक योजना का संघीय भाग अत्यधिक अव्यावहारिक था। प्रांतों ने फेडरेशन की योजना को स्वीकार नहीं किया और क्योंकि आधी रियासतों के फेडरेशन में सम्मिलित होने की शर्त को पूरा नहीं किया जा सका, इसलिए 1935 के एक्ट में परिकल्पित "भारत संघ" (फेडरेशन आफ इंडिया) अस्तित्व में नहीं आ पाया और एक्ट के संघीय भाग को कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

भारत शासन एक्ट, 1935 के अधीन प्रांतीय विधानमंडलों के चुनाव फरवरी, 1937 में कराए गए। चुनावों में कांग्रेस की एक बार फिर जबरदस्त जीत हुई। कुल मिलाकर, कांग्रेस को 836 सामान्य स्थानों में से 715 स्थान प्राप्त हुए। मुस्लिम लीग मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर तथा मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों में भी बुरी तरह से पराजित हो गई। वस्तुतया यह 482 मुस्लिम स्थानों में से केवल 51 स्थान ही प्राप्त कर सकी

कांग्रेस को मद्रास, संयुक्त प्रांत, बिहार, मध्य प्रांत और उड़ीसा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया और यह बंबई में कुल स्थानों में से लगभग आधे स्थानों पर विजयी रही। असम तथा उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत में, यह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरकर सामने आई। पंजाब में, यूनियनिस्ट पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला। बंगाल तथा सिंध में अनेक छोटे छोटे ग्रुप बन गए।

भारत के संवैधानिक इतिहास में भारत शासन एक्ट, 1935 का एक बहुत महत्वपूर्ण तथा स्थायी स्थान है। इस एक्ट के द्वारा देश को एक लिखित संविधान देने का प्रयास

किया गया था। हालाकि भारत की जनता या उसके प्रतिनिधियो का इस दस्तावेज के निर्माण मे कोई हाथ नही था, और इसमे अनेक गभीर खामिया थी, फिर भी इस बात से इंकार नही किया जा सकता कि कुल मिलाकर तथा कई दृष्टियो से यह एक प्रगतिशील कदम था। सदियों के बाद, भारतीयो को अपने देश के प्रशासन को चलाने मे कुछ जिम्मेदारी सभालने का अवसर मिला था। प्रांतो मे निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा लोकप्रिय मंत्रिमंडल बनाए गए। वे विधानमडलो के प्रति उत्तरदायी थे। प्रधानमत्री (प्रीमियर) तथा मत्री (मिनिस्टर) जैसे शब्दो का पहली बार प्रयोग किया गया और प्रधानमत्री की प्राथमिकता को मान्यता दी गई। ऐसे अवसर भी आए, जब गवर्नरों तथा मंत्रियो के बीच मतभेद उत्पन्न हुए, किंतु कांग्रेस शासित प्रातो मे गवर्नर मोटे तौर पर मंत्रियों की शक्तियो तथा उनके उत्तरदायित्वों का सम्मान करते थे और दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे। मंत्रिगण भी अपने कर्तव्यो को बड़ी योग्यता, निष्पक्षता और निष्ठा की भावना के साथ निभाते थे। उसके लिए उन्हें प्रशंसा तथा सम्मान मिला। यहा तक कि अग्रेज प्रशासक भी भारतीय मंत्रियों द्वारा प्रदर्शित प्रशासनिक योग्यता तथा विलक्षणता से आश्चर्यचकित तथा प्रभावित हुए बिना न रह सके।

स्वाधीनता की ओर (1942-1947)

जन-निर्वाचित मंत्रिमडल केवल दो वर्ष के लिए अस्तित्व में रहे। भारतीय विधानमंडलों से परामर्श किए बगैर भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में सहयोगी बना दिया गया। इसके विरोध में सभी काग्रेस मत्रिमंडलों ने 1939 में इस्तीफे दे दिए। 1940 में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया।

क्रिप्स मिशन : जिस समय द्वितीय विश्वयुद्ध एक निर्णायक दौर से गुजर रहा था उस समय यह अनुभव किया गया कि भारतीय जनमत का स्वेच्छा से दिया गया सहयोग अधिक मूल्यवान होगा। तदनुसार, मार्च, 1942 में कैबिनेट मंत्री, सर स्टेफोर्ड क्रिप्स को भारत भेजा गया। किंतु क्रिप्स मिशन अपने उद्देश्य में विफल रहा। उसके प्रस्तावों को सभी राजनीतिक दलों ने ठुकरा दिया। भले ही उनके आधार अलग अलग थे। प्रस्तावों में मान लिया गया था कि भारत का दर्जा डोमिनियन का होगा और युद्ध के बाद भारतीयों को अधिकार होगा कि वे अपनी संविधान सभा में अपने लिए संविधान बना सकें। किंतु उनके अंतर्गत प्रांतों को नये संविधान को स्वीकार करने या न करने की छूट दे दी गई थी। मुस्लिम लीग ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया क्योंकि देश का सांप्रदायिक आधार पर विभाजन करने की उसकी मांग को नामंजूर कर दिया गया था। इधर कांग्रेस ने उन्हें इसलिए नामजूर कर दिया क्योंकि उनमें भारत को छोटे छोटे टुकड़ों में बांटने की संभावनाओं के लिए द्वार खोल दिया गया था और युद्ध के दौरान भारतीय प्रतिनिधियों को वास्तव में प्रभावी

सत्ता का हस्तातरण करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। गाधी जी ने इन प्रस्तावों की "बाद की तारीख का चैक" कह कर निदा की।

भारत छोड़ो आंदोलन : जुलाई, 1942 मे वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमे मांग की गई थी कि अग्रेज भारत छोड़कर चले जाए। 8 अगस्त, 1942 को बबई मे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। कमेटी के समक्ष भाषण देते हुए गांधी जी ने घोषणा की कि यह "करो या मरो" का निर्णय है। काग्रेसी नेनाओ को गिरफ्तार कर लिया गया और उसके फलस्वरूप देशव्यापी आदोलन हुआ।

वेवल योजना : इसी दौरान लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वेवल वाइसराय बन गए। वेवल योजना मे कहा गया था कि जब तक भारतीय स्वयं अपना संविधान नहीं बना लेते तब तक अतरिम व्यवस्था के रूप मे अधिशासी परिषद[1] का भारतीयकरण कर दिया जाएगा और उसमे भारतीय राजनेताओं को, मुसलमानों तथा सवर्ण हिदुओ के बीच समानता के आधार पर सम्मिलित किया जाएगा तथा उसमें दलित वर्गों तथा सिखो का एक एक प्रतिनिधि होगा। परिषद मे जो एकमात्र अभारतीय शामिल किए जाने थे, वे थे वाइसराय तथा कमांडर-इन-चीफ। युद्ध विभाग कमांडर-इन-चीफ के पास ही बना रहना था किंतु विदेश विभाग का प्रभारी किसी भारतीय सदस्य को बनाया जाना था।

शिमला सम्मेलन : वाइसराय ने शिमला में भारतीय नेताओ का एक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन 25 जून से 14 जुलाई, 1945 तक चला। लेकिन वार्ता विफल हो गई क्योंकि जहा कांग्रेस ने एक अखड भारत के लिए आग्रह किया वहां मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लिए अपनी माग पर अड़ी रही।

चुनाव तथा कैबिनेट मिशन : भारत में केंद्रीय विधान सभा के चुनाव, जो बहुत पहले हो जाने चाहिए थे, अंततः 1945 की अंतिम तिमाही में कराए गए। प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव अप्रैल, 1946 तक पूरे हो गए। काग्रेस ने भारत छोड़ो प्रस्ताव को मुद्दा बनाकर और मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को मुद्दा बनाकर चुनाव लड़ा। नतीजे से पता चला कि कांग्रेस को आठ प्रातो (असम, बिहार, बंबई, मध्य प्रांत, मद्रास, उत्तर पश्चिम सीमांत प्रांत, उड़ीसा और संयुक्त प्रांत) में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया था। शेष तीन प्रांतों में, कांग्रेस दूसरी सबसे बडी पार्टी थी। काग्रेस को केंद्रीय विधान सभा मे भी निर्वाचित स्थानों पर (102 में से 56 पर) विजय प्राप्त हुई। किंतु, जहा सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे कांग्रेस सफलताओं का रिकार्ड अत्यधिक प्रभावी रहा और वस्तुतया 1937 के परिणामो के मुकाबले पार्टी की स्थिति में सुधार हो गया वहा आरक्षित मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रो मे उसकी स्थिति बहुत खराब रही।

---

1. अधिशासी परिषद (Executive Council)

जिस समय भारत में प्रांतीय विधान सभाओ के चुनाव हो रहे थे, उस समय 19 फरवरी, 1945 को लार्ड पैथिक लारेंस ने पार्लियामेंट में घोषणा की कि कैबिनेट मंत्रियों का एक विशेष मिशन, जिसमें विदेश मंत्री, व्यापारमंडल के अध्यक्ष (स्टेफोर्ड क्रिप्स) और फर्स्ट लार्ड आफ एडमिरेल्टी (ए.बी. एलेक्जेंडर) सम्मिलित होंगे, वाइसराय के साथ मिलकर कार्य करने के लिए भारत जाएगा। मिशन मार्च, 1946 से मई, 1946 तक भारत में रहा।

पाकिस्तान को एक पृथक प्रभुतासंपन्न राज्य बनाए जाने की मांग को मिशन ने 'अव्यवहार्य' कहा और उसे अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसके अनुसार पाकिस्तान में काफी बड़ी तादाद में गैर मुस्लिम लोग होंगे और मुसलमानों की बहुत बड़ी आबादी पाकिस्तान से बाहर भारत में रह जाएगी।

कैबिनेट मिशन ने कांग्रेस के असंगठित फेडरेशन की योजना को भी इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उसमें संवैधानिक असुविधाएं तथा विसंगतियां थीं। उसने त्रितलीय ढांचे[1] की सिफारिश की जिसमें भारत संघ को सबसे ऊपर, प्रांतों के समूहों को बीच में और प्रांतों तथा देसी रियासतों को सबसे नीचे रखा गया था।

कैबिनेट मिशन ने सिफारिश की कि संविधान का मूल रूप इस प्रकार होना चाहिए :

1. एक भारत संघ का गठन हो जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें दोनो शामिल हों तथा जो निम्नलिखित विषयों के सबंध में कार्यवाही करे . विदेश-कार्य, रक्षा और संचार, और उसके पास उपर्युक्त विषयो के लिए अपेक्षित धन जुटाने की आवश्यक शक्तिया होनी चाहिए।
2. संघ की एक कार्यपालिका तथा विधायिका हो जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देसी रियासतों के प्रतिनिधि हों। विधानमंडल में यदि किसी प्रमुख साप्रदायिक विषय को उठाने वाला प्रश्न हो तो उसका निपटान दोनों प्रमुख संप्रदायों मे से प्रत्येक के उपस्थित तथा मतदान करने वाले प्रतिनिधियों के बहुमत से एवं उपस्थित तथा मतदान करने वाले सभी सदस्यों के बहुमत से किया जाना चाहिए।
3. संघ से संबंधित विषयों से इतर सभी विषय तथा सभी अविशिष्ट अधिकार प्रांतों में निहित होने चाहिए।
4. संघ को सौंपे गए विषयों तथा अधिकारो से इतर सभी विषय तथा अधिकार राज्यो के पास रहेंगे।
5. प्रांतों को कार्यपालिका तथा विधायिका के साथ समूह बनाने की छूट होनी चाहिए, और प्रत्येक समूह सर्वसामान्य प्रांतीय विषयों का निर्धारण कर सकता है।
6. संघ तथा समूहों के संविधानों में एक ऐसा उपबंध होना चाहिए जिसके द्वारा कोई भी प्रांत अपनी विधान सभा के बहुमत से 10 वर्ष की प्रारंभिक अवधि के बाद और

---
1. त्रितलीय ढांचा (Three Tier Structure)

उसके पश्चात प्रत्येक दस वर्ष के अतराल पर सविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने के लिए कह सके।

इन सुझावों को देते समय कैबिनेट मिशन ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि इसका उद्देश्य किसी संविधान का विवरण निर्धारित करना नहीं है बल्कि उस तत्र को सक्रिय बनाना है जिसके द्वारा भारतीयो द्वारा भारतीयो के लिए सविधान तय किया जा सके। यह सिफारिश करना जरूरी हो गया क्योंकि कैबिनेट मिशन को विश्वास हो गया था कि जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक "दोनों प्रमुख समुदायों को संविधान-निर्माण के तत्र की स्थापना मे शामिल करने की आशा नहीं की जा सकती थी।"

अंतरिम सरकार : प्रथम अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की घोषणा 24 अगस्त, 1946 को की गई। इसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डा. राजेन्द्र प्रसाद, आसफ अली, शरतचन्द्र बोस, डा जॉन मथाई, सर शफात अहमद खा, जगजीवन राम, सरदार बलदेव सिह, सैयद अली जहीर, सी. राजगोपालाचारी और डा सी एच. भाभा शामिल थे। कानूनी तौर पर वे सब वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य थे और वाइसराय परिषद का अध्यक्ष था। कितु, पंडित नेहरू को परिषद का उपाध्यक्ष बनाया गया था। उन्होंने तथा उनके ग्यारह सहयोगियो ने 2 सितबर, 1946 को पद की शपथ ग्रहण की। इस समूह मे तीन मुसलमान थे। मुस्लिम लीग के बाद मे शामिल होने के लिए द्वार खुला रखा गया था।

अक्तूबर के अत तक, वाइसराय लीग को सरकार मे लाने के प्रयास मे किसी-न-किसी प्रकार सफल हो गए। 26 अक्तूबर को सरकार का पुनर्गठन किया गया। आरंभ मे लिए गए तीन सदस्यो—सैयद अली जहीर, शरतचन्द्र बोस और सर शफात अहमद खा को परिषद से हटा दिया गया और मुस्लिम लीग के पाच प्रतिनिधियो को उसमे शामिल कर लिया गया। इस प्रकार लीग सरकार मे हिस्सेदार बन गई।

माउंटबेटन योजना : मार्च, 1917 मे लार्ड लुई माउटबेटन को सत्ता के निर्बाध हस्तातरण की व्यवस्था करने के लिए नये वाइसराय के रूप मे भेजा गया। वे 22 मार्च, 1947 को भारत पहुचे। जल्दी ही वे इस दृढ निष्कर्ष पर पहुच गए कि कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के लिए न तो अंतरिम सरकार मे और न ही संविधान सभा मे एक साथ मिलकर काम करना सभव होगा और इसलिए इससे पहले, कि सांप्रदायिक हिसा और अधिक भयंकर रूप धारण कर ले, इस पागलपन से बचने का एकमात्र रास्ता यही है कि जल्दी-से-जल्दी सत्ता भारतीयो के हाथों में दे दी जाए। यह बात पहले ही स्पष्ट होती जा रही थी कि देश का विभाजन टाला नही जा सकता और जबरदस्त उथल-पुथल, अराजकता और गृहयुद्ध से बचने का यही एकमात्र विकल्प है। कांग्रेस भी धीरे धीरे इस नतीजे पर पहुंचने लगी

थी कि देश का विभाजन अवश्यंभावी है। तदनुसार उन्होंने इस कार्य के लिए 15 अगस्त, 1947 का दिन नियत किया।

माउंटबेटन ने विभाजन की योजना तैयार की और ब्रिटेन मे विरोधी दलों के नेताओं से विचार-विमर्श करने के बाद, 3 जून, 1947 को एक नया नीति विषयक बयान जारी किया गया जिसमें माउंटबेटन योजना को स्पष्ट रूप से समझाया गया था। इस बयान में सम्मिलित योजना के अतर्गत देश के विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया था। इस बयान के अनुसार वर्तमान संविधान सभा द्वारा बनाए गए संविधान को अनिच्छुक क्षेत्रों पर थोपा नहीं जा सकता था। अतः ऐसे क्षेत्रों की इच्छाओं का पता लगाने के लिए कि क्या वे पृथक संविधान सभा चाहते हैं, एक प्रक्रिया निर्धारित की गई। इस समूची योजना का वास्तविक परिणाम तथा प्रभाव यही होना था कि भारत का विभाजन भारत तथा पाकिस्तान के रूप में कर दिया जाए।

भारतीय स्वतंत्रता एक्ट, 1947

माउटबेटन की योजना के आधार पर, ब्रिटिश ससद ने भारतीय स्वतत्रता विधेयक, 1947 पारित किया :

1. इसमें दो डोमिनियनो की स्थापना के लिए 15 अगस्त, 1947 की तारीख निर्धारित की गई;
2. इसमें भारत का क्षेत्रीय विभाजन भारत तथा पाकिस्तान के रूप में करने तथा बंगाल तथा पजाब मे दो दो प्रांत बनाए जाने का प्रस्ताव किया गया। पाकिस्तान को मिलने वाले क्षेत्रों को छोडकर, ब्रिटिश भारत में सम्मिलित सभी प्रात भारत में सम्मिलित माने गए;
3 पूर्वी बगाल, पश्चिमी बंगाल, सिध और असम का सिल्हट जिला पाकिस्तान मे सम्मिलित होना था;
4. भारत में महामहिम की सरकार[1] का उत्तरदायित्व तथा भारतीय रियासतो पर महामहिम का अधिराजस्व 15 अगस्त, 1947 को समाप्त हो जाएगा;
5. भारतीय रियासतें इन दोनो में से किसी भी डोमिनियन में शामिल हो सकती थी;
6. प्रत्येक डोमिनियन के लिए एक पृथक गवर्नर जनरल होगा और उसे महामहिम द्वारा नियुक्त किया जाएगा जो डोमिनियन की सरकार के प्रयोजनों के लिए महामहिम का प्रतिनिधित्व करेगा,
7. प्रत्येक डोमिनियन के लिए एक पृथक विधानमंडल होगा जिसे विधियां बनाने का पूरा प्राधिकार होगा तथा ब्रिटिश संसद उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी;

---

1 महामहिम की सरकार (His Majesty's Government)

8. डोमिनियनों की सरकार के लिए अस्थायी उपबंध के द्वारा दोनों संविधान सभाओं को संसद का दर्जा तथा डोमिनियन विधानमंडल की पूर्ण शक्तिया प्रदान की गई;
9. इसमे गवर्नर जनरल को एक्ट के प्रभावी प्रवर्तन के लिए ऐसी व्यवस्था करने हेतु, जो उसे आवश्यक तथा समीचीन प्रतीत हो, अस्थायी आदेश जारी करने का प्राधिकार दिया गया,
10. अंतत., इसमें सेक्रेटरी आफ स्टेट की सेवाओं तथा भारतीय सशस्त्र बल, ब्रिटिश स्थल सेना, नौसेना और वायुसेना पर महामहिम की सरकार का अधिकारक्षेत्र अथवा प्राधिकार जारी रहने की शर्तें निर्दिष्ट की गई थी।

भारतीय स्वतंत्रता एक्ट के अनुसार, 14-15 अगस्त को भारत तथा पाकिस्तान की दो डोमिनियनो का गठन हो गया।

3

संविधान का निर्माण

संविधान सभा

किसी प्रभुता संपन्न लोकतांत्रिक राष्ट्र की संविधान-रचना का कार्य सामान्यतया उसकी जनता के प्रतिनिधि-निकाय द्वारा किया जाता है। संविधान पर विचार करने तथा उसे अंगीकार करने के लिए जनता द्वारा चुने गए इस प्रकार के निकाय को सविधान सभा कहा जा सकता है।

संविधान सभा की सकल्पना भारत मे सदैव राष्ट्रीय आदोलन के विकास के साथ जुडी रही है। ऐसी संविधान सभा का विचार, जिसके द्वारा भारतीय स्वय अपने देश के लिए सविधान का निर्माण कर सके, 1919 के एक्ट के विरोध में अतर्निहित था। किंतु, भारत की सविधान सभा का निश्चित उल्लेख, भले ही वह इन शब्दों में या इस नाम विशेष से न हो, पहली बार भारत शासन एक्ट, 1919 के लागू होने के ठीक बाद 1922 मे महात्मा गांधी ने किया था।

1922 मे ही, श्रीमती एनी बेसेंट की पहल पर केद्रीय विधानमडल के दोनों सदनो के सदस्यो की एक सयुक्त बैठक शिमला मे आयोजित की गई थी। उसने सविधान के निर्माण के लिए एक सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया। इसके अलावा, फरवरी, 1923 मे दिल्ली में एक अन्य सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमें केद्रीय तथा प्रांतीय विधानमंडलों के सदस्यो ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन ने भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की स्वशासी डोमिनियनों के समतुल्य रखते हुए संविधान के आवश्यक तत्वो की रूपरेखा प्रस्तुत की। 21 अप्रैल को सर तेज बहादुर सप्रू की अध्यक्षता मे एक 'राष्ट्रीय सम्मेलन' बुलाया गया। इस सम्मेलन ने 'कामनवेल्थ आफ इडिया बिल' का प्रारूप तैयार किया। प्रारूप बिल, थोडे से सशोधित रूप मे जनवरी, 1925 में दिल्ली में हुए सर्वदलीय सम्मेलन के समक्ष पेश किया गया। उसकी अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की थी। अंततः बिल प्रारूप-समिति को सौंप दिया गया। समिति ने बिल को प्रकाशित किया। इसके बाद, बिल ब्रिटेन में लेबर पार्टी के एक प्रभावशाली सदस्य के पास भेज दिया गया। उसके साथ विभिन्न राजनीतिक

दलों के 43 नेताओं के हस्ताक्षरों से युक्त एक ज्ञापन लगाया गया था। लेबर पार्टी में इसे व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और थोड़े से रूपभेद के साथ इसे पार्टी के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। हाउस आफ कामंस में बिल पेश होने के बाद इसकी पहली रीडिंग हुई। हालांकि लेबर पार्टी की सरकार की पराजय के बाद इस विधेयक का भविष्य अधर में लटक गया, फिर भी यह भारतीयों द्वारा शांतिपूर्ण तथा संवैधानिक साधनों की मदद से भारत के लिए एक संवैधानिक प्रणाली की रूपरेखा प्रस्तुत करने का एक प्रमुख प्रयास था।

1924 तथा 1925 में राष्ट्रीय माग के संबंध में मोतीलाल नेहरू के प्रसिद्ध प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना एक ऐतिहासिक घटना थी क्योंकि केंद्रीय विधानमंडल ने पहली बार इस बढ़ती हुई मांग का समर्थन किया कि भारत का भावी संविधान भारतीयों द्वारा स्वयं बनाया जाना चाहिए।

नवंबर, 1927 में, जब साइमन आयोग नियुक्त किया गया, जिसमें कोई भी भारतीय प्रतिनिधि नहीं था, इलाहाबाद मे हुई एक सर्वदलीय बैठक में कहा गया था कि ऐसा करके न केवल 'राष्ट्रीय मांग' को वस्तुतया ठुकरा दिया गया है बल्कि यह भारतीयों का जानबूझकर अपमान करने के बराबर है, क्योंकि इसने न केवल "उनकी स्थिति को निकृष्ट बना दिया है" बल्कि उन्हें "अपने ही देश के संविधान के निर्माण में भाग लेने के अधिकार से भी वंचित कर दिया है।"

इससे पहले 17 मई, 1927 को, कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में मोतीलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव पेश किया था। उसमें कांग्रेस कार्यकारिणी समिति से केंद्रीय तथा प्रांतीय विधानमडलों के निर्वाचित सदस्यों तथा राजनीतिक दलों के नेताओं के परामर्श से भारत के लिए एक संविधान का निर्माण करने का आह्वान किया गया था। यह प्रस्ताव कुछ संशोधनों के साथ भारी बहुमत से स्वीकार किया गया था। बाद में, स्वराज संविधान के संबंध में इसी प्रस्ताव को जवाहरलाल नेहरू ने 28 दिसबर, 1927 को कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में परिवर्तित रूप में पेश किया और प्रस्ताव पुनः पारित हुआ। 19 मई, 1928 को बंबई में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन ने "भारत के संविधान के सिद्धांत निर्धारित करने के लिए" मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में एक समिति नियुक्त की। 10 अगस्त, 1928 को पेश की गई समिति की रिपोर्ट नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह भारतीयों द्वारा अपने देश के लिए सर्वांगपूर्ण संविधान बनाए जाने का प्रथम प्रयास था। कूपलैंड ने इसके बारे में कहा है कि वह "न केवल इस चुनौती का जवाब है कि भारतीय राष्ट्रवाद रचनात्मक नहीं है बल्कि भारतीयों द्वारा सांप्रदायिकता की चुनौतियों का ईमानदारी से मुकाबला करने के लिए किया गया एक सच्चा प्रयास" है। रिपोर्ट में न केवल समकालीन राष्ट्रवादी विचारधारा का दृष्टिकोण परिलक्षित होता था बल्कि भारत के संविधान के प्रारूप की एक रूपरेखा

भी समाविष्ट थी। भारत के संविधान का प्रारूप डोमिनियन के सिद्धात पर आधारित था। उसमें ससदीय प्रतिरूप के अनुसार पूर्णरूपेण उत्तरदायी सरकार का उपबंध था। इसमें इस सिद्धांत का दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया गया था कि प्रभुसत्ता भारतीय जनता में वास करती है। इसमें कुछ मूल अधिकारो की व्यवस्था रखी गई थी तथा एक ऐसी संघीय प्रणाली का उपबंध किया गया था जिसमें इकाइयो को अधिक से अधिक स्वायत्तता दी गई थी किंतु अवशिष्ट शक्तिया केंद्रीय सरकार में निहित की गई थीं। इसके अलावा, इसमें सघीय निम्न सदन तथा प्रातीय विधानमंडलो के चुनावो के लिए सयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों का उपबध किया गया था तथा कतिपय मामलों में अल्पसख्यको के लिए एक सीमित अवधि के लिए स्थान आरक्षित किए गए थे।

ध्यान देने की बात है कि ससद के प्रति उत्तरदायी सरकार, अदालतों द्वारा लागू कराए जा सकने वाले मूल अधिकार, अल्पसख्यको के अधिकार सहित मोटे तौर पर जिस ससदीय व्यवस्था की संकल्पना 1928 की नेहरू रिपोर्ट मे की गई थी। उसे लगभग ज्यों-का-त्यो 21 वर्ष बाद, 26 नवबर, 1949 को सविधान सभा द्वारा अगीकार किए गए स्वाधीन भारत के संविधान में समाविष्ट किया गया।

तीसरे गोलमेज सम्मेलन के बाद जारी किए गए श्वेतपत्र मे भारत मे सवैधानिक सुधारो के लिए ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावो की रूपरेखा दी गई थी। इन प्रस्तावो पर विचार करने वाली सयुक्त संसदीय समिति का मत था कि "फिलहाल भारत मे प्राधिकारियो को विशिष्ट सविधायी शक्ति प्रदान करने का प्रस्ताव व्यवहार्य नही है।"

जून, 1934 मे, काग्रेस कार्यकारिणी ने घोषणा की कि श्वेतपत्र का एकमात्र विकल्प यह है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित सविधान सभा द्वारा एक सविधान तैयार किया जाए। यह पहला अवसर था जब सविधान सभा के लिए औपचारिक रूप मे एक निश्चित माग पेश की गई थी। अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी ने 5-7 दिसबर, 1934 को पटना मे हुई अपनी बैठक मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके द्वारा सयुक्त ससदीय समिति (1933-34) की रिपोर्ट मे अनुशसित भारतीय सवैधानिक सुधार की योजना को ठुकरा दिया गया तथा इस मत को दोहराया गया कि इस योजना का एकमात्र विकल्प यही है कि सविधान सभा एक सविधान तैयार करे।

साइमन आयोग तथा गोलमेज सम्मेलन की जिस विफलता के कारण, भारतीय आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए, भारत शासन एक्ट, 1935 बनाया गया, उसने भारत की जनता के लिए सविधान सभा की माग को बल प्रदान किया। काग्रेस ने अप्रैल, 1936 मे अपने लखनऊ अधिवेशन मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया। उसमे उसने घोषणा की कि किसी बाहरी सत्ता द्वारा थोपा गया कोई भी सविधान भारत स्वीकार नही करेगा। सविधान भारत की जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित भारतीय सविधान सभा

द्वारा बनाया जाना चाहिए।

चूकि काग्रेस ने 1935 के एक्ट को पूरी तरह से ठुकरा देने तथा नयी सविधान सभा की माग के मुद्दों पर प्रातीय विधानमडलो के चुनाव लड़े थे, अत· चुनावों में भारी विजय के बाद इसने 18 मार्च, 1937 को दिल्ली मे एक प्रस्ताव पारित कर दावा किया कि निर्वाचकों ने संविधान सभा की माग का अनुमोदन कर दिया है। प्रस्ताव मे "वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान सभा के माध्यम से राष्ट्रीय स्वतंत्रता पर आधारित सविधान" बनाने की माग की गई थी। इस माग को मार्च, 1937 में दिल्ली में हुए काग्रेसी विधायको के अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन में दृढता के साथ दोहराया गया। अगस्त-अक्तूबर, 1937 के दौरान, केंद्रीय विधान सभा तथा कांग्रेस शासित प्रत्येक प्रात की प्रानीय विधान सभाओ ने ऐसे ही प्रस्ताव पास किए। इनमें स्वतंत्र भारत के लिए एक नया संविधान बनाने के वास्ते संविधान सभा का गठन करने की कांग्रेस की मांग को दोहराया गया था।

1939 में विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद, संविधान सभा की मांग को 14 सितंबर, 1939 को काग्रेस कार्यकारिणी द्वारा जारी किए गए एक लबे वक्तव्य मे दोहराया गया।

गांधी जी ने 19 नवबर, 1939 को 'हरिजन' मे 'द ओनली वे' शीर्षक के अंतर्गत एक लेख लिखा जिसमे उन्होने विचार व्यक्त किया कि "संविधान सभा ही देश की देशज प्रकृति का और लोकेच्छा का सही अर्थो मे तथा पूरी तरह से निरूपण करने वाला संविधान बना सकती है।" उन्होने घोषणा की कि सांप्रदायिक तथा अन्य समस्याओ के न्यायसंगत हल का एकमात्र तरीका भी संविधान सभा ही है।

1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' में ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को पहली बार आधिकारिक रूप से स्वीकार किया, भले ही स्वीकृति अप्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण शर्तो के साथ थी।

क्रिप्स प्रस्तावो के द्वारा 'अगस्त प्रस्ताव' में उल्लेखनीय सुधार किए गए। इन प्रस्तावो के अनुसार नये संविधान के निर्माण का काम अब पूर्णतया न कि 'प्राथमिक रूप से' भारतीय हाथो से होना था और ब्रिटिश सरकार ने स्पष्ट वचन दिया कि वह प्रस्तावित संविधान-निर्माण-निकाय द्वारा बनाए गए संविधान को स्वीकार करेगी। क्रिप्स मिशन की विफलता के बाद, मई, 1945 में यूरोप मे युद्ध की समाप्ति तक भारत की संवैधानिक समस्या के समाधान के लिए कोई कदम नही उठाया गया।

जुलाई, 1945 मे, इग्लैड मे नयी लेबर सरकार सत्ता मे आई। तब 19 सितबर, 1945 को वाइसराय लार्ड वेवल ने भारत के सबध मे सरकार की नीति की घोषणा की तथा 'यथाशीघ्र' संविधान-निर्माण-निकाय का गठन करने के लिए महामहिम की सरकार के इरादे की पुष्टि की।

कैबिनेट मिशन ने अनुभव किया कि संविधान-निर्माण-निकाय का गठन करने की सर्वाधिक संतोषजनक विधि यह होती कि उसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव के द्वारा किया जाता, किंतु ऐसा करने पर नये संविधान के निर्माण में 'अवांछनीय विलंब' हो जाता। इसलिए, उनके अनुसार 'एकमात्र व्यवहार्य तरीका' यही था कि हाल में निर्वाचित प्रांतीय विधान सभाओं का उपयोग निर्वाचक निकायों के रूप में किया जाए। तत्कालीन परिस्थितियों में मिशन ने इसे, 'सर्वाधिक न्यायोचित तथा व्यवहार्य योजना' बताया और सिफारिश की कि संविधान-निर्माण-निकाय में प्रांतों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर हो। मोटे तौर पर दस लाख लोगों के पीछे एक सदस्य चुना जाए और विभिन्न प्रांतों को आवंटित स्थान इस प्रयोजन के लिए वर्गीकृत मुख्य समुदायों यथा सिखों, मुसलमानों और सामान्य लोगों में (सिखों तथा मुसलमानों को छोड़कर) उनकी जनसंख्या के आधार पर विभाजित कर दिए जाएं। प्रत्येक समुदाय के प्रतिनिधि प्रातीय विधानसभा मे उस समुदाय के सदस्यो द्वारा चुने जाने थे और मतदान एकल संक्रमणीय मत सहित अनुपाती प्रतिनिधित्व की विधि द्वारा कराया जाना था। भारतीय रियासतों के लिए आवंटित सदस्यो की संख्या भी जनसख्या के उसी आधार पर निर्धारित की जानी थी जो ब्रिटिश भारत के लिए अपनाया गया था, किंतु उनके चयन की विधि बाद में परामर्श द्वारा तय की जानी थी। संविधान- निर्माण-निकाय की सदस्य संख्या 385 निर्धारित की गई (जिनमें से 292 प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के गवर्नरों के अधीन ग्यारह प्रांतों से तथा 93 प्रतिनिधि भारतीय रियासतों से लिए जाने थे)। इनमें चीफ कमिश्नरों के चार प्रांतों अर्थात दिल्ली, अजमेर-मारवाड़, कुर्ग, और ब्रिटिश बलूचिस्तान से एक एक प्रतिनिधि शामिल किया जाना था।

कैबिनेट मिशन ने संविधान के लिए एक बुनियादी ढांचे का प्रारूप पेश किया तथा संविधान-निर्माण-निकाय द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का कुछ विस्तार के साथ निर्धारण किया।

ब्रिटिश भारत के प्रांतों को आवंटित 296 स्थानों के लिए चुनाव जुलाई-अगस्त, 1946 तक पूरे कर लिए गए थे। कांग्रेस को 208 स्थानों पर, जिनमें नौ को छोड़कर शेष सभी सामान्य स्थान शामिल थे, विजय प्राप्त हुई और मुस्लिम लीग को मुसलमानों को आवंटित स्थानों मे से पांच स्थानों को छोड़कर शेष 73 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई।

ब्रिटिश भारत की विधान सभाओं से चुने गए सदस्यों का पार्टीवार ब्यौरा इस प्रकार था :

काग्रेस	208
मुस्लिम लीग	73
यूनियनिस्ट	1

यूनियनिस्ट मुस्लिम	1
यूनियनिस्ट अनुसूचित जातिया	1
कृषक प्रजा	1
अनुसूचित जाति परिसघ	1
सिख (गैर-कांग्रेसी)	1
कम्युनिस्ट	1
स्वतत्र	8
	296

कहा जा सकता है कि 14-15 अगस्त, 1947 को देश के विभाजन तथा उसकी स्वतत्रता के साथ ही, भारत की संविधान सभा कैबिनेट मिशन योजना के बधनो से मुक्त हो गई और एक पूर्णतया प्रभुसत्ता सपन्न निकाय तथा देश मे ब्रिटिश ससद के पूर्ण प्राधिकार तथा उसकी सत्ता की पूर्ण उत्तराधिकारी बन गई। इसके अलावा, 3 जून की योजना की स्वीकृति के बाद, भारतीय डोमिनियन के मुस्लिम लीग पार्टी के सदस्यो ने भी विधान सभा मे अपने स्थान ग्रहण कर लिए। कुछ भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि पहले ही 28 अप्रैल, 1947 को विधान सभा मे आ चुके थे। 15 अगस्त, 1947 तक अधिकाश रियासतो के प्रतिनिधि विधान सभा मे आ गए और शेष रियासतो ने भी यथासमय अपने प्रतिनिधि भेज दिए।

इस प्रकार, सविधान सभा भारत मे सभी रियासतों तथा प्रांतो की प्रतिनिधि तथा किसी भी बाहरी शक्ति के आधिपत्य से मुक्त पूर्ण प्रभुत्व संपन्न निकाय बन गई। सविधान सभा भारत में लागू ब्रिटिश ससद द्वारा बनाए गए किसी भी कानून को, यहा तक कि भारतीय स्वतत्रता एक्ट को भी रद्द कर सकती थी या परिवर्तित कर सकती थी।

संविधान सभा का विधिवत उद्घाटन नियत दिन सोमवार, 9 दिसबर, 1946 को प्रात. ग्यारह बजे हुआ।

सविधान सभा का सत्र कुछ दिन चलने के बाद, नेहरू जी ने 13 दिसबर, 1946 को ऐतिहासिक उद्देश्य-प्रस्ताव पेश किया। सुदर शब्दों में तैयार किए गए उद्देश्य-प्रस्ताव के प्रारूप मे भारत के भावी प्रभुता सपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य की रूपरेखा दी गई थी। इस प्रस्ताव मे एक संघीय राज्य व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी, जिसमें अवशिष्ट शक्तिया स्वायत्त इकाइयो के पास होतीं और प्रभुता जनता के हाथो मे। सभी नागरिकों को 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, न्याय, परिस्थिति की, अवसर की और कानून के समक्ष समानता, विचारधारा, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था, पूजा, व्यवसाय, संगम और कार्य की स्वतंत्रता' की गारटी दी गई और इसके साथ ही 'अल्पसख्यको, पिछड़े तथा जनजातीय क्षेत्रो तथा दलितों और अन्य पिछडे वर्गों के लिए' पर्याप्त 'रक्षोपाय' रखे गए।

इस प्रकार, इस प्रस्ताव ने संविधान सभा को इसके मार्गदर्शी सिद्धांत तथा दर्शन दिए जिनके आधार पर इसे सविधान निर्माण का कार्य करना था। अंतत , 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

संविधान की रचना

संविधान सभा ने सविधान रचना की समस्या के विभिन्न पहलुओ से निपटने के लिए अनेक समितिया नियुक्त की। इनमे संघीय संविधान समिति, सघीय शक्ति समिति, मूल अधिकारों और अल्पसख्यको आदि से सबधित समितियां शामिल थी। इनमें से कुछ समितियो के अध्यक्ष नेहरू या पटेल थे, जिन्हें संविधान सभा के अध्यक्ष ने संविधान के मूल आधार तैयार करने का श्रेय दिया था। इन समितियो ने बडे परिश्रम के साथ तथा सुनियोजित ढंग से कार्य किया और अनमोल रिपोर्टे पेश कीं। संविधान सभा ने तीसरे तथा छठे सत्रो के बीच, मूल अधिकारों, सघीय संविधान, सघीय शक्तियो, प्रातीय संविधान, अल्पसख्यकों तथा अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जातियों से सबंधित समितियों की रिपोर्टो पर विचार किया। अन्य समितियो की सिफारिशो पर बाद मे प्रारूपण समिति द्वारा विचार किया गया।

भारत के सविधान का पहला प्रारूप संविधान सभा कार्यालय की मत्रणा-शाखा ने अक्तूबर, 1947 मे तैयार किया। इस प्रारूप की तैयारी से पहले, बहुत सारी आधार-सामग्री एकत्र की गई तथा संविधान सभा के सदस्यों को 'सवैधानिक पूर्वदृष्टात' के नाम से तीन संकलनों के रूप में उपलब्ध की गई। इन संकलनों मे लगभग 60 देशो के सविधानो से मुख्य अंश उद्धृत किए गए थे। संविधान सभा ने संविधान सभा मे किए गए निर्णयो पर अमल करते हुए सवैधानिक सलाहकार द्वारा तैयार किए गए भारत के संविधान के मूल पाठ के प्रारूप की छानबीन करने के लिए 29 अगस्त, 1947 को डा भीमराव अबेडकर के सभापतित्व में प्रारूपण समिति नियुक्त की।

प्रारूपण समिति द्वारा तैयार किया गया भारत के संविधान का प्रारूप 21 फरवरी, 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष को पेश किया गया। संविधान के प्रारूप में सशोधन के लिए बहुत बड़ी सख्या में टिप्पणिया, आलोचनाएं और सुझाव प्राप्त हुए। प्रारूपण समिति ने इन सभी पर विचार किया। इन सभी पर प्रारूपण समिति की सिफारिशों के साथ विचार करने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया गया। विशेष समिति द्वारा की गई सिफारिशो पर प्रारूपण समिति ने एक बार फिर विचार किया और कतिपय सशोधन समावेश के लिए छांट लिए गए। इस प्रकार के संशोधनों के निरीक्षण की सुविधा के लिए प्रारूपण समिति ने संविधान के प्रारूप को दोबारा छपवाकर जारी करने का निर्णय किया। यह 26 अक्तूबर, 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष को पेश किया गया।

4 नवंबर, 1948 को संविधान सभा में संविधान के प्रारूप को विचार के लिए पेश करते समय डा अंबेडकर ने प्रारूप की कुछ आम आलोचनाओ का, विशेष रूप से इस आलोचना का कि इसमें ऐसी सामग्री बहुत ही कम है जो मूल होने का दावा कर सकती हो, उत्तर दिया। उन्होंने कहा :

> मै पूछना चाहूगा कि क्या विश्व के इतिहास में इस समय बनने वाले किसी संविधान मे कोई नयी बात कही जा सकती है। सैकडो साल बीत गए जब प्रथम लिखित सविधान का प्रारूप तैयार किया गया था। अनेक देशो ने इसका अनुसरण करके अपने संविधान को लिखित रूप मे परिवर्तित कर लिया। संविधान का विषयक्षेत्र क्या होना चाहिए, इस प्रश्न का समाधान बहुत पहले हो चुका है। इसी प्रकार, संविधान के मूलाधार क्या हैं, इससे सारी दुनिया परिचित है। इन तथ्यो को देखते हुए, अनिवार्य है कि सभी संविधानो के मुख्य प्रावधान एक से दिखाई दे। इतना समय बीत जाने पर जो संविधान बनाया गया है उसमे यदि कोई नयी बात कही जा सकती है तो वह यह है कि इसमे त्रुटियो को दूर करने तथा इसे देश की जरूरतो के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक हेरफेर किए गए है। मुझे यकीन है कि अन्य देशो के संविधानो का अधानुकरण करने का जो आरोप लगाया गया है, वह संविधान का पर्याप्त अध्ययन न किए जाने के कारण लगाया गया है।
>
> जहा तक इस आरोप का सबध है कि सविधान के प्रारूप मे भारत शासन एक्ट, 1935 के अधिकाश प्रावधानो को ज्यो-का-त्यो शामिल कर लिया गया है, मै उसके बारे मे कोई क्षमायाचना नही करता। किसी से उधार लेने मे कोई शर्म की बात नही है। इसमे कोई चोरी नही है। सविधान के मूल विचारो के बारे मे किसी का कोई पेटेंट अधिकार नही है।

सविधान के प्रारूप पर खडवार विचार 15 नवबर, 1948 से 17 अक्तूबर, 1949 के दौरान पूरा किया गया। प्रस्तावना सबसे बाद मे स्वीकार की गई। तत्पश्चात, प्रारूपण समिति ने परिणामी या आवश्यक सशोधन किए, अंतिम प्रारूप तैयार किया और उसे संविधान सभा के सामने पेश किया।

संविधान का दूसरा वाचन 16 नवबर, 1949 को पूरा हुआ तथा उससे अगले दिन सविधान सभा ने डा अबेडकर के इस प्रस्ताव के साथ कि 'विधान सभा द्वारा यथानिर्णीत संविधान पारित किया जाए', संविधान का तीसरा वाचन शुरू किया। प्रस्ताव 26 नवबर, 1949 को स्वीकृत हुआ तथा इस प्रकार, उस दिन सविधान सभा मे भारत की जनता ने भारत के प्रभुत्व सपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य का संविधान स्वीकार किया, अधिनियमित किया और अपने आप को अर्पित किया। सविधान सभा ने संविधान बनाने का भारी काम तीन वर्ष से कम समय में पूरा किया।

किंतु संविधान की स्वीकृति के साथ ही यात्रा का अत नही हो गया। प्रारूपण समिति के सभापति, डा. अंबेडकर और संविधान सभा के अध्यक्ष, डा. राजेन्द्र प्रसाद ने 25 तथा

26 नवंबर, 1919 को भाषण करते हुए चेतावनी तथा सावधानी के शब्द कहे। डा. अंबेडकर ने कहा :

> मै महसूस करता हू कि सविधान चाहे कितना भी अच्छा क्यो न हो, यदि वे लोग, जिन्हे संविधान को अमल मे लाने का काम सौपा जाए, खराब निकले तो निश्चित रूप से संविधान भी खराब सिद्ध होगा। दूसरी ओर, सविधान चाहे कितना भी खराब क्यो न हो, यदि वे लोग, जिन्हे सविधान को अमल मे लाने का काम सौपा जाए, अच्छे हो तो सविधान अच्छा सिद्ध होगा। सविधान पर अमल केवल सविधान के स्वरूप पर निर्भर नही करता। संविधान केवल विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका जैसे राज्य के अगो का प्रावधान कर सकता है। राज्य के उन अगो का सचालन लोगो पर तथा उनके द्वारा अपनी आकाक्षाओ तथा अपनी राजनीति की पूर्ति क लिए वनाए जाने वाले राजनीतिक दलो पर निर्भर करता है। कौन कह सकता है कि भारत के लोगो तथा उनके राजनीतिक दलो का व्यवहार कैसा होगा? जातियो तथा सप्रदायो के रूप मे हमारे पुराने शत्रुओ के अलावा, विभिन्न तथा परस्परविरोधी विचारधारा रखने वाले राजनीतिक दल बन जाएगे। क्या भारतवासी देश को अपने पथ[1] से ऊपर रखेगे या पथ को देश से ऊपर रखेगे? मै नही जानता। लेकिन यह बात निश्चित है कि यदि राजनीतिक दल अपने पथ को देश से ऊपर रखेगे तो हमारी स्वतत्रता एक बार फिर खतरे मे पड जाएगी और सभवतया हमेशा के लिए खत्म हो जाए। हम सभी को इस सभाव्य घटना का दृढ निश्चय के साथ प्रतिकार करना चाहिए। हमे अपनी आजादी की खून के आखिरी कतरे के साथ रक्षा करने का सकल्प करना चाहिए।

डा. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने समापन भाषण मे विचार व्यक्त किया कि सविधान सभा सब मिलाकर एक अच्छा संविधान वनाने मे सफल रही है और उन्हे विश्वास है कि यह देश की जरूरतों को अच्छी तरह से पूरा करेगा। किंतु उन्होने इसके साथ यह भी कहा:

> यदि लोग, जो चुनकर आएंगे, योग्य, चरित्रवान और ईमानदार हुए तो वे दोषपूर्ण संविधान को भी सर्वोत्तम बना देंगे। यदि उनमे इन गुणों का अभाव हुआ तो संविधान देश की कोई मदद नही कर सकता। आखिरकार, एक मशीन की तरह संविधान भी निर्जीव है। इसमे प्राणो का सचार उन व्यक्तियो के द्वारा होता है जो इस पर नियत्रण करते है तथा इसे चलाते है और भारत को इस समय ऐसे लोगो की जरूरत है जो ईमानदार हो तथा जो देश के हित को सर्वोपरि रखे। हमारे जीवन मे विभिन्न तत्वो के कारण विघटनकारी प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है। हममे साप्रदायिक अतर है, जातिगत अतर है, भाषागत अतर है, प्रातीय अतर है। इसके लिए दृढ़ चरित्र वाले लोगों की, दूरदर्शी लोगो की, ऐसे लोगों की जरूरत है जो छोटे छोटे समूहो तथा क्षेत्रों के लिए देश के व्यापक हितो का बलिदान न दें और उन पूर्वाग्रहो से ऊपर उठ सके जो इन अतरो के कारण उत्पन्न होते हैं। हम केवल यही आशा कर सकते है कि देश मे ऐसे लोग प्रचुर सख्या मे सामने आएगे।

---

1 पथ (Creed)

संविधान पर संविधान सभा के सदस्यों द्वारा 24 जनवरी, 1950 को, संविधान सभा के अंतिम दिन अंतिम रूप से हस्ताक्षर किए गए।

हमारे संविधान निर्माताओं में कुछ जाने माने, विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्ति, महान न्यायविद, देशभक्त और स्वतत्रता सेनानी सम्मिलित थे। यदि संविधान सभा का निर्वाचन लोगों द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर भी किया जाता तो भी उस समय इससे बेहतर या अपेक्षाकृत अधिक प्रतिनिधिक परिणामो की कल्पना करना कठिन है।

हमने स्वतत्रता प्राप्ति के बाद जिन सस्थानों को जारी रखा तथा संविधान में समाविष्ट किया वे ऐसे सस्थान थे जो भारत की धरती पर ही फले-फूले थे। संविधान निर्माताओं ने पुराने सस्थानो के आधार पर जो पहले ही विकसित हो चुके थे और जिनके बारे में उन्हे जानकारी थी, जिनसे वे परिचित हो चुके थे और जिनके लिए उन्होने सभी प्रकार की परिसीमाओं, बंधनों के बावजूद उद्यम किया था, नये संस्थानों का निर्माण करना पसंद किया। संविधान के द्वारा ब्रिटिश शासन को ठुकरा दिया गया कितु उन संस्थानों को नही, जो ब्रिटिश शासनकाल में विकसित हुए थे। इस प्रकार, संविधान औपनिवेशिक अतीत से पूरी तरह से अलग नहीं हुआ।

क्योंकि सविधान-निर्माण तथा सस्थान-निर्माण एक जीवत, वर्तमान और सतत गतिशील प्रक्रिया है, इसलिए इस प्रक्रिया मे 26 नवबर, 1949 को विराम नहीं आया जब भारत के लोगो ने संविधान सभा में संविधान पारित, अधिनियमित तथा अपने आपको अर्पित किया। 26 जनवरी, 1950 को भारत के संविधान के श्रीगणेश के बाद भी, इसके वास्तविक अमल, न्यायिक निर्वचन[1] और सवैधानिक सशोधनों के द्वारा इसके निर्माण की प्रक्रिया जारी रही। अच्छे के लिए हो या बुरे के लिए, संविधान का विकास जारी रहा। समय समय पर जिस जिस प्रकार और जैसे जैसे लोगों ने संविधान को चलाया, वैसे ही वैसे उसे नये नये अर्थ मिलते गए। यह सिलसिला अभी भी जारी है।

संविधान सभा ने और भी कई महत्वपूर्ण कार्य किए जैसे उसने संविधायी स्वरूप के कतिपय कानून पारित किए, राष्ट्रीय ध्वज को अंगीकार किया, राष्ट्रगान की घोषणा की, राष्ट्रमडल की सदस्यता से सबंधित निर्णय की पुष्टि की तथा गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति का चुनाव किया।

---

1. न्यायिक निर्वचन (Judicial Interpretation)

4

संविधान की विशेषताएं

भारत का सविधान अनेक दृष्टियो से एक अनूठा सविधान है। उसकी अनेक विशेषताए है, जो विश्व के अन्य सविधानो से अलग उसकी पहचान बनाती है।

संविधान का आकार

नितांत भौतिक दृष्टि से देखा जाए तो यह अब तक किसी भी देश मे बना सबसे लबा सविधान है। यह एक बहुत ही व्यापक दस्तावेज है तथा इसमे अनेक ऐसे विषय सम्मिलित है जो औचित्य के विचार से साधारण विधान या प्रशासनिक कार्यवाही की विषयवस्तु हो सकते थे। ऐसा इसलिए हुआ कि भारत शासन अधिनियम, 1935 मूलतया एक कानून था और उसका उपयोग एक मॉडल तथा एक प्रारभिक कार्यकारी प्रारूप के रूप मे किया गया और इसके काफी बड़े हिस्से सविधान में ज्यों-के-त्यों समाविष्ट कर लिए गए। इसके अलावा, सविधान निर्माता नही चाहते थे कि कोई ऐसे सशय, कठिनाइया और विवाद रह जाए जिनके निराकरण के लिए भविष्य मे विधान बनाना पड़े। सयुक्त राज्य अमरीका मे सघीय संविधान के अलावा, प्रत्येक राज्य का अपना अलग संविधान है। इसके विपरीत, भारत के सविधान मे न केवल सघ का बल्कि राज्यो का सविधान भी सम्मिलित है। भारत के आकार, इसकी जटिलताओ तथा विविधताओ के कारण भी देश के कतिपय क्षेत्रों अथवा जनता के वर्गो के लिए अनेक विशेष, अस्थायी, संक्रमणकालीन और विविध उपबध करना आवश्यक हो गया। संविधान मे प्रवर्तनीय अथवा न्यायालयो द्वारा लागू कराए जा सकने वाले[1] मूल अधिकारो का एक व्यापक चार्टर ही समाविष्ट नही किया गया बल्कि इसमे उन सीमाओ का वर्णन भी किया गया जिनके अंतर्गत इनका सचालन होना चाहिए। इसके विपरीत, संयुक्त राज्य अमरीका मे अधिकारो की सीमाए न्यायालय के निर्णयों के लिए छोड़ दी गई थीं। साथ ही, हमारे संविधान मे राज्य नीति के अनेक निदेशक तत्वों और नागरिकों के मूल कर्तव्यो का विवरण शामिल किया गया है। भले ही उन्हें न्यायालयों

---

1 न्यायालयो द्वारा लागू कराए जा सकने वाले (Justiciable)

के द्वारा लागू नही कराया जा सकता पर आशा की जाती है कि उनसे सभी को—राज्य, न्यायालय तथा नागरिको को—मार्गदर्शन मिलेगा।

संविधान के प्रकार

लिखित अथवा अलिखित[1] : संविधान अमरीकी सविधान की तरह लिखित या ब्रिटेन की तरह अलिखित तथा परपराओ और प्रथाओ पर आधारित हो सकते हैं। हमारा सविधान एक लिखित संविधान है, हालाकि परपराओ और प्रथाओ की विशेष भूमिका को भी नकारा नही जा सकता, बशर्ते वे सविधान के उपबधो के अनुरूप हों।

अनम्य अथवा नम्य[2] : सशोधन की कठिन या सरल प्रक्रिया के आधार पर संविधानो को अनम्य अथवा नम्य कहा जा सकता है। सघीय सविधानों की संशोधन प्रक्रिया कठिन होती है, इसलिए उन्हे सामान्यतया अनम्य के रूप मे वर्गीकृत किया जाता है। हमारे सविधान को अनम्य तथा नम्य का मिश्रण कहा जा सकता है क्योंकि संविधान के कतिपय उपबंधो यथा अनुच्छेद 2, 3 तथा 4 और 169 का संशोधन साधारण विधान की तरह संसद के दोनो सदनो में साधारण बहुमत द्वारा किया जा सकता है। अन्य उपबंधों का सशोधन अनुच्छेद 368 के अधीन ससद के दोनो सदनों द्वारा प्रत्येक सदन में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यो के दो तिहाई विशेष बहुमत और कुल सदस्यो के बहुमत द्वारा किया जा सकता है। केवल कुछ उपबधो के मामले मे, संशोधन के लिए संसद के दोनों सदनो के विशेष बहुमत के अतिरिक्त, आधे से अन्यून राज्यो के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। पिछले 45 वर्षो के दौरान हमारे संविधान में 78 बार सशोधन किए गए हैं। इसलिए यह तथ्य इस आरोप को झुठला देता है कि हमारा संविधान अनम्य है।

परिसंघीय अथवा एकात्मक[3] : सविधानो को परिसघीय तथा एकात्मक में भी विभाजित किया जाता है। अमरीकी सविधान पहली श्रेणी का और ब्रिटेन का सविधान दूसरी श्रेणी का एक अत्युत्तम उदाहरण है। एकात्मक संविधान में सभी शक्तिया केंद्रीय सरकार मे निहित होती है और इकाइयों के प्राधिकारी उसके अधीन होते हैं तथा केंद्रीय सरकार के एजेटों के रूप मे कार्य करते है और केंद्र द्वारा प्रत्यायोजित प्राधिकार का प्रयोग करते है। परिसघीय राज्य व्यवस्था मे सामान्यतया अनिवार्य है कि एक अनम्य, लिखित संविधान हो; सविधान सर्वोच्च हो और इसके अतर्गत परिसघीय सरकार तथा इकाइयो की सरकारों के बीच शक्तियो का विशिष्ट रूप से विभाजन हो और दोनो अपने अपने क्षेत्रो में अपने निजी ढग से तथा स्वतंत्र रूप से शक्तियों का प्रयोग करे। वास्तव में, उत्तम श्रेणी के परिसंघ

1 लिखित अथवा अलिखित (Written or Unwritten)

2. अनम्य अथवा नम्य (Rigid or Flexible)

3. परिसंघीय अथवा एकात्मक (Federal or Unitary)

में, परिसघीय सरकार को केवल वही शक्तियां प्राप्त होती हैं जो उसे इकाइयों द्वारा समझौते के माध्यम से दी जाती हैं। इसके अलावा, अनिवार्य है कि यदि परिसंघ तथा राज्यों के बीच कोई विवाद हो तो उसके विवाचन के लिए एक स्वतंत्र उच्चतम न्यायालय हो।

भारत के संविधान का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया गया है। इसे अर्धपरिसंघीय कहा गया है। इसे परिसंघीय किंतु प्रबल एकात्मक अथवा केंद्र-समर्थक भी कहा गया है। इसे संरचना मे परिसघीय किंतु भावना में एकात्मक, सामान्य स्थिति में परिसंघीय कितु आपात स्थिति आदि के दौरान पूर्णतया एकात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकने वाला कहा गया है। असल मे, हमारे संविधान को परिसघीय या एकात्मक के किसी कठोर ढांचे में कसना कठिन है। इसमे दोनों की विशेषताएं हैं। इसे एकात्मक नहीं माना जा सकता क्योंकि, मिसाल के लिए, इसमे संघ तथा राज्यों[1] के बीच कार्यपालक तथा विधायी शक्तियो के वितरण की व्यवस्था की गई है और राज्यो की शक्तियों अथवा संघ तथा राज्य के सबंधों को प्रभावित करने वाले प्रावधानों में राज्यों के अनुसमर्थन के बिना सशोधन नहीं किया जा सकता। इसे पूरी तरह से परिसघीय भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अवशिष्ट शक्तियां सघ में निहित हैं। जैसा कि डा. अंबेडकर ने कहा था, अनम्यता तथा विधिवाद परिसघवाद की दो गंभीर कमजोरिया हैं। भारतीय प्रणाली इस दृष्टि से अनूठी है कि इसमे इकहरी भारतीय नागरिकता वाली दोहरी राज्य व्यवस्था रखी गई है, और वह समय और हालात की जरूरतो के अनुसार एकात्मक तथा परिसघीय दोनो ही हो सकती है। अनुच्छेद 249 के अधीन, सघ की ससद राज्य सूची का अतिक्रमण कर सकती है। अनुच्छेद 356 तथा 357 के अधीन, किसी राज्य में सवैधानिक तत्र की विफलता के आधार पर, उसकी सभी कार्यपालक तथा विधायी शक्तियो को सघ अपने हाथ मे ले सकता है और अनुच्छेद 352 से 354 के अधीन, सविधान को पूर्णरूपेण एकात्मक रूप दिया जा सकता है क्योंकि आपात स्थिति की उद्‌घोषणा के दौरान, सघ की कार्यपालक तथा विधायी शक्तियां राज्य सूची में सम्मिलित विषयो पर भी लागू हो जाती है। अंतत, अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन, सघ की ससद साधारण बहुमत से पारित साधारण कानून द्वारा नये राज्य बना सकती है और वर्तमान राज्यो के क्षेत्रो, उनकी सीमाओ या उनके नामों में परिवर्तन कर सकती है।

यह अनूठा एकात्मक परिसंघीय मिश्रण किसलिए हुआ? इसका उत्तर भारत के सवैधानिक इतिहास में, देश के विशाल आकार मे और धर्म, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति आदि पर आधारित उसकी मिश्रित विविधताओं के स्वरूप में खोजा जा सकता है। संविधान के प्रारूप को संविधान सभा की स्वीकृति के लिए पेश करते समय, प्रारूपण समिति के अध्यक्ष,

---

1. सघ तथा राज्य (Union and States)

डा अंबेडकर ने "फेडरेशन आफ स्टेट्स" (राज्य परिसघ)[1] के बजाय "यूनियन आफ स्टेट्स" (राज्य संघ)[2] पद का प्रयोग करने की सार्थकता को निम्नलिखित शब्दो मे स्पष्ट करने का प्रयास किया था :

> प्रारूपण समिति इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती थी कि हालांकि भारत को एक 'फेडरेशन' (परिसंघ)[3] का रूप लेना था, किंतु फेडरेशन राज्यो द्वारा फेडरेशन मे शामिल होने के समझौते का परिणाम नही था और चूंकि फेडरेशन किसी समझौते का परिणाम नही, अत किसी भी राज्य को उससे अलग होने का अधिकार नही। फेडरेशन एक सघ है क्योंकि वह अनश्वर है। हालाकि देश तथा जनता को प्रशासन की सुविधा के लिए विभिन्न राज्यो मे विभाजित किया जा सकता है, किंतु देश पूर्णतया एक अखड इकाई है, इसकी जनता एक अखड जनसमूह है, जो एक ही स्रोत से प्राप्त परमसत्ता के अधीन रहती है।

सविधान के मूल पाठ मे कहीं भी 'फेडरल' (परिसघात्मक)[4] या 'फेडरेशन' (परिसंघ) शब्द का प्रयोग नही किया गया। उच्चतम न्यायालय ने भारतीय सघ (यूनियन)[5] का उल्लेख फेडरल (परिसघीय) 'क्वासी-फेडरल (अर्धपरिसघीय)'[6] या 'द्विस्वभावी'[7] के रूप मे किया है जिसका अर्थ यह है कि यह कभी तो 'परिसघीय' होता है और कभी 'एकात्मक'। (*राजस्थान राज्य बनाम भारत सघ,* ए आई आर 1977 एस सी 1361) (अध्याय 6, 'सघ और उसका राज्य क्षेत्र' के अतर्गत भी देखिए)।

संसदीय तथा अध्यक्षीय प्रणाली

भारत एक गणराज्य है। उसका अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है, उसी मे सभी कार्यपालक शक्तिया निहित होती है तथा उसी के नाम से इनका प्रयोग किया जाता है। वह सशस्त्र बलो का सर्वोच्च कमाडर भी होता है। किंतु यह मान्यता है कि अमरीकी राष्ट्रपति के विपरीत हमारा राष्ट्रपति कार्यपालिका का केवल नाममात्र का या संवैधानिक अध्यक्ष होता है। वह यथार्थ राजनीतिक कार्यपालिका यानी मत्रिपरिषद की सहायता तथा उसके परामर्श से ही कार्य करता है। मंत्री सामूहिक रूप से ससद के सीधे जननिर्वाचित सदन अर्थात लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते है। इस प्रकार, ब्रिटिश प्रतिरूप का अनुसरण करते हुए, भारत

---

1 राज्य परिसघ (Federation of States)

2 राज्य सघ (Union of States)

3 परिसघ (Federation)

4 परिसंघात्मक (Federal)

5 सघ (Union)

6 अर्धपरिसघीय (Quasi-federal)

7 'द्विस्वभावी' (Amphibian)

के संविधान में बुनियादी तौर पर, संघ तथा राज्य, दोनों स्तरों पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें मंत्रिगण सीधे जननिर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसके विपरीत, अमरीकी राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली मे शक्तियों का पृथक्करण होता है तथा राष्ट्रपति एक निश्चित कार्यकाल के लिए मुख्य कार्यपालक होता है और उसे प्रायः पदच्युत नहीं किया जा सकता। अमरीकी प्रणाली में, राष्ट्रपति आम नागरिकों में से अपने मंत्री चुनता है और मंत्री विधानमंडल के सदस्य नहीं होते, जबकि संसदीय प्रणाली मे मत्री संसद से लिए जाते हैं तथा वे इसका अंग बने रहते है और वे लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होते है। कहा जा सकता है कि संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की संकल्पना पर अधिक बल दिया जाता है जबकि राष्ट्रपतीय प्रणाली में स्पष्टतया कार्यपालिका के स्थायित्व को अधिक महत्व दिया जाता है।

किंतु यह कहना गलत होगा कि हमने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को पूर्णरूपेण अपना लिया है। दोनों में अनेक मूलभूत अंतर तथा भिन्नताएं हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का संविधान एकात्मक है, जबकि हमारा अधिकांशतया संघीय है। वहा वशानुगत राजा वाला राजतंत्र है जबकि हमारा देश निर्वाचित राष्ट्रपति वाला गणराज्य है। ब्रिटेन के विपरीत, हमारा संविधान एक लिखित संविधान है। इसलिए हमारी संसद प्रभुत्व संपन्न नहीं है तथा इसके द्वारा पारित विधान का न्यायिक पुनरीक्षण हो सकता है। हमारे संविधान में वाद योग्य ऐसे मूल अधिकारो का एक घोषणापत्र सम्मिलित है, जो न्यायालयो द्वारा न केवल कार्यपालिका के बल्कि विधायिका के खिलाफ भी लागू किए जा सकते है। ब्रिटेन की स्थिति इसके विपरीत है।

हमारे देश में ससदीय प्रणाली के स्थान पर राष्ट्रपतीय प्रणाली को अपनाने की वाछनीयता अथवा अवाछनीयता के संबंध मे कुछ बहस चलती रही है। किंतु सविधान निर्माताओ ने संसदीय प्रणाली को तरजीह दी क्योकि उन्हें इसके सचालन का कुछ अनुभव था और सुस्थापित संस्थाओं को जारी रखने के अनेक लाभ थे। जिम्मेदार सरकार के लिए तथा निरंकुश कार्यपालक प्राधिकार के खिलाफ एक लंबे संघर्ष के बाद, स्वभावतया उन्हें ऐसी नियतकालिक कार्यपालिका[1] पसंद नहीं थी जिसे हटाया न जा सके। उनका विश्वास था कि अत्यधिक बहुवादी समाज वाले भारत जैसे विशाल तथा विविधता से भरपूर देश के लिए, जहां विभिन्न प्रकार के प्रभाव काम करते हैं, सभी हितों को संजोने तथा संयुक्त भारत के निर्माण के लिए संसदीय प्रणाली सर्वाधिक अनुकूल होगी।

संसदीय प्रभुत्व बनाम न्यायिक सर्वोच्चता

ब्रिटिश ससदीय प्रणाली में ससद सर्वोच्च तथा प्रभुत्व संपन्न है। इसकी शक्तियों पर, कम-

1. नियतकालिक कार्यपालिका (Fixed Term Executive)

से-कम सिद्धांत रूप में, कोई रोक नहीं है, क्योंकि वहां पर कोई लिखित सविधान नहीं है और न्यायपालिका को विधान का न्यायिक पुनरीक्षण करने का कोई अधिकार नहीं है।

अमरीकी प्रणाली में, उच्चतम न्यायालय सर्वोच्च है क्योंकि उसे न्यायिक पुनरीक्षण तथा संविधान के निर्वचन की शक्ति प्राप्त है।

भारत में, संविधान ने मध्य मार्ग अपनाया है। उसने ब्रिटिश संसद की प्रभुता और अमरीकी न्यायिक सर्वोच्चता के बीच समझौता किया है। चूंकि हमारा संविधान एक लिखित संविधान है तथा उसमें प्रत्येक अग की शक्तियों तथा उसके कार्यो की परिभाषा की गई है तथा सीमा निर्धारित की गई है इसलिए किसी भी अंग के—यहां तक कि संसद के भी—प्रभुत्व संपन्न होने का कोई प्रश्न नहीं है। संसद तथा उच्चतम न्यायालय, दोनों अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोच्च हैं। जहां कि उच्चतम न्यायालय संसद द्वारा पारित किसी कानून को संविधान का उल्लंघन करने वाला बताकर संसद के अधिकार से बाहर, अवैध और अमान्य घोषित कर सकता है, ससद कतिपय प्रतिबधों के अधीन रहते हुए संविधान के अधिकाश भागो मे सशोधन कर सकती है।

वयस्क मताधिकार

डा. अबेडकर ने संविधान सभा मे कहा था कि 'ससदीय प्रणाली से हमारा अभिप्राय' 'एक व्यक्ति, एक वोट' से है। संविधान निर्माताओं ने निष्ठापूर्वक कार्य करते हुए सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार[1] की पद्धति को अपनाने का निर्णय किया, जिसमे प्रत्येक वयस्क भारतीय को बिना किसी भेदभाव के मतदान के समान अधिकार तुरत प्राप्त हों। अधिकाश भारतीय जनता गरीब तथा अनपढ़ थी। इस संदर्भ मे यह निर्णय विशेष रूप से उल्लेखनीय था। पश्चिम के समुन्नत लोकतत्रों में भी मताधिकार धीरे धीरे ही दिया गया था।

मूल अधिकारों का घोषणा-पत्र

हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के नेताओं की सबसे बड़ी बुनियादी मांग यह थी कि लोगो को स्वतंत्रता, समानता आदि के कुछ मूलभूत मानव अधिकार मिलें। अल्पसंख्यकों की समस्याओं ने, संविधान के मूलपाठ में ही कतिपय वाद-योग्य अथवा न्यायालयों द्वारा लागू कराए जा सकने वाले मूल अधिकारों की औपचारिक घोषणा किए जाने की जरूरत पर बल दिया। मौटे तौर पर, संविधान के भाग-III मे जो मूल अधिकार शमिल किए गए हैं, वे राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के ऐसे अधिकार हैं जिनका अतिक्रमण नहीं हो सकता। मिसाल के लिए, किसी व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित करने वाले कानून या

1. **सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार** (Universal Adult Franchise)

कार्यपालक कार्य को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है। यदि ये कानून अथवा कार्यपालक कार्य संविधान मे ही बताए गए किन्हीं प्रतिबंधों के अंतर्गत न आते हो तो इन्हें असंवैधानिक तथा अमान्य ठहराया जा सकता है। इस प्रकार, मूल अधिकारों के प्रवर्तन का तंत्र तथा उसकी क्रियाविधि भी संविधान में निर्धारित है। अमरीकी संविधान मे, मूल अधिकारों को निरपेक्ष शब्दों में अभिव्यक्त किया गया था। किंतु किसी व्यक्ति के कोई निरपेक्ष अधिकार नहीं हो सकते क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार कम-से-कम अन्य व्यक्तियों के उसी प्रकार के अधिकारों द्वारा सीमित होते हैं। अमरीकी उच्चतम न्यायालय को मूल अधिकारों पर वैध प्रतिबंधों का पता लगाना पड़ा तथा उनकी पहचान करनी पड़ी। किंतु हमारे संविधान निर्माताओं ने प्रतिबधों को संबंधित उपबंधों मे ही शामिल करने का निर्णय किया। इस प्रकार, हमारा संविधान एक ओर व्यक्ति के अधिकारों और दूसरी ओर समाज के हितो तथा राज्य की सुरक्षा की जरूरतों के बीच एक संतुलन प्रस्तुत करता है।

निदेशक तत्व

आयरलैंड के दृष्टात मे प्रेरित होकर तैयार किए गए राज्य नीति के निदेशक तत्व हमारे सविधान की एक अनूठी विशेषता हैं। लोगो के अधिकाश सामाजिक-आर्थिक अधिकार इस शीर्ष के अतर्गत सम्मिलित किए गए है। हालांकि कहा जाता है कि इन्हें न्यायालय मे लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी इन तत्वों से देश के शासन के लिए मार्गदर्शन की आशा की जाती है। वे सविधान निर्माताओ द्वारा राज्यो के समक्ष रखे गए आदर्शो के रूप मे है और राज्य के सभी अगों को उनकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। न केवल विधानमडलो की बल्कि न्यायालयो की नजर में भी निदेशक तत्वों की प्रासंगिकता तथा महत्ता बराबर बढती गई है।

नागरिकता

संविधान निर्माताओ ने एक एकीकृत भारतीय बंधुत्व तथा एक अखंड राष्ट्र का निर्माण करने के अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए, सघीय सरचना होने के बावजूद केवल इकहरी नागरिकता का उपबध रखा। अमरीका के विपरीत, संघ तथा राज्यों के लिए कोई पृथक नागरिकता नहीं रखी गई है और समूचे देश के सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के एक-से अधिकार प्राप्त कराए गए हैं, केवल कश्मीर, जनजातीय क्षेत्रों आदि को छोड़कर जहा कुछ विशेष संरक्षण प्रदान किए गए है।

मूल कर्तव्य

संविधान के 42वें सशोधन के द्वारा, अन्य बातों के साथ साथ, 'मूल कर्तव्य' शीर्षक के

अंतर्गत सविधान में एक नया भाग जोड़ा गया। इसमें भारत के सभी नागरिकों के लिए दस कर्तव्यों की एक संहिता निर्धारित की गई है। वस्तुतया कोई भी अधिकार तदनुरूप कर्तव्य के बिना व्यवहार्य नही हो सकता तथा राज्य की ओर नागरिकों के राजनीतिक दायित्वों के प्रति सम्मान के बिना नागरिकों के अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि नागरिकों के मूल कर्तव्यों की संहिता को हमने अभी तक वह महत्व नहीं दिया है जो इसे मिलना चाहिए।

स्वतंत्र न्यायपालिका

भारत के संविधान में एक स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है। उसे न्यायिक पुनरीक्षण की शक्तिया प्रदान की गई है। उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय एक ही एकीकृत न्यायिक सरचना के अग हैं और उसका अधिकार क्षेत्र सभी विधियो यानी सघ, राज्य, सिविल, दांडिक या सवैधानिक विधियों पर होता है। अमरीका की तरह, हमारे देश मे पृथक सघीय तथा राज्य न्यायालय प्रणालियां नहीं है। सपूर्ण न्यायपालिका न्यायालयों का श्रेणीबद्ध सगठन है। वह न केवल व्यक्तिगत अधिकारो तथा स्वतत्रताओ के अभिरक्षक के रूप मे विवादो तथा कृत्यो का न्यायनिर्णयन करता है बल्कि उससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह समय समय पर संविधान का निर्वचन करे तथा संविधान के संदर्भ में किसी विधान की वैधता का निर्धारण करने के लिए, उसका पुनरीक्षण करे। उच्चतम न्यायालय का निर्णय देश की सर्वोपरि विधि होता है। उच्चतम न्यायालय राज्यो के बीच अथवा संघ तथा राज्यो के बीच अधिकार क्षेत्र तथा शक्तियों के वितरण के सबंध में उत्पन्न विवादों के विवाचक का कार्य भी करता है।

निष्कर्ष

भारत का संविधान एक सर्वाधिक व्यापक दस्तावेज है। यह अनेक दृष्टियों से अनूठा है। इसे किसी खास साचे-ढांचे या मॉडल में फिट नहीं किया जा सकता। यह अनम्य तथा नम्य, परिसंघीय तथा एकात्मक, और अध्यक्षीय तथा ससदीय रूपों का सम्मिश्रण है। इसमें प्रयास किया गया है कि एक ओर व्यक्तियों के मूल अधिकारों और दूसरी ओर जनता के सामाजिक आर्थिक हितों तथा राज्य की सुरक्षा के बीच संतुलन बना रहे। इसके अलावा, यह ससदीय प्रभुत्व तथा न्यायिक सर्वोच्चता के सिद्धांतों के बीच एक मध्य मार्ग प्रस्तुत करता है।

जहां द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बनाए गए अनेक देशों के संविधान लुढ़क गए तथा लुप्त हो गए, वहां हमारे संविधान ने अनेक संकटों का सफलतापूर्वक सामना किया है और वह जीवित रहा है। यह बात स्वयंमेव उसकी सुनम्यता, सक्रियता और संवृद्धि की संभाव्यता का प्रमाण है।

5

उद्देशिका

संविधान के आधार-तत्व तथा उसका दर्शन

किसी संविधान की उद्देशिका[1] से आशा की जाती है कि जिन मूलभूत मूल्यो तथा दर्शन पर सविधान आधारित हो, तथा जिन लक्ष्यो तथा उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयास करने के लिए सविधान निर्माताओ ने राज्य व्यवस्था को निर्देश दिया हो, उनका उसमे समावेश हो।

हमारे सविधान की उद्देशिका मे, जिस रूप मे उसे सविधान सभा ने पास किया था, कहा गया है : "हम, भारत के लोग" भारत को एक "प्रभुत्व सपन्न लोकतात्रिक गणराज्य" बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिको को न्याय, स्वतत्रता और समानता दिलाने और उन सबमे बधुता बढाने के लिए दृढ सकल्प करते है। न्याय की परिभाषा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के रूप मे की गई है। स्वतत्रता मे विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतत्रता सम्मिलित है और समानता का अर्थ है प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता।

वास्तव मे, न्याय, स्वतत्रता, समानता और बधुता एक वास्तविक लोकतत्रात्मक व्यवस्था के अत्यावश्यक सहगामी तत्व है, इसलिए उनके द्वारा केवल लोकतत्रात्मक गणराज्य की सकल्पना स्पष्ट होती है। अतिम लक्ष्य है व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करना। इस प्रकार, उद्देशिका यह घोषणा करने का काम करती है कि "भारत के लोग" संविधान के मूल स्रोत है, भारतीय राज्य व्यवस्था मे प्रभुता लोगो मे निहित है और भारतीय राज्य व्यवस्था लोकतंत्रात्मक है जिसमे लोगो को मूल अधिकारो तथा स्वतत्रताओ की गारटी दी गई है तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित की गई है।

हमारे संविधान की उद्देशिका मे बहुत ही भव्य और उदात्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। वे उन सभी उच्चतम मूल्यों को साकार करते हैं जिनकी प्रकल्पना मानव-बुद्धि, कौशल तथा

---

1. उद्देशिका (Preamble)

अनुभव अब तक कर पाया है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के राजनीतिविज्ञान के प्रसिद्ध प्रोफेसर सर अर्नेस्ट बार्कर हमारे संविधान की उद्देशिका के मूल पाठ से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने इसे अपने शोधग्रंथ के प्राक्कथन के रूप में उद्धृत करते हुए कहा :

> जब मैंने इसे पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि मैंने अपनी सारी पुस्तक में जो कुछ कहने का प्रयास किया है वह इसमें बहुत थोड़े से शब्दो में रख दिया गया है और इसे मेरी पुस्तक का मूल स्वर माना जा सकता है।

बेरुबाड़ी के मामले में, उच्चतम न्यायालय ने इस बात से सहमति प्रकट की थी कि उद्देशिका संविधान निर्माताओं के मन की कुजी है। जहां शब्द अस्पष्ट पाए जाएं या उनका अर्थ स्पष्ट न हो, वहा संविधान निर्माताओ के आशय को समझने के लिए उद्देशिका की सहायता ली जा सकती है और पता लगाया जा सकता है कि उस शब्द विशेष का प्रयोग व्यापक सदर्भ मे किया गया है या संकीर्ण सदर्भ में। तिस पर भी, न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने कहा था कि उद्देशिका संविधान का अग नही है। यह विधानमंडलों या राज्य के अन्य अंगो को कोई महत्वपूर्ण शक्तिया प्रदान नहीं करती। निश्चय ही कोई भी शक्ति या अधिकार केवल संविधान के उपबधों द्वारा अभिव्यक्त अथवा निहित रूप मे दिए जा सकते हैं।

सज्जन सिह बनाम राजस्थान राज्य के मामले में, न्यायमूर्ति मधोलकर ने कहा था कि उद्देशिका पर "गहन विचार-विमर्श" की छाप है, उस पर सुस्पष्टता का ठप्पा है और उसे संविधान निर्माताओ ने विशेष महत्व दिया है। उद्देशिका संविधान की विशेषताओं का निचोड़ है अथवा यो भी कहा जा सकता है कि संविधान उद्देशिका में निर्धारित संकल्पनाओं का परिवर्द्धित अथवा मूर्त रूप है। उद्देशिका के संविधान का अग न होने के बारे में उच्चतम न्यायालय की राय पर संभवतया पुन. विचार किए जाने की जरूरत है। न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह ने भी उद्देशिका के बारे मे कहा था कि वह संविधान के उपबंधों को समझने मे और उनकी सही व्याख्या करने मे सहायक हो सकती है। यह महसूस किया गया कि संविधान निर्माताओं ने उद्देशिका के माध्यम से जो आशय व्यक्त किया है, उसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए था। *गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य* के मामले में, न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह ने विचार व्यक्त किया कि संविधान की उद्देशिका उन सिद्धांतों का निचोड़ है जिनके आधार पर सरकार को कार्य करना है। वह "संविधान की मूल आत्मा है, शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है।" उन्होंने कहा कि हमारी उद्देशिका हमारे राष्ट्रीय जीवन के कतिपय मूलाधारों के प्रति हमारी आस्था तथा हमारे विश्वास की घोषणा है। वह एक अनिवार्य आदर्श स्तर है। वह एक अडिग संकल्प है।

जैसा कि बाद में *भारतीचन्द्र भवन बनाम मैसूर राज्य* (ए आई आर (1970) एस सी 2042) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया, निदेशक तत्वों तथा मूल

अधिकारों को भी उद्देशिका मे प्रतिष्ठित उद्देश्यों के प्रकाश में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।

बेरुबाड़ी के मामले में, ऐसा प्रतीत होता है कि उच्चतम न्यायालय ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि किसी अधिनियम की उद्देशिका पर विधानमंडलो के सदनों में बहस नहीं की जाती या मतदान नहीं होता, कितु इसके विपरीत हमारे संविधान की उद्देशिका पर संविधान सभा में संविधान के किसी भी अन्य भाग की तरह पूरी बहस हुई थी। उसे विधिवत अधिनियमित तथा अंगीकृत किया गया था। उद्देशिका पर अंतिम मतदान कराते समय संविधान सभा के अध्यक्ष ने कहा था : "प्रस्ताव यह है कि उद्देशिका संविधान का अंग बने", अतः यह उचित ही था कि उच्चतम न्यायालय ने बाद में अपने निर्णय में संशोधन कर दिया।

केशवनानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले में, अधिकांश न्यायाधीशों ने संविधान सभा के वाद-विवाद का हवाला देते हुए निर्णय दिया कि उद्देशिका संविधान का अग है। न्यायमूर्ति सीकरी ने कहा कि संविधान की उद्देशिका का विधायी इतिहास इसके महत्व को उचित ठहराता है। उद्देशिका संविधान का केवल एक अंग ही नहीं है बल्कि "वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है तथा संविधान को उद्देशिका में अभिव्यक्त महान तथा उदात्त भविष्य-निरूपण के प्रकाश में पढ़ा जाना चाहिए तथा उसका निर्वचन किया जाना चाहिए।" संविधान के किसी भी उपबध में केवल अनुच्छेद 368 के अधीन "उद्देशिका तथा संविधान की मोटी मोटी रूपरेखा के अतर्गत रहते हुए" संशोधन किया जा सकता है। वस्तुतया उच्चतम न्यायालय ने संविधान के अपरिवर्तनशील बुनियादी तत्वों का स्रोत उद्देशिका के शब्दो में खोजने का प्रयास किया और निर्णय दिया कि संविधान के उपबंधों में कोई ऐसा संशोधन नहीं किया जा सकता जिससे उसके बुनियादी स्वरूप में परिवर्तन हो जाए। हालांकि बुनियादी तत्वों की सूक्ष्म परिभाषा नहीं की गई, फिर भी उद्देशिका में वर्णित बुनियादी तत्वों का विशिष्ट रूप से उल्लेख किया गया।

उच्चतम न्यायालय के शब्दों में "हमारे संविधान का प्रासाद उद्देशिका में वर्णित बुनियादी तत्वों पर खड़ा है। यदि इनमें से किसी भी तत्व को हटा दिया जाए तो सारा ढांचा ही ढह जाएगा और संविधान वही नहीं रह जाएगा अर्थात अपना व्यक्तित्व और पहचान खो देगा।" इस प्रकार, अब यह मान लिया गया है कि उद्देशिका में समाविष्ट संविधान के बुनियादी तत्वों या उसकी विशेषताओं को अनुच्छेद 368 के अधीन किसी संशोधन द्वारा उल्टा नहीं जा सकता।

किंतु, भले ही उद्देशिका को अब संविधान का एक अभिन्न अंग माना जाता है, फिर भी यह भी अपनी जगह सत्य है कि यह न तो किसी शक्ति का कोई स्रोत है और न ही उसको किसी प्रकार सीमित करता है। सबसे पहले इस बात की घोषणा बेरुबाड़ी के मामले

मे की गई थी। न्यायमूर्ति मैथ्यू ने *इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण* (ए आई आर 1975 एस सी 2291) के मामले मे इसे दोहराया।

आपात स्थिति के दौरान, 1976 के 42वे सविधान सशोधन अधिनियम के द्वारा 'समाजवादी' तथा 'पंथ निरपेक्ष' शब्द उद्देशिका मे जोड़ दिए गए। इसके अलावा राष्ट्र की एकता 'शब्दो के स्थान पर' राष्ट्र की एकता तथा अखंडना शब्द रख दिए गए। यह महसूस किया गया कि ये विशेषक शब्द स्थिति का स्पष्टीकरण मात्र करते थे तथा इनसे राज्य व्यवस्था या राज्य के स्वरूप मे कोई ठोस अंतर नहीं पड़ता था क्योंकि कानून-निर्माताओं के अनुसार समाजवाद, पथ निरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता उद्देशिका में तथा मूल रूप में निर्मित संविधान के शेष भागो मे पहले से अतनिर्हित थे।

बोम्मई वाले मामले मे, उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति रामास्वामी ने कहा :

> उद्देशिका संविधान का अभिन्न अग है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था, सघात्मक ढाचा, राष्ट्र की एकता और अखडता, पथ निरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय तथा न्यायिक पुनराविलोकन संविधान के बुनियादी तत्वों मे है।

42वे संशोधन के बाद जिस रूप में उद्देशिका इस समय हमारे संविधान में विद्यमान है, उसके अनुसार, संविधान-निर्माता जिन सर्वोच्च या मूलभूत सवैधानिक मूल्यों में विश्वास करते थे, उन्हे सूचीबद्ध किया जा सकता है। वे चाहते थे कि भारत गणराज्य के जन जन के मन में इन मूल्यो के प्रति आस्था और प्रतिबद्धता जगे-पनपे तथा आने वाली पीढ़ियां, जिन्हे यह सविधान आगे चलाना होगा, इन मूल्यों से मार्ग दर्शन प्राप्त कर सकें। ये उदात्त मूल्य है :

- संप्रभुता
- समाजवाद
- लोकतंत्र
- गणराज्यीय स्वरूप
- न्याय
- स्वतंत्रता
- समानता
- बंधुता
- व्यक्ति की गरिमा, और
- राष्ट्र की एकता तथा अखंडता।

संप्रभुता

राजनीतिविज्ञान तथा न्यायशास्त्र के शब्दों में, संप्रभुता को राज्य का एक अनिवार्य गुण

माना जाता है तथा यह एक ऐसी परिशुद्ध तथा सर्वोच्च सत्ता की द्योतक है, जिस पर आंतरिक या बाह्य सत्ता का कोई नियंत्रण नही होता। 'कूले' ने संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न राज्य की परिभाषा एक ऐसे राज्य के रूप में की है, "जहां स्वयं उसके भीतर एक ऐसी सर्वोच्च तथा परम सत्ता विद्यमान होती है जो किसी को भी अपने से वरिष्ठ नहीं मानती।"

संप्रभुता के इस पारंपरिक अर्थ में आज के किसी भी राज्य को पूरी तरह प्रभुत्व सपन्न नहीं कहा जा सकता। संयुक्त राष्ट्र, यूरोपीय आर्थिक समिति आदि अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता और अंतर्राष्ट्रीय संधियां, समझौते, अभिसमय आदि उस पर बहुत से दायित्व डाल देते हैं और कई तरह के अंकुश लगा देते है जिनसे सप्रभुता पर थोडी बहुत आंच आती ही है।

भारत के संविधान में सपूर्ण प्रभुत्व सपन्न शक्तिया निहित करने के संबंध मे कोई विशिष्ट उपबंध नहीं है। एक ही स्थान ऐसा है जहां से संप्रभुता की विद्यमानता तथा संविधान के स्रोत का सुनिश्चय किया जा सकता है और वह है उद्देशिका। 'हम भारत के लोग' शब्द हमें अमरीकी संविधान की उद्देशिका के आरंभिक शब्दो की याद दिलाते है। किंतु अमरीकी संविधान की उद्देशिका 'हम, संयुक्त राज्यो के लोग' का उल्लेख करती है। इसके पहले के प्रारूप तथा इतिहास इस बात को अच्छी तरह स्पष्ट कर देते हैं कि अमरीकी सविधान निर्माताओ ने अनेक (13) स्वतत्र राज्यों के लोगों का उल्लेख किया था जो 'अपेक्षाकृत अधिक परिपूर्ण संघ' चाहते थे। उन्होंने राष्ट्र के अखंड लोगो का उल्लेख नहीं किया। दूसरी ओर, भारत के संविधान की उद्देशिका में भारतीय संघ के राज्यों के लोगों की बात नहीं कही गई है। अमरीकी सविधान के विपरीत, हमारे संविधान को राज्यों के अनुसमर्थन की कोई जरूरत नहीं है। यह कहकर कि 'हम, भारत के लोग' इस संविधान को स्वीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है, संविधान निर्माताओं ने इस बात की निष्ठापूर्वक पुष्टि की कि हम लोग, भारत के लोग, एक हैं, और हम विभिन्न राज्यो आदि के लोग नहीं हैं, संप्रभुता भारत के सभी लोगो की है, न कि अलग अलग राज्यों के लोगो की; और यह कि संविधान को राज्यो के लोगों द्वारा नहीं बल्कि भारत के सभी लोगों द्वारा अविभाज्य प्रभुत्व संपन्न इकाई के रूप में उनकी सामूहिक हैसियत में निर्मित तथा स्वीकृत किया गया है। इस बात पर जोर देने का प्रयास किया गया था कि हमारा राष्ट्र एक है, हमारा संविधान एक है तथा हमारी राज्य व्यवस्था एक है।

सयुक्त राज्य अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में संप्रभुता संघ[1] अथवा कामनवेल्थ तथा राज्यों के बीच बटी हुई है और प्रत्येक राज्य संविधान द्वारा सौंपे गए क्षेत्र मे प्रभुत्व सपन्न हैं। किंतु इसके विपरीत, भारत में संघ तथा राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन के बावजूद,

---

1. सघ (Union)

इसमें संप्रभुता का कोई विभाजन नहीं है। आपात स्थितियों के दौरान संघ राष्ट्रीय हित मे राज्यों के अधिकार क्षेत्र को लांघ सकता है। सामान्य स्थिति के दौरान भी वह अनुच्छेद 249 के अधीन राज्य सूची में समाविष्ट विषयों पर कानून बनाकर राज्यों के क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता है। हमारी राष्ट्रीय संप्रभुता अखंड तथा अविभाज्य है। कोई भी राज्य या राज्यों का समूह संविधान को रद्द नहीं कर सकता या संविधान द्वारा स्थापित संघ से बाहर नहीं जा सकता। अमरीका में, सघ की अनश्वरता स्थापित करने के लिए गृहयुद्ध छेड़ना तथा जीतना पड़ा था। किंतु हमारे संविधान निर्माताओं ने प्रारंभ में ही संघ की अनश्वरता का उपबंध कर दिया और राज्यों को संघ से अलग होने का कोई अधिकार नहीं दिया। संविधान के अनुच्छेद 1(3) (ग) में स्पष्ट कर दिया गया कि भारत संघ विदेशी राज्य क्षेत्र अर्जित कर सकता है। संघ कतिपय संवैधानिक अपेक्षाओं के अधीन रहते हुए, अपने क्षेत्र का त्याग भी कर सकता है। [*मगनभाई ईश्वरभाई पटेल बनाम भारत संघ* (1970) 3 एस सी सी 100]। संविधान के अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन, सघ की ससद साधारण विधान के द्वारा नये राज्यों को संघ में शामिल कर सकती है या उनकी स्थापना कर सकती है, वर्तमान राज्यों के नाम, क्षेत्र और उनकी सीमाओ में परिवर्तन कर सकती है। नागरिकता सबधी उपबधों के अधीन, भारत के समस्त लोगों को इकहरी नागरिकता प्रदान की गई है; अमरीका की भांति संघ तथा राज्यों की दोहरी नागरिकता नहीं है।

इस प्रकार, हमारे संविधान की उद्देशिका के उपबध पारंपरिक सघवाद, विभाजित सप्रभुता, राज्यों की स्वायत्तता आदि की सभी सकल्पनाओ का अत कर देते है। इसके अलावा, संविधान निर्माताओं ने हमेशा के लिए यह स्पष्ट कर देने का प्रयास किया कि हमारे देश की कार्यप्रणाली में सप्रभुता स्वयं लोगो मे निहित है और यह कि संघ तथा राज्यो के सभी अग तथा कर्मी अपनी शक्ति भारत के लोगों से ही प्राप्त करते हैं।

समाजवाद

संविधान निर्माता नहीं चाहते थे कि संविधान किसी विचारधारा या वाद विशेष से जुड़ा हो या किसी आर्थिक सिद्धांत द्वारा सीमित हो। इसलिए वे उसमे, अन्य बातों के साथ साथ, समाजवाद के किसी उल्लेख को सम्मिलित करने के लिए सहमत नहीं हुए थे। कितु उद्देशिका मे सभी नागरिकों को आर्थिक न्याय और प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता दिलाने के सकल्प का जिक्र अवश्य किया गया था। संविधान (42वा सशोधन) अधिनियम, 1976 के द्वारा हमारे 'गणराज्य' की विशेषता दर्शाने के लिए 'समाजवादी' शब्द का समावेश किया गया। यथासंशोधित उद्देशिका के पाठ मे 'समाजवाद' के उद्देश्य को प्रायः सर्वोच्च सम्मान का स्थान दिया गया है। 'सपूर्ण प्रभुत्व संपन्न' के ठीक बाद इसका उल्लेख किया गया है। किंतु 'समाजवाद' शब्द की परिभाषा संविधान में नहीं की गई।

सविधान (45वा सशोधन) विधेयक मे "समाजवादी" की परिभाषा करने का प्रयास किया गया था तथा उसके अनुसार इसका अर्थ था "सभी प्रकार के शोषण—सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक—से मुक्त।" इस विधेयक को अततः 44वे सशोधन के रूप मे पास किया गया, किंतु इसमे 'समाजवादी' की परिभाषा नहीं थी। 'समाजवाद' की परिभाषा करना कठिन है। विभिन्न लोग इसका भिन्न भिन्न अर्थ लगाते हैं और इसकी कोई निश्चित परिभाषा नही है। शब्दकोश के अनुसार समाजवाद में उत्पादन तथा वितरण के साधन, पूर्णतया या अंशतया, सार्वजनिक हाथों मे अर्थात सार्वजनिक (अर्थात राज्य के) स्वामित्व अथवा नियंत्रण में होने चाहिए।

समाजवाद का आशय यह है कि आय तथा प्रतिष्ठा और जीवन-यापन के स्तर मे विषमता का अत हो जाए। इसके अलावा, उद्देशिका मे 'समाजवादी' शब्द जोड दिए जाने के बाद, संविधान का निर्वचन करते समय न्यायालयों से आशा की जा सकती है कि उनका झुकाव निजी सपत्ति, उद्योग आदि के राष्ट्रीयकरण तथा उस पर राज्य के स्वामित्व के तथा समान कार्य के लिए समान वेतन के अधिकार के पक्ष मे हो।

पंथनिरपेक्षता

शब्दकोशों मे सेक्यूलेरिज्म (धर्मनिरपेक्षता या पथनिरपेक्षता) की परिभाषा 'ऐहिलौकिक अथवा अनाध्यात्मिक', 'धर्म से सबध न रखने वाली', 'विश्वास की पद्धति जिसमे सभी प्रकार की धार्मिक आस्थाओ तथा उपासना को नकारा जाता है', 'अधार्मिक' पद्धति आदि के रूप में की गई है। *इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका* में सेक्यूलेरिज्म (पंथनिरपेक्षता) की परिभाषा 'उपयोगितावादी नैतिकता' के रूप में की गई है, जिसकी अभिकल्पना मानव जाति के भौतिक, आध्यात्मिक और नैतिक सुधार के लिए की गई हो और जो धर्म के आस्तिकता संबधी पक्ष की न तो पुष्टि करता है तथा न ही उसका खडन करता है। *इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसिस* मे इसकी परिभाषा ज्ञान का स्वायत्त क्षेत्र स्थापित करने के ऐसे प्रयास के रूप में की गई है जो अलौकिक पूर्वधारणाओ से मुक्त हो।

ए.आर. ब्लेकशीड ने पश्चिम मे 'सेक्यूलेरिज्म' (पंथनिरपेक्षता) के अवबोधन तथा उसकी सीमाओ को नियत करने का प्रयास किया, पर वे इस शब्द की किसी ऐसी परिभाषा पर पहुंचने में असमर्थ रहे जो पूरी तरह से सक्षम तथा स्वीकार्य हो। वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि यह यथार्थतया धर्म के विरुद्ध नहीं है, किंतु धर्म की परिभाषा करना भी सरल नहीं है। उनके अनुसार, 'पंथनिरपेक्षता' का अर्थ धार्मिक स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता और हेतुवाद, भौतिकवाद और मानववाद आदि विचारों के प्रति आदर माना जा सकता है।

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में पंथनिरपेक्षता की सकल्पना की निम्नलिखित शब्दों में एक तर्कपूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है :

> पथनिरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतत्रता प्रदान करता है, सवैधनिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नही है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है तथा न ही उसमे हस्तक्षेप करता है।

जैसा कि न्यायमूर्ति देसाई ने कहा था, एक पंथनिरपेक्ष राज्य व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है और उसके पंथ की ओर ध्यान नहीं देता। वह किसी पंथ विशेष से जुडा नहीं होता, और वह न तो किसी पथ को बढावा देता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करने का प्रयास करता है। अनिवार्य है कि एक पंथनिरपेक्ष राज्य का धार्मिक कार्यों से कोई संबंध न हो, सिवाय उस स्थिति के जब उनके प्रबंध में अपराध, धोखाधडी अंतर्ग्रस्त हो या वह राज्य की एकता तथा अखडता के लिए खतरा बन जाए।

ज़ियाउद्दीन बुरहामुद्दीन बुखारी बनाम बृज मोहन रामदास मेहरा एंड ब्रदर्स (1975 सप्ली ए सीआर 281) के मामले मे अपना निर्णय सुनाते समय न्यायमूर्ति एम.एच. बेग ने कहा था .

> पथनिरपेक्ष राज्य, पथ के सभी भेदभावों से ऊपर उठकर, अपने सभी नागरिको का, उनके धार्मिक विश्वासो तथा व्यवहारो की ओर ध्यान दिए बिना, कल्याण सुनिश्चित करने का प्रयास करता है। यह सभी जातियो तथा सप्रदायो के नागरिकों को लाभ देने मे तटस्थ या निष्पक्ष होता है। मेटलैंड का मत है कि इस प्रकार के राज्य को अपने कानूनो के माध्यम से यह सुनिश्चित करना होता है कि राजनीतिक या नागरिक अधिकार या इसके अधीन किसी पद या स्थिति को धारण करने या इससे सबंधित कोई सरकारी कर्तव्य निभाने के अधिकार अथवा सामर्थ्य का अस्तित्व या प्रयोग किसी पथ विशेष की आस्था या उसके व्यवहार पर निर्भर न हो।
>
> हमारा संविधान तथा उसके अधीन बनाए गए कानून नागरिको को उनके धार्मिक तथा पूरी तरह पृथक किए जा सकने वाले कानून और राजनीति के पथनिरपेक्ष क्षेत्रो के बीच सुखद और सामजस्यपूर्ण सबध स्थापित करने की खुली छूट देते हैं। किंतु, वे एक दूसरे के क्षेत्र का अनुचित अतिक्रमण करने की इजाजत नहीं देते। किसी विवाद के सिलसिले मे, यह निर्धारण करना न्यायालयों का काम है कि किसी क्षेत्र मे कोई हस्तक्षेप उचित तौर पर और संविधान के अनुसार हुआ है अथवा नहीं, भले ही हस्तक्षेप किसी कानून के द्वारा ही क्यो हुआ हो।

किसी भी ऐसी चीज को जो अनिष्टकारी तथा शोषणकारी है, केवल इसलिए कानून के नियंत्रण से बाहर नहीं रहने दिया जा सकता कि धर्म की आड़ में उसका प्रदर्शन किया जाता है।

न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर, धवन और बेग इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि प्राचीन भारतीय समाज में पंथनिरपेक्षता का अनुसरण किया जाता था तथा उसी तरह से इसके प्रमाण इस्लामी

न्यायशास्त्र मे भी मिलते है। न्यायमूर्ति बेग ने कहा, "पथनिरपेक्षता तथा मजहब के अदर जो सर्वोत्तम विशेषताए है उनका 'सुमधुर सामजस्य तथा सश्लेषण' सभव है।" पथनिरपेक्षता के सिद्धांत का निर्माण प्राचीन न्यायशास्त्र के आधार पर किया जा सकता है। केशवानन्द भारती के मामले मे, न्यायमूर्ति बेग ने मनु तथा पाराशर से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहा.

> हमारे प्राचीन न्यायविदो ने भी इन सिद्धातो की पुष्टि की कि एक पीढी को यह अधिकार नही है कि मूलाधारो के बारे मे भी वह अपने विचार या कानून भावी पीढियो पर लादे। वे न केवल विभिन्न समाजो मे अलग अलग होते है बल्कि एक ही समाज या राष्ट्र की एक ही अथवा दूसरी पीढी मे भी भिन्न भिन्न होते है।

भारतीय संदर्भ मे, पथनिरपेक्षता की किसी औपचारिक या निश्चित परिभाषा के अभाव मे अनेक परस्परविरोधी निर्वचन संभव है।

पश्चिम के विपरीत, भारत मे पथनिरपेक्षता का जन्म चर्च तथा राज्य के परस्पर सघर्ष के कारण नही हुआ। इसकी जडे सभवतया भारत के अपने इतिहास तथा उसकी अपनी संस्कृति मे विद्यमान है। हो सकता है कि वह उसके बहुलवाद का तकाजा हो या हो सकता है कि उसके पीछे सविधान निर्माताओं की यह इच्छा हो कि वे संख्या के भेदभाव के बिना, सभी समुदायों के प्रति न्यायोचित तथा निष्पक्ष व्यवहार करे। इसलिए, हमारी बोलचाल की भाषा मे अग्रेजी 'सैक्यूलरवाद' का प्रयोग अक्सर केवल साप्रदायिकता के विलोम के रूप में किया जाता है।

संविधान सभा ने जिस रूप में उद्देशिका को स्वीकार किया था उसके मूल पाठ में 'पंथनिरपेक्ष' शब्द नहीं था। 'समाजवादी' शब्द की भांति यह शब्द भी आपात स्थिति के दौरान 42वें सविधान संशोधन अधिनियम द्वारा 'गणराज्य' से पूर्व एक अतिरिक्त विशेषण के रूप में जोड़ा गया। इस शब्द को इधर कुछ समय से 'सर्व धर्म समभाव' का अर्थ देने का प्रयास भी किया गया है यानी सभी धर्मों को एक समान समझना या सभी धर्मों का समान रूप से आदर करना। धर्मनिरपेक्षता जो पहले सैक्यूलेरिज्म का शब्दार्थ माना जाता था, अब मान्य नहीं रहा है क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक मामलों मे राज्य संपूर्ण तटस्थता का आचरण करे। संविधान के प्राधिकृत हिंदी पाठ में अब 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है।

यही एक स्वाभाविक तथा एकमात्र संभव निर्वचन है, क्योंकि भारतीय स्थिति के ठोस तथ्यों ने पश्चिम की सैक्यूलरवाद की संकल्पना को पूर्णतया अनुपयुक्त बना दिया है। हमारे संदर्भ में पंथनिरपेक्षता का केवल यही अर्थ है कि हमारा राज्य कोई मजहबी अथवा धर्मतंत्रवादी[1] राज्य नहीं है, राज्य का इस रूप में अपना कोई पंथ, मजहब या संप्रदाय

1. धर्मतंत्रवादी (Theocratic)

नहीं है, इसकी नजरो में सभी पथ बराबर हैं और यह पंथ के आधार पर नागरिकों के बीच कोई विभेद नहीं करेगा।

न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने भारतीय संविधान की पथनिरपेक्षता की परिभाषा करते हुए इसका अर्थ यह बताया है कि सभी नागरिको को नागरिकों के रूप में समान अधिकार प्राप्त हैं तथा इस मामले में उनका पंथ या मजहब पूर्णतया अप्रासंगिक है। उन्होंने कहा कि राज्य किसी पथ विशेष के प्रति आसक्ति नहीं रखता; यह अधार्मिक या धर्मविरोधी नहीं होता, यह सभी पंथों को समान स्वतत्रता प्रदान करता है। "भारतीय पंथनिरपेक्षता ने" धर्म के युक्तियुक्त कार्यों के बीच "तर्कसगत संश्लेषण" स्थापित करने का प्रयास किया। श्री एम.सी सीतलवाड का भी यह विचार था कि पंथनिरपेक्ष राज्य के अधीन सभी नागरिकों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए तथा उनके धर्म के कारण उनके साथ भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए।

42वे संशोधन से पहले, 'सैक्यूलर' शब्द का एकमात्र जिक्र संविधान के अनुच्छेद 25(2) में आया था, जिसमें राज्य को धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी भी 'लौकिक क्रियाकलाप' का विनियमन या निर्बधन करने की शक्ति प्रदान की गई थी। स्पष्ट है कि यहां पर 'सैक्यूलर' शब्द का प्रयोग 'लौकिक' के अर्थ में अथवा शुद्ध धार्मिक से भिन्न मामलों से संबंधित अर्थो मे किया गया था। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम में, जिसके द्वारा 'पथनिरपेक्ष' शब्द जोड़ा गया था, इसकी परिभाषा करने का प्रयास नहीं किया गया। किंतु यह महसूस किया गया कि इस शब्द का जोड़ा जाना केवल उस तथ्य का अनुमोदन तथा स्पष्टीकरण करना था जो, विश्वास किया जाता है कि, संविधान की बुनियादी विशेषता के रूप में पहले से विद्यमान था। केशवानन्द भारती तथा मिनरवा के मामलों में पथनिरपेक्षता को एक बुनियादी विशेषता बताया गया। इसके अलावा, यह मूल अधिकार के रूप में धर्म की स्वतत्रता की गारटी में अंतर्निहित थी। *सेंट जेवियर कालेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य* के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने 1974 में निर्णय दिया कि भल ही संविधान में पथनिरपेक्ष राज्य की बात नहीं कही गई है, फिर भी इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि सविधान निर्माता इसी तरह का राज्य स्थापित करना चाहते थे।

संविधान (45वां संशोधन) विधेयक में यह निर्धारित करने का प्रयास किया गया था कि संविधान के पथनिरपेक्ष तथा लोकतंत्रात्मक स्वरूप को संविधान की एक बुनियादी विशेपता माना जाएगा। किंतु विधेयक को 44वें संशोधन के रूप में अधिनियमित किए जाने से पहले बुनियादी विशेषताओं की सूची को उसमें से निकाल दिया गया था। इसके अलावा उद्देशिका में 'पथनिरपेक्ष' शब्द प्रयोग करने के अलावा, हमारे संविधान में अन्य किसी भी जगह स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा गया कि धर्म को राजनीति के साथ नही मिलाने दिया जाएगा या धार्मिक समस्याओं, निधियों और उपासना के स्थानों का प्रयोग राजनीतिक

उद्देश्यों के लिए नही करने दिया जाएगा। यह भी अभी तय नहीं हो पाया है कि कहां 'पंथ' शब्द का प्रयोग उचित होगा और कहां 'धर्म' का अथवा 'संप्रदाय' का।

शाह बानो के मामले में कानून-निर्माता रूढ़िवादी मुसलमानों के दबाव में आ गए और पंथनिरपेक्षता या सभी के लिए समान न्याय के संवैधानिक संबोध की मूल भावना के नितांत प्रतिकूल मुस्लिम महिला (विवाह-विच्छेद के अधिकार का संरक्षण) अधिनियम, 1986 लाया गया ताकि उच्चतम न्यायालय के निर्णय को रद्द किया जा सके।

बोम्मई वाले मामले में उच्चतम न्यायलय ने मध्य प्रदेश, हिमाचल और राजस्थान में 3 भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी को ठीक ठहराया और कहा कि पंथनिरपेक्षतावाद को संविधान का बुनियादी तत्व माना जाना चाहिए। भाजपा सरकार वाले तीनों राज्यो में पंथनिरपेक्षता को भारी आघात पहुचा था।

जो भी हो, अब भारतीय संवैधानिक विधि मे 'पंथनिरपेक्ष' शब्द का एकमात्र प्रवर्तनीय निर्वचन वही होगा जो संविधान के विभिन्न प्रावधानो जैसे अनुच्छेद 14,15,16,19 और 25 तथा 28 से समझा जा सकता है। उद्देशिका के असंशोधित रूप में भी, अन्य बातो के साथ साथ, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतत्रता शामिल थी। दूसरे शब्दो में, इसमें सभी के लिए धार्मिक स्वतंत्रता का सत्यनिष्ठा के साथ वचन दिया गया था। भारत के सभी लोगों में प्रतिष्ठा तथा अवसर और बंधुता के सिद्धांतो द्वारा इसकी पुन. पुष्टि की गई थी।

संविधान निर्माताओ ने एक ऐसे राष्ट्र का सपना संजोया था जो धर्म, जाति, पथ की समूची विविधताओ से परे होगा। वे धर्म के खिलाफ नहीं थे, कितु वे आशा करते थे कि राजनीतिक एकता जुटाना सभव होगा और धार्मिक मतभेद राष्ट्र-निर्माण मे बाधक नहीं बनेंगे। संविधान में एक ऐसी नयी समाज व्यवस्था की परिकल्पना की गई थी जो सांप्रदायिक संघर्षो से मुक्त होगी तथा जिसका आधार होगा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय। इसमें एक ऐसी राज्य व्यवस्था का निरूपण किया गया था जिसके अंतर्गत कानूनों में धर्म, जाति आदि के आधार पर नागरिको के बीच भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान में एक ऐसी 'पथनिरपेक्ष' व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया जिसके अतर्गत बहुसंख्यकों को राज्य की ओर से कोई विशेष अधिकार नहीं दिए गए या उन्हें कोई प्राथमिकता पाने का अधिकार नहीं दिया गया और अल्पसंख्यको के 'धार्मिक अधिकारों' को अनेक प्रकार से सरक्षण प्रदान किया गया।

यह जरूरी दीख पड़ता है कि पंथनिरपेक्षता शब्द की स्पष्ट परिभाषा स्वय संविधान में ही कर दी जाए, विद्यमान कानूनों को दृढ़ता से लागू किया जाए तथा और भी कड़ा कानून पास किया जाए ताकि कोई दल या व्यक्ति राजनीतिक प्रयोजनों के लिए धर्म का दुरुपयोग न कर सके।

[सविधान (80वां संशोधन) विधेयक, 1993 द्वारा संविधान मे सशोधन करने के निष्फल प्रयास के बारे मे तथा इस विषय की पूरी चर्चा के बारे मे देखिए सुभाष सी. काश्यप, डीलिकिंग रिलिजन एंड पालिटिक्स, नयी दिल्ली, 1993]

लोकतंत्र

'समाजवाद' या 'पंथनिरपेक्षता' की भाति लोकतत्र का भी विभिन्न लोगो ने भिन्न भिन्न अर्थ लगाया है। शब्दिक दृष्टि से यूनानी शब्द 'demos' का अर्थ है, जनता और 'Kratos' का अर्थ है 'सरकार' या 'शासन'। इसलिए लोकतत्र का अर्थ है जनता का शासन। इसके विपरीत है एक व्यक्ति के निरकुश शासन वाली बादशाही या तानाशाही और चंद लोगों के शासन वाला कुलीनतत्र। लोकतत्र के बुनियादी लक्षण हैं कि प्रभुसत्ता लोगों में निहित हो, धर्म, जाति, सप्रदाय, रग या स्त्री-पुरुष के भेदभाव के बिना तथा आर्थिक, शैक्षिक या व्यावसायिक पृष्ठभूमि के स्तर के भेदभाव के बिना, कानून की नजरो मे सभी बराबर हों और प्रत्येक व्यक्ति को इतना सक्षम समझा जाए कि वह उस तरीके से, जिसे वह उचित समझे, स्वय पर शासन कर सके तथा अपने निजी कार्य-व्यापार का प्रबध कर सके। लोकतंत्र मे लोग स्वय अपने स्वामी माने जाते है। उन्हें इस बात का अहस्तातरणीय अधिकार होता है कि स्वय पर शासन करे या अपने मनचाहे तरीके से तथा उन लोगो द्वारा शासित हो जिन्हे वे चुने।

लोकतत्र इस तथ्य को भी स्वीकार करता है कि अनादि काल से मनुष्य सत्ता या सर्वोच्चता के लिए एक-दूसरे के साथ सघर्ष करता रहा है। लोकतत्र सघर्ष का अपेक्षाकृत अधिक सभ्य तरीका प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह सशस्त्र सघर्ष के तरीको के स्थान पर विचार-विमर्श तथा समझाने-बुझाने के तरीको को प्रस्तुत करता है। कारतूसो की पेटी का स्थान मतपेटी ले लेती है। हम एक साथ बैठते है, बातचीत करते है और विचार-विमर्श करते हैं। हम अपने दृढ निश्चय, विचारो और तर्को के बल पर एक-दूसरे को राजी करने और जीतने की कोशिश करते है।

प्राचीन भारतीय ग्राम-गणराज्यो तथा यूनानी नगर-राज्यो मे, सभी नागरिक एक साथ इकट्ठे होकर शासन के मसलो का फैसला करते थे। इस प्रकार, लोग राज्य के मामलो का निर्णय करने मे सत्ता का सीधे प्रयोग करते थे और इस प्रकार की राज्य व्यवस्था को प्रत्यक्ष लोकतत्र कहा जा सकता है। इस स्थिति मे कहा जा सकता है कि कानूनी तथा राजनीतिक सप्रभुता, दोनो ही चीजें लोगो मे निहित होती है। किंतु राजनीतिक इकाइयो के आकार तथा उनकी आबादी मे वृद्धि के साथ और अततः आधुनिक राष्ट्र-राज्यो के आगमन के साथ ही राज्यो के मामलों पर चर्चा करने तथा आसानी से निर्णयों पर पहुचने के लिए लोगों को एक स्थान पर इकट्ठा करना असभव हो गया। इसके अलावा, विधान बनाने तथा राज्य

का प्रशासन करने की प्रक्रिया जटिल से जटिलतर होती गई। इसलिए, जल्दी ही प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सभी प्रकार की प्रणालियां विश्व भर में वस्तुतया समाप्त हो गई। अलबत्ता, स्विट्जरलैंड के कुछ प्रदेश ऐसे बच गए जहां छोटे-से-छोटे प्रश्नों, जैसे क्या स्कूल बृहस्पतिवार को बंद होने चाहिए या क्या ब्रेड की कीमत बढ़ाई जानी चाहिए, आदि का निर्णय अभी भी आम जनमत द्वारा किया जाता है। अति महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय मसलों के संबंध में कुछ स्थानो पर जनमतसंग्रह कराया जा सकता है। इसके अलावा, कुछ देशो (जैसे फ्रांस, आयरलैड, जापान और स्विट्जरलैंड) के संविधानों में ऐसे प्रावधान रखे गए हैं जिनके अंतर्गत संविधान संशोधन के लिए जनमतसंग्रह की व्यवस्था की गई है। लेकिन, वर्तमान समय में विभिन्न देशों में आम लोग अक्सर अपने प्रतिनिधियों का चयन करने के लिए ही नियतकालिक अंतराल के बाद मतदान करते है। इस प्रकार, आधुनिक लोकतंत्र में परोक्ष प्रतिनिधित्व आवश्यक हो गया है, जिसके अंतर्गत शासन संचालन तथा कानूनों का निर्माण लोगों के चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं।

इस प्रकार, लोकतत्रात्मक राज्य व्यवस्था हमारे संविधान की एक बुनियादी विशेषता बन गई है, जिसे किसी भी सवैधानिक संशोधन द्वारा बदला नहीं जा सकता, किंतु लोकतत्र के अनेक रूपातर हैं जिन्हें समान रूप से प्रतिनिधिक तथा उचित माना जा सकता है।

हमने प्रतिनिधिक ससदीय लोकतंत्र को अपनाया है। संविधान निर्माताओं ने प्रयास किया कि भारी संख्या में देश के समस्त वयस्क लोगों को साक्षरता, संपत्ति, आयकर या स्त्री-पुरुष के किसी मानदड के बिना मतदान का अधिकार देकर पूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। इस तथ्य की पुष्टि सार्वजनीन वयस्क मताधिकार के प्रावधानो से हो जाती है। 18 वर्ष तथा इससे ऊपर के सभी वयस्को—पुरुषो तथा स्त्रियों—को मतदान का अधिकार प्राप्त है (अनुच्छेद 326) और कार्यपालिका विधानमडल के लोक-सदन के प्रति उत्तरदायी है [अनुच्छेद 75(3) तथा 164(2)]।

गणराज्यीय स्वरूप

'गणराज्य' की संकल्पना उस राज्य की प्रतीक है जिसमें जनता सर्वोच्च होती है, जिसमे कोई विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होता और सभी सार्वजनिक पदों के द्वार बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक नागरिक के लिए खुले होते है। इसमें कोई वंशानुगत शासक नहीं होता तथा राज्य का अध्यक्ष लोगों द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है। उसे सामान्यतया गणराज्य का राष्ट्रपति कहा जाता है। कूले के अनुसार, गणराज्यीय शासन प्रणाली जन-निर्वाचित प्रतिनिधियों की शासन प्रणाली होती है। न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह के शब्दों में : "गणराज्य एक ऐसा राज्य होता है जिसमें अंतिम विश्लेषण में सर्वोच्च शक्ति जनता में, न कि राजा जैसे किसी एक व्यक्ति में निहित होती है।" इसलिए लोकतंत्रात्मक

गणराज्य से अभिप्राय मोटे तौर पर उस राज्य से होता है जिसमे एक निर्वाचित अध्यक्ष तथा जन-प्रतिनिधियों की सरकार हो। मेडिसन ने *फेडरलिस्ट* में कहा है :

> गणराज्य एक ऐसी शासन प्रणाली है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपनी शक्तिया आम जनता से प्राप्त करती है, और वह उन व्यक्तियों द्वारा शासित होती है जो अपने पद सीमित अवधि के लिए, लोगो के प्रसादपर्यंत या अच्छे व्यवहारपर्यंत धारण करते हैं।

भारत एक गणराज्य है; इस विषय मे उद्देशिका मे जो उल्लेख किया गया है, वह बहुत ही व्यापक अर्थो में किया गया है। 26 जनवरी, 1950 को संविधान के लागू होने के साथ ही भारत डोमिनियन नहीं रहा तथा क्राउन के प्रति उसकी कोई राजनिष्ठा नहीं रही। संघ का अध्यक्ष राष्ट्रपति होता है जो एक नियत अवधि के लिए जनता के प्रतिनिधियों के निर्वाचक मंडल द्वारा चुना जाता है। विधि की नजर में सभी नागरिक बराबर होते हैं; कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होता और नस्ल, जाति, स्त्री-पुरुष या संप्रदाय के आधार पर किसी भेद के बिना सभी सार्वजनिक पदों के द्वार प्रत्येक नागरिक के लिए खुले होते हैं।

राष्ट्रमंडल की सदस्यता : भले ही स्वाधीनता के बाद भी भारत ने राष्ट्रमंडल का सदस्य बने रहने का निर्णय किया, पर इसने प्रभुत्वसपन्न राष्ट्र के रूप मे या एक गणराज्य के रूप में अपनी स्थिति के बारे में किसी तरह का कोई समझौता नहीं किया या अपनी प्रतिष्ठा में किसी कमी का संकेत नहीं दिया। वास्तव में, राष्ट्रमंडल का ही रूपातरण हो गया। ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से यह राष्ट्रों का राष्ट्रमडल बन गया। वह समान तथा पूर्ण प्रभुत्व संपन्न राज्यों का एक स्वच्छंद संगम हो गया जिसमें क्राउन को केवल स्वच्छद संगम के एक प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। राष्ट्रमंडल ने विशिष्ट रूप से भारत की स्थिति को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न स्वतंत्र गणराज्य के रूप में स्वीकार किया। नेहरू जी के शब्दों में नया राष्ट्रमंडल "स्वेच्छा से किया गया एक करार है" जिसे किसी भी समय "स्वेच्छा से समाप्त किया जा सकता है।" इसलिए, राज्य के प्रभुत्व संपन्न, लोकतंत्रात्मक या गणराज्यीय स्वरूप पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सामाजिक तथा आर्थिक लोकतंत्र : मात्र राजनीतिक दृष्टि से कल्पित लोकतत्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक को नियत समय पर होने वाले चुनावों में स्वच्छद रूप से मतदान करने का अधिकार है। सभी लोकतंत्रात्मक चुनावों में 'एक व्यक्ति, एक वोट' के जिस सिद्धांत को लागू किया जाता है, उसका उद्‌गम इस तथ्य की स्वीकृति से हुआ है कि सभी व्यक्तियों के अधिकार समान हैं चाहे वे उच्च शिक्षा प्राप्त हैं या निरक्षर, विशेषज्ञ हैं या टेक्नोक्रेट, उद्योगपति हैं या श्रमिक। किंतु हमारे संविधान निर्माताओं की दृष्टि में लोकतंत्र का अर्थ राजनीतिक लोकतंत्र या नियत समय पर लोगों द्वारा अपने प्रतिनिधियों

को चुनने के लिए मतदान करने का अधिकार मात्र नही है। सामाजिक तथा आर्थिक लोकतत्र के बिना भारत जैसे गरीब देश में राजनीतिक लोकतत्र का कोई अर्थ नहीं है। डा. अंबेडकर के अनुसार, सामाजिक तथा आर्थिक लोकतंत्र वास्तविक उद्देश्य तथा अंतिम लक्ष्य है। उन्होंने कहा था कि संसदीय लोकतंत्र तभी सार्थक होगा जब उसका सदुपयोग आर्थिक लोकतंत्र के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया जाए। जवाहरलाल नेहरू ने बाद में विचार व्यक्त किया था कि उनकी कल्पना का लोकतंत्र लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन मात्र है। लक्ष्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा उत्तम जीवन मिले जिसमें कुछ हद तक आवश्यक आर्थिक जरूरतों की पूर्ति हो। जिस परिमाण मे लोकतत्र आर्थिक समस्याओं को हल करने मे सफल होता है, उसी परिमाण में वह राजनीतिक क्षेत्र मे भी सफल होता है। यदि आर्थिक समस्याएं हल नहीं होती तो राजनीतिक ढाचा कमजोर होता जाता है तथा टूट जाता है। इसलिए, हमें राजनीतिक लोकतत्र से आर्थिक लोकतत्र की ओर बढ़ना चाहिए, जिसका अर्थ है, "कुछ हद तक समस्त लोगों के कल्याण के लिए कार्य किए जाए।" इसे कल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है। कितु इसका अर्थ यह भी है, "आर्थिक क्षेत्र मे कुछ हद तक अवसर की समानता के लिए कार्य किया जाए।" इस बात को उद्देशिका के इन शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि गणराज्य के सभी नागरिकों को 'सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय' मिले।

न्याय

उद्देशिका मे सभी नागरिको को न्याय का आश्वासन दिया गया है। न्याय का अर्थ है, व्यक्तियो के परस्पर हितों, समूहो के परस्पर हितो के बीच और एक ओर व्यक्तियो तथा समूहो के हितो तथा दूसरी ओर समुदाय के हितो के बीच सामजस्य स्थापित हो। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उद्देशिका मे न्याय को स्वतत्रता, समानता और बधुता के सिद्धांतो से ऊंचा स्थान दिया गया है। न्याय की सकल्पना वस्तुतया अति व्यापक है। यह केवल सकीर्ण कानूनी न्याय तक सीमित नहीं जो न्यायालयो द्वारा दिया जाता है। हमारे न्यायालय, आखिरकार, विधि न्यायालय हैं। न्याय की परिभाषा या व्याख्या सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के रूप में की गई है। इसमें भी सामाजिक तथा आर्थिक न्याय को राजनीतिक न्याय से उच्चतर स्थान दिया गया है।

सामाजिक न्याय से मंतव्य यह है कि सभी नागरिकों को समान समझा जाता है और जन्म, मूलवंश, जाति, धर्म, स्त्री-पुरुष, उपाधि आदि के कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा का न्याय के मामलों में कोई लिहाज नहीं किया जाता। अनुच्छेद 15 में सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश के मामले में विभेद या निर्योग्यता का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 38 में राज्य को निर्देश दिया गया है कि वह "ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक

और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके" लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करे। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में : "सामाजिक न्याय ने सदैव संवेदनशील व्यक्तियों को आकर्षित किया है। मेरे विचार में, मार्क्सवाद के प्रति करोड़ों लोगों का बुनियादी आकर्षण इसलिए नहीं था कि उसने वैज्ञानिक सिद्धांत को अपनाने का प्रयास किया बल्कि उसका कारण था सामाजिक न्याय के प्रति उसका गहरा लगाव।"

काम की मानवोचित दशाओ, प्रसूति सहायता, अवकाश, पिछड़े वर्गो के आर्थिक हितो की अभिवृद्धि, न्यूनतम मजदूरी, बेगार के प्रतिषेध आदि से संबंधित समस्त प्रावधानो (अनुच्छेद 23 तथा 43) का लक्ष्य सामाजिक न्याय है।

आर्थिक न्याय मे अपेक्षा की जाती है कि अमीरो तथा गरीबो के साथ एक-सा व्यवहार किया जाए और उनके बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया जाए। आर्थिक न्याय के उद्देश्य के अनुसरण में, अनुच्छेद 39 राज्य को निदेश देता है कि वह इस बात को सुनिश्चित करे कि सभी नागरिको को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हों, समाज की भौतिक संपदा के स्वामित्व और नियत्रण का बटवारा इस प्रकार हो कि उससे सामूहिक हित सर्वोत्तम रूप से सिद्ध हो; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि उससे धन और उत्पादन के साधनों का सकेद्रण सामूहिक हित के प्रतिकूल न हो, पुरुषों और स्त्रियो दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले; स्त्रियो और बच्चो का दुरुपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिको को ऐसे रोजगारों मे न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो और बच्चो को स्वतत्र तथा गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाए दी जाए और बालको की सुकुमार अवस्था की शोषण आदि से रक्षा की जाए।

वास्तव में संविधान के भाग 4 मे विभिन्न अन्य अनुच्छेदों (अनुच्छेद 36 से 51) का लक्ष्य भी न्याय से अनुप्राणित एक नयी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था सुनिश्चित करना है। इस प्रकार, इसमें कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने के अधिकार का, काम की न्यायसगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का, कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि का, बालकों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का, कमजोर वर्गो के शैक्षिक तथा आर्थिक हितों की अभिवृद्धि का और कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथक्करण आदि का उपबंध किया गया है।

राजनीतिक न्याय का अर्थ यह है कि जाति, मूलवंश, संप्रदाय, धर्म या जन्मस्थान के आधार पर विभेद के बिना सभी नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने के अधिकारों में बराबर का हिस्सा मिले। अनुच्छेद 16 में लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता की गारंटी दी गई है और अनुच्छेद 325 तथा 326 में सभी वयस्कों को चुनावों में भाग

लेने के बराबर के अधिकार दिए गए हैं।

नेहरू तथा अंबेडकर जैसे संविधान निर्माताओं का यह स्पष्ट मत था कि आर्थिक न्याय के बिना राजनीतिक न्याय निरर्थक है। धर्म, जाति एवं सप्रदाय के भेदभावों से ग्रस्त हमारे समाज में आर्थिक न्याय तब तक काफी नहीं है जब तक उसके साथ सामाजिक न्याय जुड़ा हुआ न हो। डा. अंबेडकर ने कहा था ·

> 26 जनवरी, 1950 को हम अंतर्विरोधो के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में हमें समानता प्राप्त होगी और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन मे हमे समानता प्राप्त नहीं होगी। राजनीति में, हम 'एक व्यक्ति एक वोट' और 'एक वोट एक मूल्य' सिद्धात को मान्यता देंगे। हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में, हम, हमारे सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे के कारण, 'एक व्यक्ति एक मूल्य' के सिद्धात को नकारते रहेगे।

स्वतंत्रता

'लिबर्टी (स्वतंत्रता)' शब्द लैटिन शब्द 'लिबर' से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा बंधनमुक्ति, कारामुक्ति, दासता-मुक्ति, कृषि-दासता से मुक्ति या निरकुशता से मुक्ति। उदार पश्चिमी परंपराओ की कल्पना के अनुसार तथा अहस्तक्षेप के सिद्धांतों के संदर्भ मे स्वतत्रता अधिकाशतया एक नकारात्मक सकल्पना है। इसका अर्थ है व्यापार तथा उद्यम की स्वतत्रता पर, व्यापार तथा कारोबार मे अवसर की समानता पर, संविदा तथा प्रतियोगिता की स्वतत्रता पर नियत्रण का न होना। स्वतत्रता की कल्पना इस प्रकार की गई थी कि उसमें व्यक्ति की कार्य-स्वतंत्रता में सरकार का हस्तक्षेप न हो। किंतु, हमारे संविधान की उद्देशिका मे स्वतंत्रता का अर्थ केवल नियत्रण या आधिपत्य का अभाव ही नहीं है। यह "विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतत्रता" के अधिकार की सकारात्मक संकल्पना है। इसमे उन विभिन्न स्वतत्रताओं का समावेश है जिन्होंने बाद मे संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग मे मूर्त रूप लिया तथा जिन्हे व्यक्ति और राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक समझा गया। मिसाल के लिए, अनुच्छेद 19 मे भाषण तथा अभिव्यक्ति आदि की स्वतत्रता के अधिकारों की रक्षा की गारटी दी गई है और अनुच्छेद 25-28 में विश्वास, धर्म और उपासना समेत धर्म की स्वतत्रता का अधिकार समाविष्ट है। इस सकारात्मक अर्थबोध मे स्वतत्रता का अर्थ होगा किसी व्यक्ति की अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने की स्वतत्रता। किंतु, 'स्वतत्रता' तथा 'स्वेच्छाचार' (लाइसेंस) का अतर स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। विचार, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता का, जिस रूप में उसकी व्याख्या संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग में की गई है, विनियमन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे राज्य, लोक हित आदि की सुरक्षा खतरे मे न पड़ जाए।

समानता

फ्रासीसी क्राति के नेताओं का विश्वास था कि कानून की नजर में सभी व्यक्ति समान हैं। कानून चाहे किसी को बचाता है या सजा देता है, ऐसा उसे जन्म आदि के विभेद का लिहाज किए बिना ही करना चाहिए। इसके अलावा, सभी नागरिक केवल अपनी क्षमता, गुण और प्रतिभा के अनुसार सभी लोक पद, सम्मान और स्थान प्राप्त करने के लिए समान रूप से पात्र है।

राजनीतिविज्ञान के संदर्भ में 'समानता' का अर्थ यह नहीं है कि सभी पुरुष (तथा स्त्रियां) सभी परिस्थितियों में बराबर है। उनके बीच शारीरिक, मानसिक और आर्थिक अतर तो होंगे ही। हमारी उद्देशिका में केवल प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता की सकल्पना का समावेश किया गया है। इसके कानूनी, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलू है। सभी नागरिक विधि की नजर में बराबर है और उन्हें देश की विधियों का समान रूप से सरक्षण प्राप्त है। सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश तथा लोक नियोजन के विषय में धर्म, मूलवंश, जाति, स्त्री-पुरुष या जन्मस्थान के आधार पर एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच कोई विभेद नहीं हो सकता। सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मतदान करने तथा शासन की प्रक्रिया में भाग लेने के राजनीतिक अधिकारो को प्राप्त करने का बराबर का हक है। आर्थिक क्षेत्र में समानता का अर्थ यह है कि एक-सी योग्यता तथा एक-से श्रम के लिए वेतन भी एक-सा होगा। इसके अलावा, एक व्यक्ति या एक वर्ग अन्य व्यक्तियों या वर्गो का शोषण नहीं करेगा। प्रतिष्ठा तथा अवसर की समानता की सकल्पना को अनुच्छेद 14 से 18 में ठोस आकार तथा रूप दिया गया है।

बंधुता

न्याय, स्वतंत्रता और समानता के आदर्श तभी तक प्रासंगिक तथा सार्थक होते है जब तक वे भाईचारे की, भारतीय बधुत्व की, एक ही भारतमाता के सपूत होने की सर्वसाझी भावना को बढ़ावा देते हैं और इसमें जातीय, भाषाई, धार्मिक और अन्य अनेक प्रकार की विविधताएं आडे नहीं आतीं। सर्वसामान्य नागरिकता से संबधित उपबंधों का उद्देश्य भारतीय बंधुत्व की भावना को मजबूत करना तथा एक सुदृढ़ भारतीय भाईचारे का निर्माण करना है। सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकारों की जो गारंटी दी गई है और सामाजिक तथा आर्थिक समानता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो निदेशक सिद्धांत बनाए गए हैं, उनका उद्देश्य भी बंधुता को बढ़ावा देना है। इस संकल्पना को संविधान के नये भाग 4 (क) में विशिष्ट रूप से स्पष्ट किया गया है और उसमें नागरिकों के मूल कर्तव्य निर्धारित किए गए हैं। इसके अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को, अन्य बातों के साथ साथ, यह कर्तव्य भी सौंपा गया है कि वे सभी धार्मिक, भाषाई और क्षेत्रीय या वर्गगत विविधताओं को

लांघकर भारत के सभी लोगो मे समरसता और सर्वसामान्य भाईचारे की तथा एक भारतीय परिवार से सबंध रखने की भावना को बढ़ावा दे। वास्तव मे, बधुता की सकल्पना पंथनिरपेक्षता की संकल्पना से कहीं अधिक व्यापक है। यह धर्म तथा राजनीति के पृथक्करण, धर्म की स्वतत्रता, सभी धर्मो के प्रति समान आदर आदि से कहीं आगे जाती है। दुर्भाग्यवश, न्यायविदो तथा न्यायाधीशों ने इस सकल्पना को पर्याप्त महत्व नहीं दिया है। बंधुता के सिद्धात को मान्यता देने की जरूरत के विषय मे बोलते हुए डा. अबेडकर ने संविधान सभा में कहा था :

> बधुता का अर्थ क्या है? बधुता का अर्थ है सभी भारतीयो के सर्वसामान्य भाईचारे की, सभी भारतीयो के एक होने की भावना। यही सिद्धात सामाजिक जीवन को एकता तथा अखडता प्रदान करता है। इसे प्राप्त करना कठिन है।

बधुता का एक अतर्राष्ट्रीय पक्ष भी है जो हमे विश्व-बधुत्व की सकल्पना 'वसुधैव कुटुंबकम्'—अर्थात समूचा विश्व एक परिवार है—के प्राचीन भारतीय आदर्श की ओर ले जाता है। इसे संविधान के अनुच्छेद 51 मे निदेशक सिद्धातो के अतर्गत स्पष्ट किया गया है।

व्यक्ति की गरिमा

बधुता से व्यक्ति की गरिमा को सुरक्षित रखने तथा बढ़ावा देने की आशा की जाती है। संविधान निर्माताओ के मन मे व्यक्ति की गरिमा सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि स्वतंत्रता, समानता आदि के मूल अधिकारों की गारटी करके तथा निदेशक तत्वों के रूप मे राज्य का ये दिशानिर्देश जारी करके कि वह अपनी नीतियों को इस प्रकार ढाले कि सभी नागरिको को, अन्य बातो के साथ साथ, जीविका के पर्याप्त साधन, काम की न्यायसंगत तथा मानवोचित दशाएं और एक समुचित जीवन-स्तर उपलब्ध कराया जा सके, व्यक्ति के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाया जाए। अनुच्छेद 17 में दिए गए मूल अधिकार का उद्देश्य अस्पृश्यता के आचरण का अत करना था, जो मनुष्य की गरिमा का एक अपमान था। अनुच्छेद 32 में ऐसा उपबंध किया गया कि कोई व्यक्ति अपने मूल अधिकारों के प्रवर्तन तथा अपनी व्यक्तिगत गरिमा की रक्षा के लिए सीधे उच्चतम न्यायालय के पास भी जा सकता है।

राष्ट्र की एकता तथा अखंडता

व्यक्ति की गरिमा को तभी सुरक्षित रखा जा सकता है जब राष्ट्र का निर्माण हो तथा इसकी एकता और अखंडता सुरक्षित रहे। सर्वसामान्य भाईचारे तथा बंधुत्व की भावना के द्वारा ही हम अत्यधिक बहुवादी तथा पंचमेल समाज में राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने की

आशा कर सकते है। इसके अलावा, राष्ट्र की एकता तथा अखंडता के बिना, हम अपने आर्थिक विकास के प्रयासो मे सफल नही हो सकते और न ही हम लोकतत्र या देश की स्वाधीनता तथा देशवासियो के सम्मान की रक्षा करने की आशा कर सकते है। इसलिए, अनुच्छेद-51 (क) के अतर्गत सभी नागरिको का यह कर्तव्य बना दिया गया है कि वे भारत की सप्रभुता, एकता और अखडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे। कम-से-कम ऐसे मामलो मे, जो राष्ट्र की एकता तथा अखडता के लिए खतरा बन सकते हों, सभी नागरिकों मे यह आशा की जाती है कि वे सभी भेदभावों को भुलाकर तथा अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर उनका मुकाबला करेंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो राष्ट्र-निर्माण का कार्य असंभव हो जाता है।

निष्कर्ष

उद्देशिका मे समाविष्ट विभिन्न सकल्पनाओ तथा शब्दो से पता चलता है कि हमारी उद्देशिका के उदात्त और गरिमामय शब्द भारत के समूचे सविधान के साराश, दर्शन, आदर्शो और उसकी आत्मा का निरूपण करते है। संविधान के अन्य भाग तथा उपबंध उद्देशिका के शब्दो की एक व्याख्या तथा उन्हे ठोस रूप, विचार-तत्व और अर्थ प्रदान करने का एक प्रयास मात्र है। इसमे कोई अचभे की बात नही कि उच्चतम न्यायालय ने पाया कि उद्देशिका मे सविधान की कुछ ऐसी बुनियादी विशेषताए अंतर्निहित है जिन्हे अनुच्छेद 368 के अधीन सविधान के किसी सशोधन द्वारा भी बदला नही जा सकता।

किंतु यह लगता है कि उद्देशिका मे प्रयोग मे लाए गए 'समाजवादी', 'पथनिरपेक्ष' आदि शब्द बहुत ही अस्पष्ट है और सविधान में उनकी सही सही परिभाषा न होने के कारण हमारी राज्य व्यवस्था को काफी दिक्कतो का सामना करना पडा है। इसलिए उचित यही है कि एक संविधान सशोधन के द्वारा उनकी परिभाषा कर दी जाए।

6

संघ और उसका राज्य क्षेत्र

भाग 1, अनुच्छेद 1-4

अनुच्छेद 1 में निर्धारित किया गया है कि भारत अर्थात इंडिया राज्यों का सघ होगा। भारत के राज्य क्षेत्र में (i) राज्यों के राज्य क्षेत्र, (ii) संघ राज्य क्षेत्र, और (iii) ऐसे अन्य राज्य क्षेत्र जो अर्जित किए जाएं, यथा भारत मे पांडिचेरी, कारिकल, माही और यनम (फ्रासीसी) और गोवा, दमण और दीव और दादरा तथा नागर हवेली (पुर्तगाली) जैसे फ्रासीसी तथा पुर्तगाली अधिकृत क्षेत्र समाविष्ट होंगे, जो भारत मे उनके विधितः अतरण के बाद 1962 में 14वे, 12वे और 10वें संविधान संशोधनों के द्वारा संघ में जोड़ दिए गए थे। [देखिए *अमरसिंह बनाम राजस्थान राज्य,* ए आई आर 1955 एस सी 504, *मस्तान सिंह बनाम मुख्य आयुक्त,* ए आई आर 1962 एस सी 797; और *हरिवंश बनाम महाराष्ट्र राज्य* (1971) 2 एस सी सी 54]।

राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों के नाम तथा प्रत्येक के अतर्गत आने वाले राज्य क्षेत्रों का वर्णन प्रथम अनुसूची में किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने यह फैसला किया है कि किसी समय विशेष पर 'भारत का राज्य क्षेत्र' वह राज्य क्षेत्र है जो संविधान के अनुच्छेद 1 के अंतर्गत प्रथम अनुसूची में निर्दिष्ट किया गया है। (*अमर सिंह बनाम राजस्थान राज्य,* ए आई आर 1955 एस सी 504; *मस्तान सिंह बनाम मुख्य आयुक्त,* ए आई आर 1962 एस सी 797)।

संविधान सभा द्वारा अगीकृत तथा संविधान में समाविष्ट प्रथम अनुसूची में राज्यों तथा राज्य क्षेत्रों की चार श्रेणियों यानी भाग क, भाग ख और भाग ग के राज्यों और भाग घ के राज्य क्षेत्रों का वर्णन था। भाग क में भूतपूर्व ब्रिटिश भारत के प्रांत सम्मिलित थे। विधानमंडल सहित पांच देसी रियासतों को भाग ख में रखा गया था। भाग ग में पाच केंद्रशासित राज्य सम्मिलित थे। अदमान तथा निकोबार द्वीपों का उल्लेख भाग घ में किया गया था। संविधान लागू होने के बाद के वर्षो के दौरान भारत के मानचित्र में

काफी परिवर्तन हो गए। आंध्र अधिनियम, 1953 द्वारा भाषाई आधार पर आंध्र के एक पृथक राज्य का सृजन किया गया। अंततः संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 के अधीन राज्यों के पुनर्गठन ने भाग क तथा भाग ख के राज्यों का अंतर समाप्त कर दिया। तत्पश्चात, अनेक नये राज्यों का निर्माण किया गया, जैसे हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा। इस समय अनुसूची में निम्नलिखित 25 राज्य तथा सात संघ राज्यक्षेत्र सम्मिलित हैं :

राज्य : (1) आंध्र प्रदेश, (2) अरुणाचल प्रदेश, (3) असम, (4) बिहार, (5) गोवा, (6) गुजरात, (7) हरियाणा, (8) हिमाचल प्रदेश, (9) जम्मू-कश्मीर, (10) कर्नाटक, (11) केरल, (12) महाराष्ट्र, (13) मध्य प्रदेश, (14) मणिपुर, (15) मेघालय, (16) मिजोरम, (17) नागालैंड, (18) उड़ीसा, (19) पंजाब, (20) राजस्थान, (21) सिक्किम, (22) तमिलनाडु, (23) त्रिपुरा, (24) उत्तर प्रदेश, (25) पश्चिमी बंगाल।

संघ राज्यक्षेत्र : (1) अंदमान और निकोबार द्वीप, (2) चंडीगढ़, (3) दादरा और नागर हवेली, (4) दमण और दीव, (5) दिल्ली (अब इसका नाम राष्ट्रीय राजधानी राज्य क्षेत्र है) (6) लक्षद्वीप, (7) पांडिचेरी।

देश के नाम के विषय में संविधान सभा मे काफी विस्तार से चर्चा की गई थी। जहां 'भारत' प्राचीन नाम था और वह देश की एकता तथा अखडता की चेतना की प्रथम अभिव्यक्ति को निरूपित करता था, वहा 'इंडिया' आधुनिक नाम था जिससे देश विश्व भर मे जाना जाने लगा था। सयुक्त राष्ट्र के सदस्य के रूप मे भी इसका नाम 'इंडिया' था और सभी अतर्राष्ट्रीय समझौते इसी नाम से किए गए थे। अतः दोनो नामो के प्रबल पक्षधर थे। अंततः, भारत अर्थात 'इंडिया' के नाम को एक शुभ समझौते के रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

भारत एक 'सघ' है, इस बात पर बल देने का प्रयोजन इस तथ्य को प्रकाश में लाना था कि यह संघटक इकाइयो के बीच सौदेबाजी या समझौते का परिणाम नही है बल्कि यह संविधान सभा की एक स्पष्ट घोषणा है जिसने अपनी शक्ति तथा प्राधिकार भारत की प्रभुत्व संपन्न जनता से प्राप्त किया था। इसलिए, कोई भी राज्य सघ से अलग नहीं हो सकता और न ही अपनी मर्जी से संविधान की प्रथम अनुसूची मे निर्धारित अपने राज्य क्षेत्र मे परिवर्तन कर सकता है। डा. अबेडकर ने संविधान सभा मे कहा था :

> अमरीकियो को यह सिद्ध करने के लिए गृहयुद्ध छेड़ना पड़ा था कि राज्यो को अलग होने का कोई अधिकार नही है तथा उनका फेडरेशन अविनाशी है। प्रारूपण समिति का विचार था कि इसे अटकलबाजी या विवाद के लिए छोड़ देने की बजाय बेहतर यही है कि इसे आरभ मे ही स्पष्ट कर दिया जाए।

हमारा देश फेडरेशन है या नहीं—इस विषय में काफी विचार-विमर्श किया गया है।

(देखिए अध्याय 4 'संविधान की विशेषताए' के अतर्गत)।

अनुच्छेद 2 मे उपबध किया गया है कि ससद, विधि द्वारा, ऐसे निबधनो और शर्तो पर जो वह ठीक समझे, भारत सघ मे नये राज्यो का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकेगी। 1974 तथा 1975 मे 35वे तथा 36वें संविधान संशोधनो द्वारा जिस नवीनतम राज्य को सघ में जोड़ा गया, वह था सिक्किम राज्य। ऐसा सिक्किम विधान सभा के अनुरोध पर और जनमत सग्रह के द्वारा सिक्किम के लोगों की स्वीकृति से किया गया था।

अनुच्छेद 3 के अधीन संसद को किसी राज्य में से उसका राज्य क्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागो को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नये राज्य का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त है। वह किसी राज्य का क्षेत्र बढा या घटा सकती है और यहा तक कि किसी राज्य की सीमाओ में या उसके नाम मे परिवर्तन भी कर सकती है। इस प्रकार किसी राज्य की राज्य क्षेत्रीय अखडता अथवा उसके अस्तित्व के बने रहने की कोई गारटी नहीं है। लेकिन, इसके साथ ही, यह निर्णय दिया गया है कि किसी राज्य के क्षेत्र को घटाने की ससद की शक्ति में भारतीय राज्य क्षेत्र को किसी विदेशी राज्य को समर्पित करने की शक्ति सम्मिलित नहीं है। (*बेरुबाडी के सबंध में सघ तथा बस्तियों का विनियम* ए आई आर 1950 एस सी 845, 857)। अत कहा जा सकता है कि भारत नाशवान राज्यों का अविनाशी सघ है।

किंतु, राज्यों को अनुच्छेद 3 के अतर्गत उनके राज्य क्षेत्रो में परिवर्तन के सबध मे अपनी बात कहने का अधिकार है। उनके इस अधिकार की रक्षा के लिए सविधान मे एक व्यावृत्ति-खड रखा गया है। पहली शर्त यह है कि इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना, ससद के किसी भी सदन मे कोई विधेयक पेश नही किया जा सकता है। दूसरे, यदि विधेयक में शामिल प्रस्ताव किसी भी राज्य के क्षेत्र, उसकी सीमाओ या उसके नाम को प्रभावित करता हो तो वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा संबंधित राज्य के विधानमंडल के पास उस पर राय व्यक्त करने के लिए भेजा जाना चाहिए। इस प्रकार की राय राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट अवधि के अदर अदर व्यक्त की जानी चाहिए। बहरहाल, राज्य विधानमंडल द्वारा व्यक्त विचार राष्ट्रपति या संसद पर बाध्यकारी नहीं होते। (*बाबूलाल बनाम बबई राज्य* ए आई आर 1960 एस सी 51)।

अनुच्छेद 4 में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन नये राज्यों की स्थापना या उनके प्रवेश और विद्यमान राज्यों के नामों, क्षेत्रों और उनकी सीमाओ आदि में परिवर्तन के लिए बनाई गई विधिया अनुच्छेद 368 के अधीन सविधान के सशोधन नहीं मानी जाएंगी; अर्थात इन्हें बिना किसी विशेष प्रक्रिया के तथा किसी भी अन्य साधारण विधान की तरह साधारण बहुमत द्वारा पारित किया जा सकता है।

हालांकि संविधान में नये राज्य क्षेत्रों के अर्जन, नये राज्यो के प्रवेश तथा निर्माण आदि का उपबंध किया गया है, किंतु इसमे भारतीय राज्य क्षेत्र को अलग करने या अंतरित करने का कोई उपबंध नहीं है।

राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय की राय मांगे जाने पर, उच्चतम न्यायालय ने बेरुबाड़ी संघ ए आई आर 1960 एस सी 845 के सबंध में राय व्यक्त की कि संविधान सशोधन के बिना कोई राज्य क्षेत्र दूसरे को नहीं सौंपा जा सकता। इसलिए, बेरुबाडी राज्य क्षेत्र के भाग को पाकिस्तान को अंतरित करने के लिए संविधान (नवां सशोधन) अधिनियम पारित किया गया था।

पिछले चार दशकों से अधिक अवधि के दौरान जिस आसानी के साथ भारत के मानचित्र को नया रूप दिया गया है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सविधान में एक अनूठी सुनम्यता तथा लोच है और यह अनुच्छेद 2 और 3 तथा 4 की आवश्यकता तथा उनके औचित्य की पुष्टि करता है। दूसरी ओर, भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की बुद्धिमत्ता अथवा अबुद्धिमत्ता के सबध मे कड़े विचार व्यक्ति किए गए। इसके अलावा राज्यों का और पुनर्गठन करने की मागों का एक कभी न खत्म होने वाला सिलसिला बन गया है और कुछ लोग इस पक्ष मे है कि राज्य छोटे आकार के तथा और अधिक सख्या में होने चाहिए।

7

नागरिकता

भाग 2, अनुच्छेद 5-11

नागरिकता लोकतंत्रात्मक राज्यव्यवस्था के मूल अपरिहार्य सिद्धांत को कानूनी रूप प्रदान करती है। वह इसका प्रतीक है कि व्यक्ति को राज्य की पूर्ण राजनीतिक सदस्यता प्राप्त है, राज्य के प्रति उसकी स्थायी निष्ठा है और वह राज्य द्वारा इस बात की आधिकाधिक स्वीकृति है कि उसे राजनीतिक प्रणाली में शामिल कर लिया गया है। नागरिकता कतिपय दायित्व, अधिकार, कर्तव्य और विशेषाधिकार प्रदान करती है। ये विदेशियो को प्राप्त नहीं होते। सभी लोक पदो के द्वार नागरिक के लिए खुले होते है। वह सभी लोक सेवाओं मे भर्ती का पात्र होता है। मतदान करने का अधिकार तथा कतिपय मूल अधिकार केवल नागरिकों को सुलभ होते है और कर अदा करने, राष्ट्र की रक्षा करने आदि जैसे दायित्व नागरिको के होते हैं। नागरिकता को व्यक्ति तथा राज्य के बीच कानूनी संबंध के रूप में भी देखा जा सकता है, जिसके अंतर्गत व्यक्ति अपनी निष्ठा राज्य के प्रति व्यक्त करता है और राज्य व्यक्ति को अपना सरक्षण प्रदान करता है। इस संबध का विनियमन राष्ट्रीय विधि करती है तथा उसे मान्यता अंतर्राष्ट्रीय विधि प्रदान करती है।

26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा ने संविधान को अंगीकृत किया तथा नागरिकता से संबंधित अनुच्छेद 5 से 9 को तुरंत लागू कर दिया। इससे पहले भारतीय नागरिकता की कोई संकल्पना विद्यमान नहीं थी। उस समय तक, हममें से जो लोग ब्रिटिश भारत में रहते थे, क्राउन के अधीन थे और इस प्रकार ब्रिटिश प्रजा थे। उन पर ब्रिटिश राष्ट्रिकता कानून लागू होते थे और जो लोग देसी रियासतों के रहने वाले थे, उन्हें ब्रिटिश संरक्षण-प्राप्त व्यक्तियों का दर्जा प्राप्त था।

भारत के बंटवारे और बड़ी संख्या में लोगों के प्रवास ने नागरिकता के निर्धारण के लिए बहुत बड़ी समस्याएं पैदा कर दीं। संविधान में नागरिकता से संबंधित उपबंधों यानी अनुच्छेद 5 से 11 ने संविधान प्रारूपण समिति को सबसे अधिक परेशान किया और उसके

अनेक प्रारूप तैयार करने तथा उसे अंतिम रूप देने में दो वर्ष से भी अधिक लग गए। फिर भी, संविधान में केवल इस संबंध में विधि निर्धारित की गई कि संविधान के प्रारंभ के समय कौन व्यक्ति भारत का नागरिक होगा। इसमें नागरिकता के अर्जन तथा निरसन के तरीके के बारे में कोई उपबंध नहीं था। अनुच्छेद 11 में कहा गया था कि संसद नागरिकता के अधिकार को विधि द्वारा विनियमित कर सकती है। 1955 में पारित किए गए भारतीय नागरिकता अधिनियम में नागरिकता के अर्जन तथा निरसन के बारे में विधि बनाई गई।

अनुच्छेद 5-8 के अंतर्गत 'प्रत्येक उस व्यक्ति' को नागरिकता प्रदान की गई जो संविधान के प्रारंभ के समय निम्नलिखित में से किसी एक श्रेणी के अंतर्गत आता था :

1. भारत का अधिवासी तथा भारत में जन्मा—भारत संघ की अधिकांश जनसंख्या ऐसे व्यक्तियों की थी;
2. अधिवासी, जो भारत में नहीं जन्मा, किंतु जिसके माता-पिता में से कोई भारत में जन्मा था;
3. अधिवासी, जो भारत में नहीं जन्मा, किंतु जो पाच वर्ष से अधिक समय तक भारत का सामान्यतया निवासी रहा था;
4. भारत का निवासी किंतु जो 1 मार्च, 1947 के बाद पाकिस्तान चला गया था और बाद में पुनर्वास अनुज्ञा[1] लेकर भारत लौट आया था;
5. पाकिस्तान का निवासी किंतु जो 19 जुलाई, 1948 से पहले भारत में प्रवास कर गया था अथवा जो उस तारीख के बाद आया था किंतु छह महीने से अधिक समय से भारत में निवास कर रहा था और जिसने विहित ढंग से पंजीकरण करा लिया था;
6. भारत के बाहर रहने वाला, किंतु जिसके माता-पिता में से कोई या पितामह-पितामही अथवा मातामह-मातामही में से कोई भारत में जन्मा था।

इस प्रकार, संविधान के प्रारभ के समय नागरिकता के लिए (i) अधिवास के आधार पर (ii) पाकिस्तान से आए तथा वहां गए व्यक्तियों के लिए, और (iii) विदेशों में रहने वाले भारतीयों के लिए नागरिकता के उपबंध समाविष्ट किए गए थे।

अधिवास : अधिवास किसी देश की नागरिकता के लिए एक महत्वपूर्ण मानदंड है। हालांकि भारत के संविधान में इस शब्द की परिभाषा नहीं दी गई है, फिर भी अधिवास का अर्थ, सामान्यतया व्यक्ति के उस आवास से होता है जहां वह स्थायी आधार पर रहने का इरादा रखता है। इस प्रकार, स्थायी आवास तथा वहां अनिश्चित काल के लिए रहने का इरादा 'अधिवास' के दो प्रमुख तत्व हैं (*मो. रजा बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1966 एस सी 1436)। अनुच्छेद 5 में प्रावधान किया गया है कि यदि कोई व्यक्ति, संविधान के प्रारंभ

1. पुनर्वास अनुज्ञा (Resettlement Permit)

पर भारत के राज्य क्षेत्र में अधिवास करता है, उसका या उसके माता-पिता मे से किसी एक का भारत में जन्म हुआ था, या वह संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले कम से कम पांच वर्ष तक भारत के राज्य क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा है, तो वह भारत की नागरिकता का हकदार बन जाता है।

कोई व्यक्ति जन्म या आवास के आधार पर पूर्वोक्त अधिवास को बदल सकता है। इसके लिए वह अपनी इच्छा के अनुसार अपने इस इरादे की घोषणा कर सकता है कि वह किसी अन्य देश में अनिश्चित काल तक रहना चाहता है। वास्तव में, नागरिकता का पता अधिवास से चलता है न कि अधिवास का नागरिकता से। अधिवास नागरिकता से भिन्न होता है क्योंकि उसका संबंध मुख्यतया राज्य क्षेत्र से होता है न कि उस समुदाय की सदस्यता से, जो नागरिकता के सिद्धांत के मूल में होती है (*अब्दुल रहमान बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1964 पेटेट 384)। संविधान दोहरी नागरिकता को अस्वीकार करता है। इकहरी नागरिकता प्रदान करता है और उसका सबंध समूचे भारत के राज्य क्षेत्र में अधिवास से है न कि उसके किसी एक भाग में अधिवास से। संयुक्त राज्य अमरीका की भांति भारत में राज्य की कोई पृथक नागरिकता नहीं है। इसलिए, यह कहना ठीक नहीं है कि भारत का कोई नागरिक भारत संघ के किसी एक या दूसरे राज्य का अधिवासी होता है। उसका अधिवास केवल इकहरा अधिवास होता है अर्थात भारत के राज्य क्षेत्र का अधिवास। (*प्रदीप जैन बनाम भारत संघ* ए आई आर 1984 एस सी 1420, 19843 एस सी सी 654)। –

पाकिस्तान से प्रवास करने वाले व्यक्ति : अनुच्छेद 6 मे संविधान के प्रारंभ से पहले पाकिस्तान से प्रवास करने वाले व्यक्तियों की नागरिकता के अधिकारो का उपबध किया गया है। इस प्रकार के प्रवासियो में दो प्रकार के भेद किए गए हैं, अर्थात जो 19 जुलाई, 1948, जब प्रवास के लिए परमिट सिस्टम शुरू किया गया था, से पहले भारत में प्रवास कर गए थे और वे जो उस तारीख के बाद आए थे। जो व्यक्ति 19 जुलाई, 1948 से पहले पाकिस्तान से प्रवास करके भारत में आ गया था, उसे संविधान के प्रारंभ पर भारत का नागरिक समझा जाएगा बशर्ते उसके माता-पिता में से कोई अथवा पितामह या पितामही या मातामह या मातामही में से कोई भारत शासन अधिनियम, 1935 में यथापरिभाषित भारत में जन्मा था और जो अपने प्रवास की तारीख से आम तौर पंर भारत में रह रहा था। 19 जुलाई, 1948 के बाद प्रवास करने वाले की स्थिति में शर्त यह थी कि उसे भारत सरकार द्वारा इस प्रयोजन के लिए नियुक्त अधिकारी द्वारा भारत के नागरिक के रूप में पंजीकृत कर लिया गया हो। किंतु इस दूसरी स्थिति में, किसी व्यक्ति को तब तक इस रूप में पंजीकृत नहीं किया जाएगा जब तक वह अपने आवेदन की तारीख से ठीक पहले कम-से-कंम छह महीनों से भारत में न रह रहा हो।

पाकिस्तान को प्रवास करने वाले व्यक्ति : अनुच्छेद 7 में उन व्यक्तियों की नागरिकता के अधिकारों के संबंध में विशेष उपबंध किए गए हैं जो 1 मार्च, 1947 के बाद पाकिस्तान को प्रवास कर गए थे किंतु बाद में भारत लौट आए थे। यहां यह स्पष्ट कर दिया गया है कि 1 मार्च, 1947 के बाद पाकिस्तान को प्रवास करने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं रहेगा, किंतु उन व्यक्तियों की दशा में अपवाद किया गया है जो भारत में पुनर्वास के लिए परमिट के आधार पर भारत लौट आए थे। ऐसे व्यक्ति भारत के नागरिक होने के हकदार बन गए थे यदि वे पाकिस्तान से प्रवास करने वाले व्यक्तियों के लिए अनुच्छेद 6 के अधीन निर्धारित शर्तों को पूरा करते हों। ऐसे मामलों में भी यह आवश्यक था कि प्रवास करने वाले व्यक्तियों की यात्राएं थोड़े या सीमित समय के लिए या कारोबार के लिए या अन्यथा अस्थायी स्वरूप की न हों। (*राज्य बनाम अमर सिंह*, एस आई आर 1955 एस सी 282, *अताउर-रहमान बनाम मध्य प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1951 नाग. 44)। यह याद रखना जरूरी है कि इस अनुच्छेद मे उल्लिखित 'प्रवास' का अर्थ है संविधान के प्रारभ से पूर्व प्रवास। उसके बाद की अवधि से संबंधित मामलों में नागरिकता अधिनियम, 1955 लागू होगा। इसके अलावा, 'प्रवासित' की परिभाषा इस अर्थ में की गई है जो स्वेच्छा से स्थायी या अस्थायी रूप मे भारत से पाकिस्तान चला गया था (*कुलताहेल बनाम केरल राज्य*, ए आई आर 1966 एस सी 1974)।

भारत के बाहर रहने वाले भारतीय मूल के व्यक्ति : भारतीय मूल के अनेक व्यक्ति रोजगार के प्रयोजनो के लिए या अन्यथा विदेशों में रह रहे है या वहां प्रवास कर गए हैं। सविधान निर्माताओ ने भारत के ऐसे व्यक्तियों की नागरिकता के अधिकारों की रक्षा के लिए दूरदर्शिता से काम लिया और संविधान में उपबध कर दिए। अनुच्छेद 8 में प्रावधान किया गया है कि कोई व्यक्ति जो या जिसके माता-पिता में से कोई अथवा पितामह या पितामही या मातामह या मातामही में से कोई भारत शासन अधिनियम, 1935 में यथापरिभाषित भारत में जन्मा था और जो भारत के बाहर किसी देश में सामान्यतया निवास कर रहा है, उसे भारत का नागरिक समझा जाएगा, बशर्ते उसके नागरिकता की प्राप्ति के लिए, विहित प्ररूप में, उस देश में भारत के राजनयिक या कौंसिलीय प्रतिनिधि को इस संविधान के प्रारभ से पहले या उसके पश्चात आवेदन किए जाने पर ऐसे राजनयिक या कौंसिलीय प्रतिनिधि द्वारा भारत का नागरिक पंजीकृत कर लिया गया हो। इस प्रकार, विदेशो मे रहने वाले सभी भारतीयों की नागरिकता संबंधी भावी जरूरतो का ख्याल रखा गया है।

किसी अन्य देश की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित करना : अनुच्छेद 9 मे उपबंध किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति ने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर ली है तो भारत की नागरिकता का उसका अधिकार खत्म हो जाएगा। यह उपबध

संविधान के प्रारभ से पूर्व उत्पन्न होने वाले मामलों में लागू था किंतु संविधान के प्रारंभ के पश्चात उत्पन्न होने वाले मामलों में नागरिकता अधिनियम, 1955 के उपबंधों के अनुसार कार्यवाही की जाएगी। उच्चतम न्यायालय ने फैसला दिया है कि यह निर्धारित करना भारत सरकार का काम है कि कोई व्यक्ति किसी अन्य देश की नागरिकता अर्जित करने पर भारत की नागरिकता से वंचित हो गया है या नहीं और उसके बाद ही कोई राज्य सरकार उसके साथ एक विदेशी के रूप में व्यवहार कर सकती है। केवल यह तथ्य कि किसी व्यक्ति ने किसी अन्य देश से पासपोर्ट प्राप्त कर लिया है, उसे देश से निष्कासित करने या उस पर अभियोग चलाने का पर्याप्त आधार नहीं है। [*कुलाथी मम्मू बनाम केरल राज्य,* ए आई आर 1966 एस सी 1614, 1617; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम रहमतुल्लाह* (1971) 2 एस सी सी 113, 118, ए आई आर 1971 एस सी 1382; *आंध्र प्रदेश सरकार बनाम सैयद मोहम्मद* ए आई आर 1962 एस सी 1778; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम रोशन* (1969) 2 एस सी डब्ल्यू आर 232; *गुजरात राज्य बनाम इब्राहीम,* ए आई आर 1974 एस सी 645; *अयूब खां बनाम पुलिस आयुक्त,* (1965) 2 एस सी आर 884, *मोइनुद्दीन बनाम भारत सरकार* (1967) 2 एस सी आर 401; *अकबर बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1962 एस सी 70, *मध्य प्रदेश राज्य बनाम पीर मोहम्मद,* ए आई आर 1963 एस सी 645; *इजहार अहमद बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1962 एस सी 1052; *अनवर बनाम जम्मू और कश्मीर राज्य* (1971) 3 एस सी सी 104]।

नागरिकता के अधिकारों का बना रहना : अनुच्छेद 10 में उपबंध किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अनुच्छेद 5 से 10 में किए गए उपबंधों में से किसी के अधीन भारत का नागरिक है या समझा जाता है, ऐसी विधि के उपबंधों के अधीन रहते हुए, जो संसद द्वारा बनाई जाए, भारत का नागरिक बना रहेगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि किसी नागरिक की नागरिकता का अधिकार, संसदीय विधान के अलावा किसी अन्य रीति से, छीना नहीं जा सकता। (*इब्राहीम वजीर बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1954 एस सी 229)।

अनुच्छेद 5 तथा 10 में प्रयुक्त पद 'प्रत्येक व्यक्ति' का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि उनके अंतर्गत वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो मुकदमे के दौरान जेल में हों या जो कारावास की सजा भुगत रहे हों। (*महाराष्ट्र राज्य बनाम प्रभाकर,* ए आई आर 1966 एस सी 429; *सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन,* ए आई आर 1978 एस सी 1675)। अनुच्छेद 33 के अधीन रहते हुए, सशस्त्र बलों के सदस्य भी इनमें शामिल हैं (*पृथी बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1982 एस सी 1413)। कुछ समय तक इस विषय में काफी मतभेद बने रहे कि क्या निगम भी कानूनी व्यक्तियों के दायरे में आते हैं? किंतु नागरिकता अधिनियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि निगम नागरिक नहीं हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा

है कि निगम, अनुच्छेद 19 के अधीन अधिकारों का दावा नहीं कर सकते। वे तो केवल नागरिकों के लिए हैं। [*भारतीय व्यापार निगम बनाम वाणिज्यिक कर अधिकारी* (1964) 4 एस सी आर 99; *टाटा इंजीनियरिंग एंड लोकोमोटिव कंपनी लि. बनाम बिहार* (1964) 6 एस सी आर 885]।

नागरिकता के अधिकार को विधि तथा नागरिकता अधिनियम, 1955 द्वारा विनियमित करने की संसद की शक्ति : अनुच्छेद 11 संसद को भारत की नागरिकता के अर्जन तथा निरसन के संबंध में तथा उससे संबंधित सभी विषयों के संबंध में विधान अधिनियमित करने की निर्बाध शक्तियां प्रदान करता है। तदनुसार, संसद ने नागरिकता अधिनियम, 1955 पारित किया जिसमें नागरिकता के अर्जन तथा निरसन की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार, संविधान के प्रारंभ के बाद, नागरिकता के अधिकारो से सबंधित सभी मामलों का निपटारा इसके उपबंधों के अनुसार किया जाना है। बांग्लादेश, श्रीलका और कुछ अफ्रीकी देशो से बडी संख्या में लोगों के गैर कानूनी तरीके से भारत में आ जाने के कारण उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए 1986 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया। इस सशोधन के परिणामस्वरूप भारतीय नागरिकता का अर्जन और भी कठिन हो गया है। मोटे तौर पर, मूल अधिनियम की संशोधित धारा 3 में उपबंध किया गया है कि जन्म के आधार पर नागरिकता केवल वही व्यक्ति अर्जित कर सकता है जिसके माता-पिता मे से कोई जन्म के समय भारत का नागरिक था। इसके अलावा, इस अधिनियम मे जन्म, उद्‌भव, रजिस्ट्रीकरण, देशीकरण द्वारा या राज्य क्षेत्र के समावेशन के द्वारा भारतीय नागरिकता के अर्जन के लिए उपबंध किए गए है। इसी तरह, इसमें नागकिरता का स्वयं त्याग कर देने, स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता अर्जित कर लेने या भारत सरकार द्वारा कतिपय आधार पर नागरिकता से वंचित किए जाने के कारण नागरिकता को समाप्त कर देने का उपबंध भी किया गया है। इस अधिनियम मे राष्ट्रमडल की नागरिकता के सबंध में भी विशिष्ट उपबंध किए गए है।

संक्षेप में, नागरिकता अधिनियम, 1955 में उपबंध किया गया है कि :

क. 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत में जन्मा कोई भी व्यक्ति, कुछ अपवादो, जैसे राजनयिकों तथा शत्रु विदेशियों के बच्चे, के अधीन रहते हुए, जन्म से भारत का नागरिक होगा;

ख 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत के बाहर जन्मा कोई भी व्यक्ति, कतिपय अपेक्षाओं के अधीन रहते हुए, भारत का नागरिक होगा, यदि उसके जन्म के समय उसका पिता भारत का नागरिक था;

ग. कतिपय दशाओं में, कुछ श्रेणियों के व्यक्ति विहित रीति में रजिस्ट्रीकरण द्वारा भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकते हैं;

घ विदेशी व्यक्ति, कतिपय शर्तो पर, नागरिकता प्राप्त करने के लिए आवेदन देकर भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकते हैं;

ङ. यदि कोई राज्य क्षेत्र भारत का अंग बन जाता है तो भारत सरकार आदेश द्वारा यह निर्दिष्ट कर सकती है कि उसके परिणामस्वरूप कौन व्यक्ति भारत के नागरिक बन सकते हैं;

च. नागरिकता निरसन, कतिपय आधारो पर स्वेच्छा से त्याग दिए जाने या वंचित कर दिए जाने के कारण समाप्त हो सकती है,

छ. राष्ट्रमडल देश के किसी नागरिक को भारत में राष्ट्रमंडल नागरिक का दर्जा प्राप्त होगा। सरकार परस्परता के आधार पर उपयुक्त प्रावधान कर सकती है।

सविधान तथा इस विधि मे नागरिकता के उपबधो के सबंध मे यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि सविधान निर्माताओं ने एकीकृत भारतीय राष्ट्र तथा सयुक्त बधुता का निर्माण करने के लक्ष्य को सामने रखकर इकहरी भारतीय नागरिकता का प्रावधान करने का निर्णय किया था। सभी नागरिको के, चाहे उनका जन्म किसी भी राज्य मे हुआ हो, बिना किसी भेदभाव के देश भर में एक से अधिकार तथा कर्तव्य हैं। किंतु जम्मू तथा कश्मीर, जनजातीय क्षेत्रो आदि के मामले मे कुछ विशेष सरक्षण प्रदान किए गए है। अनुच्छेद 16 के अधीन ससद को शक्ति दी गई कि वह किसी राज्य या सघ-राज्य क्षेत्र के अदर निवास को उस राज्य या सघ-राज्य क्षेत्र के अधीन कतिपय श्रेणियों के रोजगारों के लिए आवश्यक अर्हता विहित कर सकती है।

8

मूल अधिकार

भाग-3, अनुच्छेद 12-35

जब संविधान सभा ने संविधान-निर्माण का काम अपने हाथों में लिया तो सबसे पहले एक अधिकार-पत्र[1] बनाने का विचार किया। संविधान निर्माता चाहते थे कि इस अधिकार-पत्र में भारत की विविध तथा समृद्ध सास्कृतिक परंपरा के उन विशिष्ट मूल्यो एव सकल्पनाओ का स्पष्ट रूप झलके जिनकी जड़े राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की प्रेरणाओ मे समाई हुई थी। सविधान सभा तथा उसकी समितियो मे विभिन्न चरणों से गुजरने के बाद जल्दी ही एक व्यापक अधिकार-पत्र तैयार हो गया। डा अंबेडकर ने मूल अधिकारों से संबंधित सविधान के भाग 3 को "सर्वाधिक आलोचित भाग" कहा था। इस पर 38 दिना तक चर्चा हुई। उपसमिति मे 11 दिन तक, सलाहकार समिति में 2 दिन तक और संविधा ' सभा मे 25 दिनों तक विचार-विमर्श हुआ। मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा[2] के ठीक बाद भारत के संविधान मे अधिकार-पत्र का समावेश, विश्व के अन्य देशो की समकालीन लोकतत्रात्मक तथा मानवीय वृत्ति और संवैधानिक प्रथा के अनुरूप ही था। यह इस बात का प्रमाण था कि संविधान निर्माता सार्वभौम घोषणा में प्रतिपादित बुनियादी सिद्धांतों का समावेश करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने के लिए कितने उत्सुक थे। इसके अलावा, अल्पसंख्यकों की विशेष समस्याओं तथा उन्हें उनके अधिकारों के पूरे पूरे संरक्षण का आश्वासन देने की जरूरत को देखते हुए हमारे संविधान में मूल अधिकारों का समावेश आवश्यक हो गया था।

भाग 3 में समाविष्ट मूल अधिकार, भाग 4 के निदेशक तत्व और बाद में जोड़े गए भाग 4 (क) के मूल कर्तव्य वास्तव में एक ही समूची व्यवस्था के अंग हैं जिसका मूल स्रोत है उद्देशिका। ये सभी एक साथ मिलकर वास्तव में मूलभूत मूल्यों को अभिज्ञापित

---

1 अधिकार-पत्र (Bill of Rights)

2. मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)

करते हैं तथा संविधान के आधारभूत सिद्धांतो को प्रतिष्ठित करते हैं। अत उद्देशिका में व्यक्ति की गरिमा के आश्वासन को, जो वास्तव मे मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा में अंतर्निहित आधारभूत सिद्धात हैं, भाग 3 तथा 4 के विभिन्न उपबधो के द्वारा लागू करने का प्रयास किया गया है। उद्देशिका मे मानव की गरिमा के अनुरूप स्वतंत्रता एव समानता के मूल्यों की घोषणा बहुत जोर से की गई है। आर्थिक तथा सामाजिक न्याय के आदर्शो द्वारा उन्हें और अधिक पूर्णता तथा स्थायित्व प्रदान किया गया है तथा और विशद रूप में मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वो में प्रस्तुत किया गया है।

राष्ट्र की एकता तथा आम जनता के हितो के अनुरूप किसी भी राज्य द्वारा अब तक बनाए गए मानव अधिकारों के चार्टरों में से संभवतया सर्वाधिक विस्तृत चार्टर संविधान के भाग 3 मे शामिल चार्टर है। इसके बारे मे न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने कहा है, "यह संविधान द्वारा इस देश में लाई गई लोकतत्रात्मक जीवन-पद्धति की ठोस नीव तथा उसका अपरिहार्य अंग" है। (*सज्जन सिह बनाम राजस्थान राज्य* ए आई आर 1965 एस सी 845)। इन मूल अधिकारो मे काफी हद तक वे सभी पारपरिक नागरिक तथा राजनीतिक[1] अधिकार आ गए हैं जो सार्वभौम घोषणा के अनुच्छेद 2 से 21 मे निर्दिष्ट है। न्यायमूर्ति भगवती के अनुसार

> ये मूल अधिकार वैदिक काल से इस देश के लोगो द्वारा सजाए आधारभूत मूल्यो का निरूपण करते है और व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करने तथा ऐसी दशाए उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त है, जिनमे प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का सपूर्ण विकास कर सकता है। ये मानव अधिकारो के बुनियादी ढाचे पर 'गारटी का प्रतिरूप' बुनते है और राज्य पर व्यक्ति की स्वतत्रता का इसके विभिन्न आयामो मे अतिक्रमण न करने का वर्जनात्मक दायित्व आरोपित करते है (*मेनका गाधी बनाम भारत सघ*, ए आई आर 1978 एस सी 597)।

मूल अधिकारो की, मोटे तौर पर, छह श्रेणियो के अतर्गत गारटी दी गई है, अर्थात

1. समानता का अधिकार, जिसमे विधि के समक्ष समानता तथा विधियो का समान सरक्षण (अनुच्छेद 14) धर्म, मूलवंश, जाति, लिग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध (अनुच्छेद 15), लोक नियोजन के विषय मे अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) और अस्पृश्यता तथा उपाधियों का अंत (अनुच्छेद 17 और 18) शामिल है,
2. स्वतत्रता का अधिकार, जिसमें जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतत्रता के सरक्षण का अधिकार (अनुच्छेद 21), और भाषण तथा अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगम या सघ बनाने, भारत के किसी भाग में जाने और निवास करने तथा बस जाने की स्वतत्रता का अधिकार और कोई पेशा या व्यवसाय करने का अधिकार (अनुच्छेद 19) शामिल है,

1 नागरिक तथा राजनीतिक (Civil and Political)

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार, जिसके अंतर्गत सभी प्रकार के बलात श्रम, बाल श्रम और मानव के दुर्व्यवहार का निषेध किया गया है (अनुच्छेद 23 तथा 24);
4. अत.करण की और धर्म के अबा रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25 से 28),
5. अल्पसख्यकों का अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि को बनाए रखने तथा अपनी रुचि की शिक्षा सस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार (अनुच्छेद 29 तथा 30)
6. इन सभी मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)।

विधि के समक्ष समानता तथा सभी विधियों का समान संरक्षण (अनुच्छेद 14), अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबध मे सरक्षण (अनुच्छेद 20), जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सरक्षण (अनुच्छेद 21), कुछ दशाओं मे गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण (अनुच्छेद 22), धर्म की स्वतत्रता (अनुच्छेद 25-28) जैसे कुछ मूल अधिकार सभी 'व्यक्तियो' को सुलभ हैं। कितु कुछ अधिकार ऐसे है जिनका दावा केवल नागरिको द्वारा किया जा सकता है, जैसे धर्म, मूलवश, जाति, लिग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध (अनुच्छेद 15), लोक नियोजन के विषय मे अवसर की समानता (अनुच्छेद 16) और भाषण तथा अभिव्यक्ति, सम्मेलन, सगम, सचरण, निवास और पेशे की स्वतत्रता (अनुच्छेद 19)।

मूलतया अनुच्छेद 19(1) (च) तथा अनुच्छेद 31 मे राज्य के विधि के प्राधिकार से लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य अर्जन के अधिकार के अधीन रहते हुए संपत्ति का अधिकार अर्थात सपत्ति अर्जित करने, धारण करने और बेचने का अधिकार समाविष्ट था। किंतु जब संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 ने अनुच्छेद 19 के खड (1) के उपखड (च) और सारे-के-सारे अनुच्छेद 31 का लोप कर दिया, तब से सपत्ति का अधिकार मूल अधिकार नहीं रहा।

प्रथम सविधान संशोधन द्वारा अतःस्थापित अनुच्छेद 31 (क) तथा 31 (ख) और पच्चीसवें सशोधन द्वारा अंतःस्थापित अनुच्छेद 31 (ग) का उद्देश्य संपदाओं के अर्जन का उपबंध करने वाली विधियो, नवम अनुसूची में निर्दिष्ट अधिनियमों तथा विनियमों और निदेशक तत्वो को प्रभावी करने वाली विधियो की रक्षा करना था।

अनुच्छेद 33-35 ससद को शक्ति देते हैं कि वह सैन्य बलों पर प्रयुक्ति के बारे में सविधान के भाग 3 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में उपांतरण कर सकती है।

यह सच है कि भारत के संविधान में प्रतिष्ठित मूल मानव अधिकार अनेक परिसीमाओं तथा प्रतिबंधों से घिरे हुए हैं। इस आलोचना का उत्तर देते हुए कि मूल अधिकारों के साथ इतने प्रतिबंध लगाए गए हैं कि उनका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और विशेष रूप

से उन आलोचको का उल्लेख करते हुए जिन्होंने अपने इस कथन के समर्थन में अमरीकी संविधान का सहारा लिया था कि मूल अधिकार तब तक मूल अधिकार नही होते जब तक वे 'निर्बाध' न हों, डा. अंबेडकर ने 4 नवंबर, 1948 को संविधान सभा मे कहा था :

> मूल अधिकारो के बारे में सारी-की-सारी आलोचना गलतफहमी पर आधारित है। पहली बात यह है कि मूल अधिकारो तथा अमूल अधिकारो के बीच विभेद करने के विषय में जो आलोचना की गई है, वह ठोस तर्कों पर आधारित नही है। यह कहना ठीक नही है कि मूल अधिकार निर्बाध है और अमूल अधिकार निर्बाध नही है। दोनो मे वास्तविक अतर यह है कि अमूल अधिकार पक्षकारों के बीच समझौते द्वारा उत्पन्न होते है जबकि मूल अधिकार विधि की देन है। क्योंकि मूल अधिकार राज्य की देन है, इसलिए इसका अर्थ यह नही है कि राज्य उन्हें सीमित नही कर सकता। दूसरे, यह कहना गलत है कि अमरीका में मूल अधिकार 'निर्बाध' है—अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने आरक्षी शक्ति के सिद्धात[1] की कल्पना की और निर्बाध मूल अधिकारों की वकालत करने वालों का इस तर्क द्वारा खडन किया कि प्रत्येक राज्य में आरक्षी शक्ति अंतर्निहित होती है जिसे संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप में प्रदान किए जाने की जरूरत नहीं होती। अंततः परिणाम मे वास्तव मे कोई अतर नहीं होता। एक जिस काम को प्रत्यक्ष रूप से करता है, दूसरा उसे परोक्ष रूप से करता है। दोनो स्थितियों मे, मूल अधिकार निर्बाध नही होते।

व्यक्ति को जो मूल अधिकार प्राप्त हैं, वे राज्य की कार्रवाइयों पर रोक या प्रतिबधो के रूप में है। जैसा कि मुख्य न्यायाधीश श्री पातजलि शास्त्री ने कहा था .

> संविधान के भाग 3 का एकमात्र उद्देश्य यह है कि उसमे वर्णित स्वतत्रताओं तथा अधिकारो को सरक्षण प्रदान किया जाए ताकि राज्य मनमाने ढग से उनका अतिक्रमण न कर सके। (*पश्चिमी बगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल बोस*, ए आई आर 1954 एस सी 92)।

डा. एस. राधाकृष्णन ने मूल अधिकारों को 'हमारी जनता के साथ किया गया वादा तथा सभ्य विश्व के साथ की गई संधि' कहा था। स्वाभाविक ही था कि उन्हें राज्य के लिए अर्थात कार्यपालिका एवं विधायिका के लिए बाध्यकारी बना दिया गया।

अनुच्छेद 13 इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले प्रवृत्त उन सभी विधियों तथा कार्यपालिका के आदेशों को, जो मूल अधिकारों से असंगत हैं, शक्ति-बाह्य और इस प्रकार की असंगति की मात्रा तक शून्य ठहराता है। इसके खड 2 मे कहा गया है :

> राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनाएगा जो इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारो को छीनती है या न्यून करती है और इस खंड के उल्लंघन मे बनाई गई प्रत्येक विधि उल्लघन की मात्रा तक शून्य होगी।

---

1. आरक्षी शक्ति के सिद्धांत (Doctrine of Police Power)

इसी प्रकार, इस अनुच्छेद में भारत के अतीत या वर्तमान से संबधित सभी विधियों के न्यायिक पुंनरीक्षण का उपबध किया गया है, हालांकि संविधान के प्रारंभ से पूर्व किसी विधि के उपबधो के उल्लघन मे, जो भाग 3 के कारण से शून्य हो गई है, किए गए कार्यो पर भूतलक्षी प्रभाव से कोई असर नहीं पड़ता। (*हबीब मोहम्मद बनाम हैदराबाद राज्य,* ए आई आर 1953 एस सी 287, *आर. सी. कपूर बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1973 एस सी 106) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने विचार व्यक्त किया कि निश्चय ही राज्य की कार्रवाई का आकलन व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समूह के अधिकारों पर उसके प्रवर्तन के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 12 के अधीन, 'राज्य' में शामिल हैं (i) भारत सरकार तथा संसद, (ii) प्रत्येक राज्य की सरकार और विधानमडल, (iii) भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियत्रण के अधीन सभी स्थानीय प्राधिकारी जैसे नगरपालिकाए, जिला मंडल, पंचायतें, सुधार न्यास आदि और (iv) अन्य प्राधिकारी। स्वभावतया अतिम श्रेणी "अन्य प्राधिकारी" के कारण कुछ कठिनाइया सामने आई। किंतु, यह निर्णय किया गया है कि संविधान या कानून के द्वारा बनाए गए सभी प्राधिकारी, जिन्हे कानून द्वारा शक्तिया प्रदान की जाती है, इसके अतर्गत आते हैं, जैसे राजस्थान विद्युत बोर्ड, कोचीन देवस्वम बोर्ड, सहकारी समिति आदि। इसी तरह जीवन बीमा निगम, तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग और वित्त आयोग को भी अनुच्छेद 12 के अधीन 'राज्य' माना गया है। (*विद्युत बोर्ड, राजस्थान बनाम मोहन लाल,* ए आई आर 1967 एस सी 1857; *पी.बी.एन नंबूद्रीपाद बनाम कोचीन देवस्वम बोर्ड,* ए आई आर 1956 एस सी 19; *दुखाराम बनाम सहकारी कृषि संघ,* ए आई आर 1961 एम पी 219, *सुखदेव बनाम भगत राम,* ए आई आर 1975 एस सी 1331)।

दूसरी ओर, उच्चतम न्यायालय ने *सभाजित तिवारी बनाम भारत* (ए आई आर 1975 एस सी 1329) के मामले में निर्णय दिया कि वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसधान परिषद, जो एक असांविधिक किंतु समिति रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत है, 'राज्य' नहीं है। एक अन्य मामले में, एक रजिस्ट्रीकृत समिति को अनुच्छेद 12 के प्रयोजनों के लिए 'प्राधिकारी' माना गया था (*अजय हसिया बनाम खालिद मुजीद,* ए आई आर 1981 एस सी 487)।

रमन डी. शेट्टी बनाम अंतर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण (ए आई आर 1979 एस सी 1628) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 'प्राधिकरण' को अन्य प्राधिकारियों की श्रेणी में रखते हुए यह विचार प्रकट किया कि सरकार का कोई 'परिकरण' या 'अभिकरण', 'प्राधिकारी' या 'राज्य' माना जाएगा और इस प्रश्न की जांच करने के लिए कुछ कसौटियां भी निर्धारित कीं। मिसाल के लिए, न्यायालय इस बात की जांच कर सकते हैं कि क्या संबंधित निकाय अपने कार्यो को पूरा करने के लिए पूरी तरह से सरकार के नियंत्रण में

है। क्या समूची ग-पूंजी सरकार की है? क्या उस निकाय का नियंत्रण सरकार द्वारा नियुक्त निदेशकों द्वारा किया जाता है और क्या वे सरकार के नियंत्रण में हैं? क्या राज्य उस निकाय पर अंदर तक तथा व्यापक नियंत्रण रखता है? या, क्या उसे राज्य द्वारा प्रदत्त या संरक्षित एकाधिकार प्रतिष्ठा मिली हुई है? और इसी प्रकार की अन्य कसौटियां निर्धारित की। यह सूची स्वयं में पूर्ण नहीं है किंतु न्यायालयों को प्रत्येक मामले का फैसला इस आधार पर करना है कि क्या संबंधित निकाय अनुच्छेद 12 के परिक्षेत्र के अंदर आता है? जहां तक 'न्यायपालिका' का सबध है, उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि भले ही न्यायालय को 'राज्य' माना जाता है फिर भी सक्षम अधिकारिता वाले उच्च न्यायालय के न्यायिक आदेशों के खिलाफ उस न्यायालय को अनुच्छेद 12 के अधीन रिट जारी नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसे आदेशो को मूल अधिकारों का उल्लंघन करने वाले नहीं कहा जा सकता। (*नरेश बनाम महाराष्ट्र राज्य,* ए आई आर 1967 एस सी 1, एच.एम सी खाई की पुस्तक कांस्टीट्यूशनल ला आफ इंडिया, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 155 भी देखिए)।

समानता का अधिकार

विधि के समक्ष समता तथा विधियों का समान संरक्षण

संविधान का अनुच्छेद 14 प्रत्येक व्यक्ति के इस मूल अधिकार का प्रतिपादन करता है कि उसे भारत के राज्य क्षेत्र में विधि के समक्ष समता और 'विधियों के समान सरक्षण' से वंचित नहीं किया जाएगा। इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त सरक्षण केवल नागरिकों तक सीमित नहीं है बल्कि वह सभी व्यक्तियों पर लागू होता है। इसमे मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा मे अतर्निहित इस सिद्धांत को समाविष्ट किया गया है कि "विधि के समक्ष सभी समान हैं और बिना किसी विभेद के विधि के समान सरक्षण के हकदार हैं।" हमारे संविधान में प्रयोग में लाए गए दो पदों 'विधि के समक्ष समता' और 'विधियों का समान संरक्षण' मे विधि के शासन और समान न्याय की अवधारणाएं सन्निहित हैं। 'विधि के समक्ष समता' पद में एकवचन में 'विधि' का वही अर्थ है जो डाइसी का विधि के शासन[1] या विधि की या न्याय की अवधारणा से था। दूसरी ओर, 'विधियों का समान संरक्षण' पद में बहुवचन में 'विधिया' शब्द स्पष्ट रूप से सांविधिक विधि का निर्देश करता है और उसके द्वारा किया गया प्रावधान राज्य को यह सुनिश्चित करने का आदेश देता है कि जो भी विधियां बनाई जाए, उनमें बिना किसी विभेद के सभी को समान सरक्षण देने का उपबध होना चाहिए। किंतु, उच्चतम न्यायालय ने अब तक ऐसा कोई विभेद नहीं देखा है। वास्तव में, मुख्य न्यायमूर्ति पातंजलि शास्त्री ने विचार व्यक्त किया है कि द्वितीय पद पहले पद का स्वाभाविक परिणाम है और उस स्थिति की कल्पना करना बहुत कठिन है जिसमे विधियों

1. विधि का शासन (Rule of Law)

के समान संरक्षण का उल्लंघन विधि के समक्ष समता का उल्लंघन नहीं होगा। (*पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार*, ए आई आर 1952 एस सी 75)।

अनुच्छेद का अंतर्निहित मार्गदर्शी सिद्धांत यह है कि एक-सी परिस्थितियों वाले व्यक्तियों तथा चीजों के साथ प्रदत्त विशेषाधिकारों तथा आरोपित दायित्वों, दोनों के संबंध में एक-सा व्यवहार किया जाएगा। विधिया सभी पर एक-सी दशा में लागू की जानी चाहिए। (ए आई आर 1952 एस सी 75, *बी.सी. एंड कंपनी बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1973 एस सी 106)। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि विभिन्न वर्गो के लोगों की भिन्न भिन्न जरूरतो के सबंध मे प्रायः पृथक पृथक व्यवहार की आवश्यकता होती है। (दास जे के अनुसार, *चिरजी लाल बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1951 एस सी 41)। अतः विधि के समक्ष समता के सिद्धात के कारण वर्गीकरण करना अवश्यभावी हो जाता है। क्योंकि अनुच्छेद उन स्थितियो में लागू होता है जहां समकक्ष व्यक्तियों के साथ बिना किसी युक्तियुक्त आधार के भिन्न भिन्न व्यवहार किया जाता है। जहा समकक्ष व्यक्तियों तथा असमकक्ष व्यक्तियो के साथ भिन्न भिन्न व्यवहार किया जाता है, वहां यह लागू नहीं होता। इस प्रकार, यह केवल वर्गगत विधान[1] का निषेध करता है, युक्तियुक्त वर्गीकरण[2] का नहीं। किन्तु, यह आवश्यक है कि वर्गीकरण 'मनमाना, कृत्रिम या अपवचक' नही होना चाहिए और किसी वास्तविक तथा मूलभूत विभेद पर आधारित होना चाहिए और उसका विधान द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के साथ न्यायसगत तथा युक्तियुक्त संबध होना चाहिए। (*आर के. गर्ग बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1981 एस सी 2138, *प्रभाकर राव बनाम आध्र प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1986 एस सी 210)। यह भूगोल या अन्य चीजो या व्यवसाय पर आधारित हो सकता है (*शशि मोहन बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य*, ए आई आर 1958 एस सी 194)। अनुज्ञेय वर्गीकरण को, विधिमान्य होने के लिए, वस्तुतया दो शर्तो को अवश्य पूरा करना चाहिए अर्थात (i) वर्गीकरण एक ऐसे बुद्धिमत्तापूर्ण वैशिष्ट्य पर आधारित होना चाहिए जो व्यक्तियों या वस्तुओ को, जो एक समूह मे रखी गई हों, समूह से बाहर रह गए व्यक्तियों या वस्तुओ से अलग दर्शाए; और (ii) वैशिष्ट्य का संबंधित कानून द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्य के साथ तर्कसगत सबंध होना चाहिए। (*पश्चिमी बगाल राज्य बनाम अनवर अली सरकार*, ए आई आर 1952 एस सी 75)। उसके बाद से अनेक मामलों में इस कसौटी का अनुसरण किया गया है जैसे *चिरंजीलाल बनाम भारत संघ* ए आई आर 1951 एस सी 41, *बुढन चौधरी बनाम राज्य* ए आई आर 1955 एस सी 191; *रामकृष्ण डालमिया बनाम न्यायमूर्ति तेंदुलकर*, 1958 एस सी 538; *प्रबोध वर्मा बनाम उत्तर*

---

1. वर्गगत विधान (Class Legislation)
2. युक्तियुक्त वर्गीकरण (Reasonable Classification)

प्रदेश राज्य (1984) 4 एस सी सी 251; *राजपाल शर्मा बनाम हरियाणा राज्य* (1985) सप्ली, एस सी सी 72, 75)।

ई.वी. रोयप्पा बनाम तमिलनाडु राज्य (ए आई आर 1974 एस सी 555) के मामले में समानता की पारंपरिक संकल्पना को चुनौती दी गई और अनुच्छेद 14 के तहत समानता के अधिकार के प्रति उस समय एक नये दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया जब न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ और न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर ने विचार व्यक्त किया :

> समानता एक गतिशील सकल्पना है, जिसके कई पहलू तथा आयाम है और इसे पारपरिक तथा अव्यावहारिक सीमाओं के भीतर 'बद, ठूंसा और सीमित' नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण से, समानता निरकुशता के प्रतिकूल है। वास्तव में, समानता और निरंकुशता एक दूसरे के कट्टर शत्रु है। एक का सबध किसी गणराज्य मे विधि के शासन से होता है जबकि दूसरे का सबध एक निरकुश राज्य की सनक तथा मनमानेपन से होता है। जहा कोई कार्य मनमाना होता है, वहा उसका अतर्निहित अर्थ यह होता है कि यह राजनीतिक तर्क तथा सवैधानिक विधि, दोनो तो बेमेल है और इसलिए अनुच्छेद 14 का उल्लघन है।

न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने इस दृष्टिकोण से सहमति प्रकट करते हुए, अपनी ओर से तथा न्यायमूर्ति कृष्णा अय्यर की ओर से विचार व्यक्त किया :

> अनुच्छेद 14 में एक महत्वपूर्ण सिद्धात का प्रतिपादन किया गया है जो हमारी गणतत्रात्मक शासन प्रणाली का मूल आधार है और जो उस वर्गविहीन समतावादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के लक्ष्य की दिशा मे एक प्रकाश स्तभ की तरह चमकता है, जिसके निर्माण के लिए हमने अपने आप से उस समय वादा किया था जब हमने अपने संविधान को अगीकृत किया। यदि हमें समानता के इस सिद्धात के प्रति कट्टर आस्था तथा कमजोर निष्ठा के बीच चयन करना पडे तो हम निस्संकोच कमजोर निष्ठा की बजाय कट्टर आस्था को तरजीह देगे।

उन्होंने यह भी कहा :

> समानता सबधी खड का आशय वास्तविक तथा यथार्थ विषमताओ और विधायिका की मनमानी तथा निरंकुश कार्रवाइयो पर प्रहार करना है। विधायी असमानता या कार्यपालक विभेद में पूर्वाग्रह के सूक्ष्म अतर, कठोरता के सूक्ष्म भेद और सैद्धांतिक सभावनाओ को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना समानता सबंधी खड के उद्देश्य तथा आशय के प्रतिकूल होगा। (*एम. छगनलाल बनाम ग्रेटर बबई नगरपालिका* ए आई आर 1974 एस सी 2009, 2029 और 2039)।

बाद के निर्णयों में (*मेनका गांधी बनाम भारत संघ,* ए आई आर एस सी 597; *रामन दयाराम शेट्टी बनाम अंतर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण,* ए आई आर 1979 एस सी 1628;

और *अजय हसिया बनाम खालिद मुजीब*, ए आई आर 1981 एस सी 487) अनुच्छेद 14 के प्रति न्यायमूर्ति भगवती का दृष्टिकोण और भी स्पष्ट हो गया, जिसका न्यायालय की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से निम्नलिखित शब्दों में अनुमोदन किया :

> अब इस बात को अच्छी तरह से तय मान लेना चाहिए कि अनुच्छेद 14 जिस चीज पर प्रहार करता है वह है निरकुशता, क्योंकि जो कार्रवाई निरकुश है, उसमे समानता का अभाव होना जरूरी है। न्यायालयो ने वर्गीकरण का जो सिद्धांत विकसित किया है, वह अनुच्छेद 14 का भाष्य नहीं है और न ही वह उस अनुच्छेद का उद्देश्य तथा लक्ष्य है। यह केवल इस बात का निर्धारण करने का एक न्यायिक सूत्र है कि प्रश्नाधीन विधायी या कार्यपालक कार्रवाई निरकुश है या नही और उसके द्वारा समानता का अतिक्रमण होता है या नही। यदि वर्गीकरण युक्तियुक्त नही है और ऊपर उल्लिखित दो शर्तों को पूरा नही करता तो प्रतिवादित विधान या कार्यपालक कार्रवाई स्पष्ट रूप से निरकुश होगी और वह अनुच्छेद 14 के तहत समानता की गारटी का उल्लघन होगी। इसलिए, जहा कही भी राज्य की कार्रवाई मे, चाहे वह विधायी या कार्यपालक हो या अनुच्छेद 12 के अतर्गत किसी 'प्राधिकारी' द्वारा की गई हो, निरकुशता होती है तो अनुच्छेद 14 तुरंत सक्रिय हो जाता है और राज्य की ऐसी कार्रवाई को रद्द कर देता है (ए आई आर 1981 एस सी 487)।

इस प्रकार, उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रतिपादित नये दृष्टिकोण ने अनुच्छेद 14 के प्रवर्तन क्षेत्र का विस्तार कर दिया है और अब दूसरो की तुलना मे किसी भेदभाव का आरोप लगाने की जरूरत नहीं रही (*ए.एल. कालडा बनाम प्राजैक्ट एंड इक्विपमेंट कारपोरेशन* (1984) 3 एस सी सी 316, 328)। यह स्पष्ट है कि मनमानी तथा अनुचित कार्रवाइया स्वभावतया विभेदकारी तथा अनुच्छेद 14 का उल्लंघन करने वाली होगी।

धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध

जहा अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समानता और विधियों के सरक्षण की उद्घोषणा करता है, उत्तरवर्ती अनुच्छेद 15 से 18 ज्यादातर भारत के नागरिकों के संबध में सामान्य सिद्धांत को लागू करने के लिए कुछ क्षेत्रो का निर्देश करते हैं।

अनुच्छेद 15 राज्य को आदेश देता है कि वह किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर विभेद न करे। इसमें शब्द 'केवल' का प्रयोग अर्थपूर्ण है। इनमें से किसी एक या अधिक आधारों पर तथा अन्य आधार या आधारो पर आधारित विभेद इस अनुच्छेद के द्वारा प्रभावित नहीं होगा (*दत्तात्रेय बनाम बंबई राज्य*, ए आई आर 1953 बी ओ एम 311), और न ही निवास पर आधारित विभेद अवैध होगा (देखिए *डी.पी. जोशी बनाम मध्य भारत राज्य*, ए आई आर 1955 एस सी 334)।

अनुच्छेद के खंड (2) में इस प्रतिषेध को विशेष रूप से लागू करने का उपबध किया गया है। वह घोषणा करता है कि कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर (क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयो, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानो मे प्रवेश, या (ख) पूर्णतया या भागतया राज्य-विधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओ, तालाबों, स्नानघाटो, सड़को और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निर्बधन या शर्त के अधीन नहीं होगा। जाहिर है कि प्रतिषेध राज्य एवं साधारण जनता, दोनों की कार्रवाइयो पर लागू होता है।

अनुच्छेद 15 के खड (3) तथा (4) मे, विभेद न करने के सामान्य सिद्धांतों के अपवाद अतर्निहित है। ये राज्य को क्रमश. स्त्रियो तथा बच्चो के लिए और सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिको के कुछ वर्गो की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार देते हैं। समाज के इन वर्गों के संरक्षण के लिए कतिपय कानूनो की विधिमान्यता के संबंध में उच्चतम न्यायालय की उद्घोषणाए इन अपवादो की जरूरत तथा औचित्य को प्रचुर रूप में प्रमाणित करती है। (देखिए *युसुफ़ अब्दुल अजीज़ बनाम बबई राज्य* ए आई आर 1954 एस सी 321; *मद्रास राज्य बनाम चंपकम दुरईराजन,* ए आई आर 1951 एस सी 226)। किंतु, इन विशेष उपबंधों के बावजूद, यह निर्णय दिया गया है कि अनुच्छेद 14 के अधीन सामान्य प्रतिषेध ऐसे मामलों में भी लागू होगा, राज्य जो भी विशेष प्रावधान करे, वे मनमाने या अनुचित नहीं होने चाहिए। (देखिए *एन. वसुधरा बनाम मैसूर राज्य,* ए आई आर 1971 एस सी 1439)।

अनुच्छेद 15(4) ने जो सबसे बड़ी समस्या पैदा की, वह इस बात के निर्धारण के संबंध में है कि कौन व्यक्ति "सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग" है। इसका निर्धारण करने के लिए उचित मानदड तैयार करने में, स्वभावतया अनेक कारक अपनी भूमिका निभाएंगे। जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है, इस बात का सुनिश्चय करने के लिए कि अमुक वर्ग पिछडा है या नही, व्यक्ति की जाति एकमात्र कसौटी नहीं हो सकती। *चित्रलेखा बनाम मैसूर* (ए आई आर 1964 एस सी 1823) के मामले में उसने निर्णय दिया कि हालांकि जाति किसी वर्ग के पिछड़ेपन का सुनिश्चय करने के लिए एक प्रासंगिक कारण है, किंतु इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो संबंधित प्राधिकारी को नागरिकों के किसी वर्ग के विशेष पिछड़ेपन का निर्धारण करने से रोकती हो, बशर्ते वह जाति के हवाले के बिना ऐसा कर सकता हो। एक और मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि पिछड़ेपन का निर्धारण करने के लिए जाति तथा निर्धनता, दोनों ही प्रासंगिक हैं। किंतु न तो अकेली जाति और न ही अकेली निर्धनता निर्धारण की कसौटी होगी। (*के.एस. जयश्री बनाम केरल,*

ए आई आर 1976 एस सी 2381, *छोटे लाल बनाम उत्तर प्रदेश,* ए आई आर 1979 इला. 135 भी देखिए)।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण

सामाजिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षणो का प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण बन गया है और हाल के वर्षो मे राजनीतिक क्षेत्र मे इसकी काफी चर्चा रही है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियो के अलावा विभिन्न पिछड़े वर्गो तथा समूहों के लिए आरक्षण की व्यवस्था किए जाने के लिए बहुत दबाव डाला गया। इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि बुनियादी तौर पर कोई भी आरक्षण विभेदकारी होगा क्योंकि इससे समानता के सिद्धात का उल्लघन होगा और योग्यता को निम्न प्राथमिकता दी जाएगी। इस प्रकार बहुत से योग्य उम्मीदवारो को हताशा होगी। इसलिए किसी भी आरक्षण की विधिमान्यता की परख इस आधार पर की जा सकती है कि क्या यह किसी तर्कसगत तथा प्रासगिक मानदड पर आधारित है?

उच्चतम न्यायालय ने समय समय पर उन वर्गीकरणो का सकेत दिया है जो विभेदकारी होंगे। उत्तर प्रदेश सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रो, पर्वतीय और उत्तराखड क्षेत्रों के शिक्षार्थियो के वास्ते राज्य के मेडिकल कालेजो मे प्रवेश के लिए स्थानो का आरक्षण किया था। उच्चतम न्यायालय ने *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टडन* (ए आई आर 1975 एस सी 563) के मामले मे निर्णय दिया कि हालांकि ग्रामीण क्षेत्रों के शिक्षार्थियो के लिए आरक्षण असंवैधानिक है किन्तु पर्वतीय तथा उत्तराखंड क्षेत्रों के शिक्षार्थियो के लिए विधिमान्य है। उसने विचार व्यक्त किया कि ये सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्ग के नागरिकों के उदाहरण है। उसने निर्णय दिया कि राज्य की 80 प्रतिशत जनसंख्या के लिए आरक्षण, जो ग्रामीण क्षेत्रो मे रहती है, अपने आप मे सदृश वर्ग नहीं है। इसी प्रकार, उच्चतम न्यायालय ने राज्य की कुल जनसख्या मे जिले की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर जिलावार कोटा नियत करना विभेदकारी घोषित किया (*पी. राजेन्द्रन बनाम मद्रास* ए आई आर 1971 एस सी 2303)। किंतु चद्राला के मामले में, केरल राज्य के मेडिकल कालेजों मे प्रवेश के लिए विश्वविद्यालय-वार स्थानो के आवंटन को विधिमान्य ठहराया गया। (*डी.एन. चंद्राला बनाम* मेसूर, एस आई आर 1971 एस सी 1762)। न्यायालयों के ताजा निर्णयों के अनुसार सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों में कुछ जातियां भी शामिल की जा सकती हैं और उनके लिए आरक्षण किए जा सकते हैं।

लोक नियोजन में अवसर की समानता

अनुच्छेद 16 के खड (1) तथा (2) के अधीन भारत के सभी नागरिकों को राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयो मे अवसर की समानता की गारंटी

दी गई है और किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्मस्थान या निवास के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबध में विभेद नही किया जा सकता या वह अपात्र नही होगा। किंतु उत्तरवर्ती खंड (3), (4), (4 क) और (5) में चार असाधारण स्थितियों का उपबंध किया गया है, जब अवसर की समानता के सामान्य नियम को तोड़ा जा सकता है। अतः, खंड (3) के अधीन, संसद को उस सीमा का विनियमन करने का अधिकार दिया गया है जहां तक राज्य या संघ राज्यक्षेत्र को खंड (1) तथा (2) में प्रतिपादित सामान्य सिद्धांतों से प्रस्थान करने की इजाजत होगी। इस अधिकार के आधार पर संसद ने लोक नियोजन (निवास संबंधी अपेक्षाएं) अधिनियम, 1957 पारित किया। उसके द्वारा किसी लोक नियोजन के लिए किसी राज्य या संघ राज्यक्षेत्र के भीतर निवास के सबध में कोई अपेक्षा विहित करने के लिए लागू सभी विधियों को निरसित कर दिया गया था और उपबंध किया गया था कि किसी भी व्यक्ति को इस आधार पर निर्योग्य नहीं ठहराया जाएगा कि वह उस राज्य विशेष का निवासी नहीं है। किंतु इस अधिनियम में हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और आध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र के मामले में एक अपवाद किया गया था, जहां पर उन क्षेत्रो के पिछड़ेपन के आधार पर पांच वर्ष से अनधिक की एक सीमित अवधि के लिए निवास संबधी योग्यताए विहित की गई थीं। *नरसिम्हा राव बनाम आध्र प्रदेश* (ए आई आर 1970 एस सी 422) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस अधिनियम के एक भाग को यह विचार प्रकट करते हुए असंवैधानिक करार दे दिया कि संसद समूचे राज्य मे, न कि उसके एक भाग में, निवास सबंधी योग्यता आरोपित कर सकती है।

अनुच्छेद 16 में दूसरे अपवाद के रूप मे खड (4) राज्य को "नागरिको के किसी पिछडे वर्ग" के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय मे राज्य के अधीन सेवाओं मे पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियो या पदो के आरक्षण के लिए विशेष उपबध करने का अधिकार देता है। किंतु यह खंड केवल एक समर्थकारी उपबंध है और इसमे कोई अधिकार या कर्तव्य अंतर्निहित नहीं है (*राजस्थान बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1968 एस सी 507)। लेकिन जैसा कि एन एम. थामस (ए आई आर 1976 एस सी 490) के मामले में निर्णय दिया गया, यह खंड (1) के अधीन प्रत्याभूत अवसर की समानता का एक सशक्त प्रकथन है, जिसका अर्थ है, एक ही वर्ग के कर्मचारियों के बीच समानता, न कि विभिन्न तथा स्वतंत्र वर्गों के सदस्यों के बीच समानता। अत , अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के मामले में, जो सामाजिक-आर्थिक पिछडेपन के कारण असमर्थ होते हैं, अवसर की समानता का मूल अधिकार "राज्य सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व" के प्रयोजन के लिए पृथक वर्गीकरण को उचित ठहराता है। [*ए.बी.एस.के. संघ (रेलवे) बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1981 एस सी 298]।

अनुच्छेद 16(4) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करने के लिए एकमात्र शर्त यह है कि राज्य का समाधान हो जाना चाहिए कि नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग को सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। और यह शर्त सेवाओं में प्रतिनिधित्व की केवल संख्यात्मक पर्याप्तता का नहीं बल्कि गुणात्मक पर्याप्तता का भी निरूपण कर सकती है। दूसरे शब्दों में, इन शक्तियों का नियुक्तियो के आरक्षण के लिए ही नहीं बल्कि चयनात्मक पदों एवं पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों मे आरक्षण का उपबंध करने के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। [*महाप्रबंधक, दक्षिण रेलवे बनाम रंगाचारी,* ए आई आर 1962 एस सी 36; *भारत का नियंत्रक महालेखापरीक्षक बनाम के.एस. जगन्नाथ* (1986) 2 एस सी सी 679]। किंतु आरक्षण अनुचित नहीं होना चाहिए और उस सीमा तक आरक्षण नहीं किया जा सकता जो अनुच्छेद 16(1) मे दी गई गारंटी को प्रभावहीन कर दे। *देवदासन बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1964 एस सी 179) के मामले मे जब उच्चतम न्यायालय से 'अग्रनयन नियम[1] की संवैधानिता के संबंध में निर्णय देने के लिए आग्रह किया गया तो उच्चतम न्यायालय ने इस नियम को एक के मुकाबले चार के बहुमत से इस आधार पर अधिकारातीत करार दिया कि अनुच्छेद 16(4) के अधीन राज्य सरकार में निहित शक्ति का इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता जिससे कि पिछडे से भिन्न अन्य वर्गो के सदस्य लोक नियोजन के विषयो मे अवसर की युक्तियुक्त समानता से वंचित हो जाए। इसने घोषणा की कि एक ही वर्ष मे 50 प्रतिशत से अधिक पदों का आरक्षण असंवैधानिक है क्योंकि इससे स्वभावतया अनुच्छेद 16(1) प्रभावहीन हो जाता है।

मडल आयोग ने उच्चतम न्यायालय द्वारा आरोपित 50 प्रतिशत की सीमा को ध्यान में रखते ए अपनी रिपोर्ट मे पिछडे वर्गो के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की। मडल केस के नाम से ज्ञात [*इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ,* 1992 परि.(3) एस सी सी 217] मामले मे, उच्चतम न्यायालय ने 16 नवबर, 1992 को अपने फैसले मे 3 के मुकाबले 6 के बहुमत से यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 16 का खंड (4) उसके खंड (1) का अपवाद नहीं है तथा सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछडे वर्गो के लिए 27 प्रतिशत पदो का आरक्षण समुचित है बशर्ते उनमे से जो समुन्नत हो गए है, उन्हे अर्थात 'सपन्न वर्ग' को लाभान्वित होने वालो की सूची से अलग कर दिया जाए; आरक्षण केवल प्रारंभिक नियोजन तक सीमित रहे, क्योंकि अनुच्छेद 16(4) पदोन्नतियों में किसी आरक्षण की इजाजत नहीं देता और कुल आरक्षित कोटा, कुछ असाधारण स्थितियो को छोड़कर, 50 प्रतिशत से अधिक नहीं रहना चाहिए। "नागरिकों के पिछड़े वर्ग" पद की संविधान में परिभाषा नहीं की गई है। लेकिन चूंकि अनुच्छेद 16(4) मे सामाजिक पिछड़ेपन पर बल दिया गया है, न कि आर्थिक पिछड़ेपन पर, इसलिए पिछड़े वर्ग की पहचान केवल और मात्र आर्थिक मानदंड के आधार

---

1. अग्रनयन नियम (Carry Forward Rule)

पर नहीं की जा सकती। अतः न्यायालय ने उस अधिसूचना को अवैध ठहरा दिया जिसके द्वारा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए, जो आरक्षण की किसी वर्तमान योजना के अंतर्गत नहीं आते, 10 प्रतिशत अतिरिक्त पद आरक्षित करने का प्रयास किया गया था। दूसरी ओर, न्यायालय ने निर्णय दिया कि जाति बहुधा एक सामाजिक वर्ग हो सकती है। "यदि यह सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी हुई है तो यह अनुच्छेद 16(4) के प्रयोजन के लिए पिछड़ा वर्ग हो सकती है।" इसके अलावा, गैर हिंदुओं में भी अनेक सामाजिक दृष्टि से पिछड़े व्यावसायिक समूह, पंथ और संप्रदाय अनुच्छेद 16(4) के अंतर्गत आ जाएंगे। इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि जो अनुच्छेद 15(4) के अधीन सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछडे वर्ग हैं, वहीं अनुच्छेद 16(4) के अधीन पिछड़े वर्ग है। भले ही अनुच्छेद 15(2) तथा 16(2) में 'जाति' के विभेद का जिक्र एक प्रतिबिद्ध आधार के रूप में आया है और अनुच्छेद 15(4) तथा 16(4) में 'वर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है, फिर भी बहुमत से दिए गए फैसले में कहा गया कि पिछड़े वर्गों की पहचान निश्चित रूप से अन्य व्यावसायिक समूहो, लोगों के वर्गो और अनुभागों के साथ साथ जातियों के संदर्भ में की जा सकती है। किंतु, इसमें कहा गया कि कतिपय क्षेत्रों के तकनीकी पदों, अनुसंधान तथा विकास संगठनो, चिकित्सा, इंजीनियरी और भौतिकी विज्ञानो तथा गणित के ऐसे ही अन्य पाठ्यक्रमों में विशेष अध्ययन या अति विशेष अध्ययन, तथा रक्षा सेवाओ से संबंधित प्रतिष्ठानों में आरक्षणों का उपबंध करना उचित नहीं होगा। शिक्षा में प्रोफेसरों, हवाई कंपनियों में पायलटों, आण्विक तथा अंतरिक्ष अनुप्रयोग आदि में वैज्ञानिकों तथा टेक्निशियनों जैसे उच्चतर पदों में भी आरक्षण उचित नहीं है।

अवसर की समानता के अनुच्छेद 16(1) और (2) मे दिए गए सामान्य नियम के बावजूद 77वें संविधान संशोधन के द्वारा जून, 1995 में खंड (4 क) जोड़कर यह अनुबंध किया गया कि राज्य अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियो के लिए राज्य के अधीन सेवाओ में किसी श्रेणी के पदो पर पदोन्नति के मामले में आरक्षण कर सकेगा यदि उसकी राय में उनका प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है।

अन्य पिछड़े वर्गो के लिए 27 प्रतिशत स्थानों का आरक्षण देश भर मे लागू कर दिया गया है। क्योंकि तमिलनाडु मे कुल आरक्षित स्थानों की संख्या 50 प्रतिशत से कहीं अधिक अर्थात 69 प्रतिशत थी, ससद ने 76वां संविधान संशोधक पारित कर उसे वैंधता देने का प्रयास किया है। इस सशोधन के द्वारा तत्व संबधी तमिलनाडु के कानून को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल कर दिया गया है।

लोक नियोजन में अवसर की समानता के सामान्य नियम का चौथा अपवाद अनुच्छेद 16 के खंड (5) में दिया गया है जिसमें उपबंध किया गया है कि विधि विहित कर सकती है कि किसी धार्मिक या सांप्रदायिक संस्था के कार्य से संबंधित कोई पदधारी या उसके

शासी निकाय का कोई सदस्य किसी विशिष्ट धर्म का मानने वाला या विशिष्ट संप्रदाय का ही हो।

अस्पृश्यता का उन्मूलन

अनुच्छेद 17 'अस्पृश्यता' का उन्मूलन करता है और उसका किसी भी रूप में आचरण करने का निषेध करता है। यदि इसका आचरण किया जाएगा तो यह विधि के अनुसार दंडनीय अपराध माना जाएगा। इस अनुच्छेद का उद्देश्य यह है कि साथ रहने वाले कतिपय मनुष्यों को कतिपय जातियों मे उनके जन्म के कारण गंदा तथा अस्पृश्य माने जाने के अमानवीय आचरण को समाप्त किया जाए। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि इस अनुच्छेद में अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रत्याभूत मूल अधिकार का प्रयोग व्यक्तियों के विरुद्ध किया जा सकता है और राज्य का यह संवैधानिक कर्तव्य है कि वह इस बात को सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए कि इस अधिकार का उल्लंघन न हो। (*पीपल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राईट्स बनाम भारत संघ* ए आई आर 1982 एस सी 1473)। साथ ही प्रत्येक नागरिक का यह सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि किसी भी रूप में अस्पृश्यता का व्यवहार न हो। अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 में, जिसे बाद मे सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 का नाम दे दिया गया था, अपराधियों के लिए दड का उपबध है।

उपाधियों का अंत

अनुच्छेद 18 राज्य को, किसी व्यक्ति को, चाहे वह भारतीय नागरिक हो या विदेशी राष्ट्रिक हो, उपाधियां प्रदान करने का प्रतिषेध करता है। किंतु सेना तथा विद्या संबंधी विशिष्ट सम्मान के मामले में अपवाद किया गया है। इस अनुच्छेद के खंड (2) के अधीन, भारत के नागरिक को भी किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार करने का प्रतिषेध किया गया है। खंड (3) में उपबंध किया गया है कि कोई व्यक्ति, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करते हुए, किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं कर सकता। और खड (4) के अधीन, राज्य के अधीन लाभ या विश्वास का पद धारण करने वाला कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से या उसके अधीन किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सहमति के बिना स्वीकार नहीं करेगा।

एक प्रश्न उठाया गया है कि विशिष्ट सराहनीय सेवा के लिए गणतंत्र दिवस को राष्ट्रपति द्वारा बरसों से भारतरत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण और पद्मश्री की जो असैनिक उपाधियां दी जाती हैं, क्या वे संविधान के अनुच्छेद 18 का उल्लंघन नहीं करतीं? मामला न्यायालय के विचाराधीन है। उच्चतम न्यायालय के स्थगन आदेशों के कारण कई वर्षों से इन उपाधियों

की घोषणा नहीं की जा रही थी। हालांकि बाद में स्थगन आदेश हटा लिए गए, पर जनवरी 1994 और 1995 में भी इनमें से किसी उपाधि की घोषणा नहीं की गई।

स्वतंत्रता का अधिकार

संविधान का अनुच्छेद 19 भारत के नागरिकों को विशिष्ट रूप से छह बुनियादी स्वतंत्रताओं अर्थात भाषण और अभिव्यक्ति, बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन, संगम बनाने, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र आने-जाने, भारत के किसी भी भाग में निवास करने और बस जाने और कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। ये स्वतंत्रताएं नागरिक की हैसियत में अंतर्निहित नैसर्गिक अधिकार मानी गई हैं। (*पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल बोस*, ए आई आर 1954 एस सी 92, 95)। लेकिन न्यायालयों ने एक स्वतंत्र नागरिक के लोकतंत्रात्मक मूल्यों का पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए इन स्वतंत्रताओं को सर्वांगीण नहीं माना है। न्यायालयों ने अपने निर्णयों में कहा है कि लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था के लिए इनके साथ साथ अन्य अनेक स्वतंत्रताओं का होना भी आवश्यक है, भले ही अनुच्छेद 19 में उनका विशिष्ट रूप से वर्णन नहीं किया गया है (*मेनका गांधी बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1978 एस सी 597)। मिसाल के तौर पर, जीवित रहने की स्वतंत्रता (*जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1973 एस सी 947), मतदान करने तथा चुनाव लडने की स्वतंत्रता (*एन.पी. पुन्नूस्वामी बनाम रिटर्निंग आफिसर*, ए आई आर 1952 एस सी 64, 71), प्रेस की स्वतंत्रता (*बृजभूषण बनाम राज्य*, ए आई आर 1950 एस सी 129), सरकारी कर्मचारियों का नौकरी में बने रहने का अधिकार (*पी. बालकोटैया बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1958 एस सी 232, 238), हड़ताल करने का अधिकार (*राधेश्याम शर्मा बनाम पी.एन.पी नागपुर*, ए आई आर 1965 एस सी 311, 313), जानकारी प्राप्त करने का अधिकार (*एल.के कूलवाल बनाम राजस्थान राज्य* ए आई आर 1988 राज. 2)।

राज्य की कार्रवाई के विरुद्ध छह स्वतंत्रताओं के संरक्षण का अधिकार सभी नागरिकों को सुलभ है। किंतु यह कोई आत्यांतिक या असीमित अधिकार नहीं है क्योंकि जैसा कि न्यायमूर्ति दास ने कहा है, "बेहतर होगा कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सामाजिक हित अन्य बृहत्तर सामाजिक हितों के अधीन हो।" (*ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य*, ए आई आर 1950 एस सी 27)। अतः अनुच्छेद 19 के खंड (2) से (6) तक राज्य को भारत की संप्रभुता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार, या सदाचार के हितों में या न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिए प्रोत्साहन के संबंध में उचित कानून बनाकर इस अधिकार के प्रयोग पर 'युक्तियुक्त' प्रतिबंध आरोपित करने का अधिकार देते हैं। यह आवश्यक है कि कानून द्वारा जो भी

प्रतिबंध लगाए जाएं, वे युक्तियुक्त हों, मनमाने या सीमाविहीन न हों, और न्यायालय की संतुष्टि के अनुरूप इन्हें सिद्ध करने की जिम्मेदारी राज्य की हो। (*खैरबाड़ी टी कंपनी बनाम असम राज्य,* ए आई आर 1964 एस सी 925)। प्रतिबंध जितना कड़ा होगा, उतना ही भारी दायित्व उसकी युक्तियुक्तता को सिद्ध करने का होगा (*सगीर अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1954 एस सी 728, 738)।

चूंकि संविधान में 'युक्तियुक्त प्रतिबंध' पद की परिभाषा नहीं की गई है, इसलिए प्रत्येक मामले का निर्णय उसके अपने गुणावगुण के आधार पर करना होगा। लगाए गए प्रतिबंधों का अंतर्निहित प्रयोजन, उनके द्वारा जिन बुराइयों का उपचार किया जाना है, उनका विस्तार, आवश्यकता और अनुपात, उस समय प्रवर्तमान हालात और प्रतिबंधों की अवधि उसकी कसौटी बन सकते हैं (*मद्रास राज्य बनाम वी.जी. राव,* ए आई आर 1952 एस सी 196)। मानदंड वास्तव में लचीला है और वह प्रत्येक मामले में समय, स्थान और हालात के साथ बदलता रहता है। (*गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य* ए आई आर 1967 एस सी 1643, 1655)।

प्रतिबंधों की युक्तियुक्तता का निर्धारण अमूर्त तर्कों के आधार पर नहीं बल्कि वस्तुपरक ढंग से और उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से, जिन पर प्रतिबंध लगाए गए हैं, किया जाना चाहिए (*हनीफ़ कुरैशी बनाम बिहार राज्य,* ए आई आर 1958 एस सी 751)। विधि का प्रभाव ही वास्तव में इसकी युक्तियुक्तता की कसौटी बनता है; इसका उद्देश्य, चाहे अच्छा हो या बुरा, इस प्रयोजन के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। और विधि के केवल मूलभूत उपबंध नहीं बल्कि "प्रक्रिया संबंधी उपबंध भी इसकी युक्तियुक्तता के निर्णय का अंग बन जाते हैं।" [*एन.बी. खरे बनाम दिल्ली राज्य,* ए आई आर 1950 एस सी 11; *किशनचन्द अरोडा बनाम पुलिस आयुक्त,* ए आई आर 1961 एस सी 705। प्रतिबधो को अनुच्छेद 19 (1) के अधीन प्रत्याभूत स्वतत्रताओं और अनुच्छेद 19 के खंड (2) से (6) द्वारा अनुज्ञात सामाजिक नियत्रण के बीच एक उचित सतुलन बनाए रखना चाहिए। *द्वारका प्रसाद लक्ष्मी नारायण बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1954 एस सी 224, 227]। राज्य नीति के निदेशक तत्वो को कार्यान्वित करने के लिए लगाए गए प्रतिबंधों को युक्तियुक्त ठहराया गया है (*बंबई राज्य बनाम एफ.एन. बलसारा,* ए आई आर 1951 एस सी 378, 328)।

भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था के संचलन का एक अनिवार्य अंग हैं। लोकतंत्र का अर्थ है सहमति से किया गया शासन और जब तक राजनीतिक एवं अन्य विषयों पर चर्चा करने की स्वतंत्रता नहीं होगी तब तक उस राज्य व्यवस्था को लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। अपने स्वाभाविक परिणाम के रूप में, इस पद में प्रेस की

स्वतंत्रता भी शामिल है। न्यायमूर्ति पातंजलि शास्त्री ने इसके आशय को सक्षेप मे निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट कर दिया है :

> भाषण और प्रेस की स्वतत्रता सभी लोकतांत्रिक संगठनो का मूल आधार है, क्योंकि मुक्त राजनीतिक विचार-विमर्श के बिना कोई भी सार्वजनिक शिक्षा, जो लोकप्रिय शासन की प्रक्रिया के उचित रूप में चलने के लिए बहुत जरूरी होती है, सभव नही है। इतनी व्यापक स्वतत्रता में उसके दुरुपयोग का जोखिम अतर्निहित हो सकता है। कितु संविधान निर्माता संभवतया मैडिसन के, जो सघीय संविधान के प्रथम संशोधन की तैयारी मे अग्रणी प्रेरणाशक्ति थे, इन विचारों से एकमत थे कि बेहतर यही है कि इसकी कुछ अहितकर शाखाओं को काट देने की बजाय उसे उसकी मर्जी से बढने दिया जाए ताकि उन शाखाओ की स्फूर्ति को आघात न पहुचे जो उचित फल देती है। (*रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1950 एस सी 124,128)।

अनुच्छेद 19(1) (क) प्रत्येक भारतीय नागरिक को भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार की गारटी देता है। हालांकि इसमें प्रेस की स्वतत्रता का विशिष्ट रूप से उल्लेख नहीं है किंतु यह निर्णय दिया गया है कि यह अधिकार भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार मे सम्मिलित है। "प्रेस की स्वतंत्रता सामाजिक तथा राजनीतिक समागम का मर्म है। न्यायालयों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे प्रेस की स्वतत्रता को बनाए रखें और उन सभी विधियों या प्रशासनिक कार्रवाइयो को अविधिमान्य कर दे जो संवैधानिक समादेश के प्रतिकूल इसमे हस्तक्षेप करती हैं। [*एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स (प्रा.) लि. बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1958 एस सी 578; *इंडियन एक्सप्रेस न्यूजपेपर्स बनाम भारत सघ* (1985) एस सी सी 641]।

इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक अपने विचारो, विश्वासो और दृढ़ निश्चयो को निर्बाध रूप से तथा बिना किसी रोक टोक के मौखिक शब्दो द्वारा, लेखन, मुद्रण, चित्रण के द्वारा अथवा किसी अन्य ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए स्वतत्र है। अत. किसी समाचार-पत्र पर अनर्गल सेसरशिप लगाना (*बृजभूषण बनाम दिल्ली,* ए आई आर 1950 एस सी 129) या उसे ज्वलंत सामयिक विषयों पर अपने या अपने सवाददाताओ के विचारो को प्रकाशित करने से रोकना भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के अधिकार का उल्लंघन होगा (*वीरेंद्र बनाम पंजाब,* ए आई आर 1957 एस सी 896)। यह अधिकार नागरिको को भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर ही नहीं बल्कि इसकी सीमाओ के पार भी प्राप्त है। (*मेनका गांधी बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1978 एस सी 597 के मामले में न्यायमूर्ति भगवती के अनुसार)।

किंतु, अनुच्छेद 19(2) के अधीन (i) राज्य की सुरक्षा, (ii) विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, (iii) लोक व्यवस्था, (iv) शिष्टाचार और सदाचार (v) न्यायालय की अवमानना,

(vi) मानहानि, (vii) अपराध के लिए प्रोत्साहन, और (viii) भारत की संप्रभुता तथा अखंडता के हितों में या आधारों पर इस अधिकार के प्रयोग पर युक्तियुक्त सीमाएं या प्रतिबंध आरोपित किए जा सकते हैं।

राज्य की सुरक्षा : राज्य की सुरक्षा केवल 'लोक अव्यवस्था के गभीर तथा गुरुतर रूपो' की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में, विद्रोह, राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ना, बगावत आदि से राज्य की सुरक्षा को खतरा होने की बहुत सभावना हो सकती है। इसलिए ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति या ऐसे भाषण देना, जो लोगो को हत्या जैसे अपराध करने के लिए उकसाने या प्रोत्साहन देने वाले हो, अनुच्छेद 19(2) के अधीन प्रतिबध लगाए जाने के लिए युक्तियुक्त आधार होंगे (*बिहार राज्य बनाम शैलबाला देवी,* ए आई आर 1952 एस सी 329)। ऐसे प्रत्येक भाषण को, जिसमे राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर देने की प्रवृत्ति हो, दंडनीय बनाया जा सकता है (*सन्तोष सिंह बनाम दिल्ली प्रशासन,* ए आई आर 1973 एस सी 1091)। हालांकि 'लोक व्यवस्था' को 1951 के संविधान संशोधन के द्वारा प्रतिबध लगाने के आधार के रूप में शामिल कर दिया गया था, कितु उसके साधारण उल्लघन यथा गैर कानूनी सम्मेलन, दंगे, झगड़े आदि खंड (2) के विस्तार क्षेत्र से बाहर बने रहेंगे।

विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध : भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर प्रतिबंध लगाने के लिए यह आधार संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा इस दृष्टि से शामिल किया गया था कि भारत को लगातार तथा विद्वेषपूर्ण प्रचार के द्वारा होने वाली परेशानी से बचाया जा सके। कितु, इस आधार की यह कहकर आलोचना की गई है कि इसके द्वारा उस विनियमन का समर्थन किए जाने की संभावना है, जो सरकार की विदेश नीति की आलोचना पर भी रोक लगा सकता है।

लोक व्यवस्था : यह आधार भी रमेश थापर के मामले (ए आई आर 1950 एस सी 124) मे उच्चतम न्यायालय के निर्णय से उत्पन्न स्थिति पर काबू पाने के लिए 1951 के सशोधन द्वारा जोड़ा गया था। उस निर्णय मे कहा गया था कि लोक व्यवस्था के साधारण या स्थानीय उल्लघन भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबध लगाने के कोई आधार नही हैं। उस निर्णय मे विचार व्यक्त किया गया था कि 'लोक व्यवस्था' पद के व्यापक लक्षणार्थ है और यह 'शांति की उस स्थिति' की ओर सकेत करता है "जो सरकार द्वारा प्रवर्तित आतरिक विनियमो के परिणामस्वरूप राजनीतिक समाज के सदस्यों मे व्याप्त है।"

शिष्टाचार तथा सदाचार : इन शब्दो के कोई स्पष्ट अर्थ विद्यमान नहीं है और इनके सबध में अनुभव में समय समय पर परिवर्तन होता रहता है। जाहिर है कि इन शब्दों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर प्रतिबंध लगाने के आधारों के रूप मे मुख्यतया इसलिए सम्मिलित किया गया है ताकि समाज को दूषित तथा भ्रष्ट कार्यो या व्यवहार

से बचाया जा सके। भारतीय दंड संहिता की धारा 292-294 को, जिनके अंतर्गत अशिष्टाचार या अश्लीलता के विस्तार क्षेत्र का वर्णन किया गया है, यथावत बनाए रखा गया था क्योंकि "अश्लीलता के विरुद्ध विधि में केवल लोक शिष्टाचार तथा सदाचार को बढ़ावा देने की चेष्टा की गई है।"(*रंजीत उदेशी बनाम महाराष्ट्र*, ए आई आर 1965 एस सी 881)। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने इंग्लैंड के *आर. बनाम हिकलिन के मामले* (ए आर 3 क्यू बी 360) में निर्धारित मानदंड का अनुसरण किया जिसमें लेडी चैटर्लेज़ लवर को अश्लील पुस्तक करार दिया गया था क्योंकि इसमें उन लोगों के दिमाग को, जो इसे पढ़ते हैं, भ्रष्ट करने की प्रवृत्ति थी।

न्यायालय की अवमानना : प्रतिबंध लगाने के इस आधार को सम्मिलित करने का अंतर्निहित विचार न्यायालयों द्वारा उनकी अवमानना के लिए दंड देने के प्राधिकार को सुरक्षित रखना है। संविधान के अनुच्छेद 129 तथा 215 क्रमशः उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को उनकी अवमानना किए जाने के लिए दंड देने का अधिकार देते हैं। उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 129 के अधीन अवमानना की विधि को अनुच्छेद 19(2) के अधीन युक्तियुक्त ठहराया है (*सी.के. दफ्तरी बनाम ओ.पी. गुप्ता* ए आई आर 1971 एस सी 1132)। *ई.एम.एस. नंबूद्रीपाद बनाम टी.एन. नाम्बियार* (ए आई आर 1970 एस सी 2015) के मामले में न्यायालय ने टिप्पणी की कि भाषण की स्वतंत्रता हमेशा अभिभावी होगी सिवाय उस स्थिति के जहां न्यायालय की प्रत्यक्ष, विद्वेषपूर्ण या वास्तव मे अवमानना की गई हो। किंतु, खुशी की बात है कि हाल के वर्षो में न्यायालय ने अवमानना की विधि के संबंध में उदार दृष्टिकोण अपनाया है (देखिए ए आई आर 1978 एस सी 727; ए आई आर 1970 एस सी 489)। *एम.आर. पराशर बनाम फारुक अब्दुल्लाह* (ए आई आर 1984 एस सी 615) के मामले में न्यायालय ने कहा :

> किसी व्यवस्था या संस्था की सद्भावनापूर्ण आलोचना का मकसद उस व्यवस्था या संस्था के प्रशासन को अपने अंदर झांकने तथा अपनी सार्वजनिक छवि में सुधार लाने के लिए प्रेरित करना है। न्यायालय कोई ऐसी स्थिति ग्रहण नहीं करना चाहते कि उनकी आलोचना नही की जा सकती और उनके कामकाज में सुधार की कोई जरूरत नहीं है।

मानहानि : भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार किसी नागरिक को किसी व्यक्ति की मानहानि करने का हकदार नहीं बना देता। भारतीय दंड संहिता की धारा 499 में मानहानि की परिभाषा दी गई है। इस परिभाषा के अनुसार किसी व्यक्ति को घृणा, मजाक या तिरस्कार का पात्र बनाकर पेश करना मानहानि है। न्यायालयों ने इस धारा को संवैधानिक दृष्टि से विधिमान्य ठहराया है।

अपराध के लिए प्रोत्साहन : भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का यह आधार भी 1951 में जोड़ा गया था। उच्चतम न्यायालय का मत है कि हत्या या

अन्य हिंसक अपराधों के लिए प्रोत्साहित करने से आमतौर पर राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। अतः इस आधार पर लगाया गया कोई प्रतिबंध अनुच्छेद 19(2) के अधीन विधिमान्य होगा। (*बिहार राज्य बनाम शैलबाला देवी* ए आई आर 1952 एस सी 329)।

भारत की संप्रभुता तथा अखंडता : भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार पर प्रतिबंध लगाने का यह अधिकार 1963 में 16वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया था ताकि कोई भी व्यक्ति भारत की अखंडता या संप्रभुता को चुनौती न दे सके या भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के अध्यर्पण का प्रचार न कर सके।

सम्मेलन की स्वतंत्रता

सभाएं, जुलूस और प्रदर्शन लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के सहज परिणाम हैं। केवल इसी प्रकार के अनुष्ठानों के द्वारा लोगों को सूचित, शिक्षित या प्रेरित किया जा सकता है। अनुच्छेद 19(1) (ख) भारत के सभी नागरिकों के लिए 'बिना हथियारों के शांतिपूर्वक समवेत होने का' अधिकार प्रदान करता है। इसके परिणामस्वरूप सार्वजनिक सभाएं करने तथा प्रदर्शन करने और शांतिपूर्वक जुलूस निकालने का अधिकार प्राप्त हो जाता है (*बाबूलाल बनाम महाराष्ट्र राज्य,* ए आई आर 1961 एस सी 884)। किसी सम्मेलन के लिए दो अंतर्निहित प्रतिबंध हैं, शांतिपूर्ण रहना और बिना हथियारों के होना। इसके अतिरिक्त, खंड (3) के अधीन, राज्य द्वारा 'भारत की सप्रभुता और अखंडता या लोक व्यवस्था के हितों में' इस अधिकार पर विधि द्वारा ऐसे युक्तियुक्त प्रतिबध लगाए जा सकते हैं जो समय समय पर आवश्यक समझे जाए। अतः ऐसे सम्मेलन पर जिसे विधिविरुद्ध घोषित कर दिया गया हो, विधिमान्यतः रोक लगाई जा सकती है और उसमे जमा लोगो को तितर बितर होने का आदेश दिया जा सकता है।

संगम की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19(1) (ग) सभी नागरिको को संगम तथा संघ बनाने के अधिकार की गारटी देता है। किंतु अनुच्छेद के खंड (4) के अधीन राज्य द्वारा 'भारत की संप्रभुता तथा अखंडता या लोक व्यवस्था या सदाचार के हितों में' युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। इस प्रकार बनाए गए संगमों में राजनीतिक दल, समितियां, क्लब, कंपनियां, संगठन, साझेदारी फर्मे, मजदूर सघ और वस्तुतया व्यक्तियो का कोई भी निकाय सम्मिलित होगा। युक्तियुक्त प्रतिबंधों के अधीन रहते हुए, विध्यनुकूल प्रयोजनों के लिए संगम बनाने की पूरी स्वतंत्रता है। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि अनुच्छेद 19(1) (ग) का उदार निर्वचन करने पर भी यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि मजदूर संघो को हड़ताल करने के गारंटीशुदा अधिकार प्राप्त हैं। हड़ताल करने के अधिकार पर समुचित औद्योगिक विधान द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है (*आल इंडिया बैंक इंप्लाइज एसोसिएशन बनाम राष्ट्रीय औद्योगिक*

अधिकरण, ए आई आर 1962 एस सी 171)। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति को सरकार द्वारा प्रायोजित संघ का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता (*रघुबीर दयाल बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1962 एस सी 283)। खंड (4) में 'सदाचार' शब्द का व्यापक अर्थ लगाया जाना चाहिए ताकि न केवल 'लोक सदाचार' बल्कि समस्त लोगों द्वारा 'सदाचार' का जो अर्थ समझा जाता है, वह भी इसके अंतर्गत आ जाए (*मनोहर बनाम महाराष्ट्र,* ए आई आर 1984 बंब. 47)।

सर्वत्र आने-जाने और निवास की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19(1) के उपखंड (घ) तथा (ड.) के अधीन भारत के प्रत्येक नागरिक को "भारत के राज्य क्षेत्र में अबाध रूप से आने-जाने के अधिकार" और "भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने तथा बस जाने के अधिकार" की गारंटी दी गई है। वास्तव में, ये दोनों अधिकार एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों अधिकार भारत के राज्य क्षेत्र की अभिन्नता पर बल देते हैं। कोई भी नागरिक भारत के किसी भाग की यात्रा कर सकता है या उसमें निवास कर सकता है। किंतु अनुच्छेद 19 के खंड(5) में "जनसाधारण के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हितों की रक्षा के लिए" विधि द्वारा उनमें से किसी के भी प्रयोग पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जाने का उपबंध है। जब कभी नागरिक के आने-जाने या निवास करने पर प्रतिबंध लगाए जाते हैं, उनसे दोनों अधिकार प्रभावित होते हैं। आमतौर पर, इन अधिकारों द्वारा दिए गए सरक्षण का प्रयोग बाह्यकरण[1] या देशनिकाले[2] के उन आदेशों को चुनौती देने के लिए किया जाता है जिनसे दोनों स्वतत्रताओ मे कटौती हो जाती है। *एन.बी. खरे बनाम दिल्ली राज्य* (ए आई आर 1950 एस सी 211) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि केवल इस कारण से यह आदेश अवैध नहीं हो जाता कि बाह्यकरण का आदेश कार्यपालिका के व्यक्तिपरक समाधान पर निर्भर करता है, और आक्षेपित अधिनियम में न्यायिक पुनर्विलोकन का कोई उपबंध नहीं है। एक अन्य मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि जो विधि किसी नागरिक को केवल [पाकिस्तान से आगमन (नियंत्रण) अधिनियम के अधीन] परमिट संबंधी विनियमों के उल्लंघन के कारण दोषसिद्ध होने पर या इस प्रकार का उल्लंघन किए जाने का युक्तियुक्त संदेह होने पर, वस्तुतया नागरिकता से वंचित कर देने का कड़ा दंड देती है, उसे इस आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता कि उसने जनसाधारण के हितों में युक्तियुक्त प्रतिबध लगाया था (*इब्राहीम वाजेर मावत बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1954 एस सी 229)। अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए प्रतिबंधों का जो उपबंध किया गया है,

1 बाह्यकरण (Externment)

2. देशनिकाला (Deportation)

उसमें अधिकांशतया आदिवासी जनजातियों को ध्यान में रखा गया है क्योंकि उनकी अलग संस्कृति, भाषा और रीति-रिवाज हैं। जिन क्षेत्रों में जनजातीय लोग रहते हैं, यदि उन क्षेत्रों में बाहरी लोगों को बेरोक-टोक आने दिया जाए तो उससे उनके हित खतरे में पड़ सकते हैं (*देखिए धनबहादुर घोरटी बनाम राज्य,* ए आई आर 1957 अनु. 61)।

वेश्याओं पर एक विशिष्ट क्षेत्र में अपना धंधा करने तथा विशेष क्षेत्रों में निवास करने या वहां से संचरण करने के लिए लगाए गए प्रतिबंधों को विधिमान्य ठहराया गया है (*उत्तर प्रदेश राज्य बनाम कौशल्या,* ए आई आर 1964 एस सी 416)। इसी प्रकार, अभ्यस्त अपराधियों पर लगाए गए निवास के प्रतिबंधों को न्यायालयों ने युक्तियुक्त ठहराया है (*अरुपुघम बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1953 मद्रास. 664)।

वृत्ति तथा व्यापार की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 19(1) (छ) के अधीन भारत के प्रत्येक नागरिक को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार है। कारोबार करने के अधिकार में उसे किसी भी समय, जब उसका स्वामी चाहे, उसे बंद करने का अधिकार सम्मिलित है (*हाथीसिंह मैन्युफैक्चरिंग कंपनी बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1960 एस सी 923)। अतः किसी भी नागरिक को उसकी इच्छा के विरुद्ध कारोबार करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। *एक्सेल वियर बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1979 एस सी 25) के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि जब स्वामी अपने कर्मचारियों को न्यूनतम मजदूरी भी अदा नहीं कर सकता तो ऐसी स्थिति में कारोबार को बंद करने की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति अविधिमान्य है। किंतु स्वतंत्रता के विभिन्न अधिकारों की भांति यह अधिकार भी निर्बाध नहीं है और राज्य "जनसाधारण के हितों में" इस अधिकार पर भी युक्तियुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। मिसाल के तौर पर, नशीली दवाओं या शराब, मिलावटी खाद्य पदार्थों जैसी अहितकर, जोखिमभरी और खतरनाक चीजों का व्यापार या कारोबार करना या महिलाओ या बच्चो का अवैध व्यापार करना मूल अधिकार नहीं हो सकता।

अनुच्छेद 19 के खंड (6) के अधीन, राज्य को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह किसी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने के बारे मे एवं राज्य को कोई व्यापार या कारोबार, चलाने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक वृत्तिक या तकनीकी अर्हताएं विहित कर सके। ऐसा करते समय नागरिकों को इस अधिकार से पूर्णतया अथवा अंशतया वंचित किया जा सकता है। वस्तुतया राज्य किसी व्यापार या कारोबार का पूर्णतया या अंशतया सभी नागरिकों का अपवर्जन करके, राष्ट्रीयकरण करने के लिए सक्षम है। एक्सेल वियर के मामले में न्यायालय ने निर्णय दिया कि जहा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा राज्य के स्वामित्व पर बृहत्तर बल दिया जा सकता है, वहां उद्योगों के निजी स्वामित्व को भी

मान्यता दी जाती है और निजी उद्यम भारत के आर्थिक ढांचे का एक काफी बड़ा हिस्सा है। शेयरहोल्डरों वाली लिमिटेड कंपनियां बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों की मालिक हैं। लेनदारों तथा जमाकर्ताओं और अनेक अन्य व्यक्तियों का इन उपक्रमों के साथ लेनदेन होता है। समाजवाद ऐसे सभी व्यक्तियों के हितों की उपेक्षा करने की हद तक नहीं जा सकता (ए आई आर 1979 एस सी 36; *न्यू बिहार बीड़ी लीव्स कंपनी बनाम बिहार*, ए आई आर 1981 एस सी 679)। तिस पर भी राज्य के लिए इस बात को उचित ठहराने की जरूरत नहीं होती कि उसका व्यापार एकाधिकार एक 'युक्तियुक्त' प्रतिबंध है या वह सर्वसाधारण के हित में है (*सगीर अहमद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1954 एस सी 728; *पी.टी. सोसाइटी बनाम आर.टी.ए.* ए आई आर 1960 एस सी 801)। असलियत यह है कि यदि राज्य सभी या कुछ नागरिकों का पूर्णतया या अंशतया अपवर्जन करके एकाधिकार के तौर पर या किसी नागरिक के साथ प्रतियोगिता करते हुए, कोई कारोबार चलाता है तो अनुच्छेद 19(1) (छ) के अधीन उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

अपराधों के लिए दोषसिद्धि के संबंध में संरक्षण

अनुच्छेद 20 के अधीन, संविधान ने अपराध के लिए दोषी व्यक्तियों के अधिकारों की सुरक्षा का ख्याल रखा है। इस अनुच्छेद को इतना महत्वपूर्ण माना गया है कि 44वें संशोधन में प्रावधान किया गया है कि इसे आपात स्थिति के दौरान भी अनुच्छेद 359 के अधीन किसी आदेश द्वारा निलंबित नहीं किया जा सकता।

भूतलक्षी प्रभाव वाली विधि[1] : अनुच्छेद 20 के खंड (1) के अनुसार, "किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा जब तक कि उसने ऐसा कार्य करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। वह उससे अधिक शास्ति[2] का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन लगाई जा सकती थी।" अतः विधानमंडल को भूतलक्षी प्रभाव से दांडिक विधियां बनाने का प्रतिषेध किया गया है। भूतलक्षी प्रभाव वाली विधि के विरुद्ध यह संरक्षण इसके अधीन दोषसिद्ध किए जाने के भागी व्यक्ति को उन्मुक्ति प्रदान करता है (*महाराष्ट्र बनाम के. के. सुब्रामनियन रामास्वामी*, ए आई आर 1977 एस सी 2091), हालांकि निवारक निरोध के खिलाफ (*प्रह्लाद बनाम बंबई* ए आई आर 1952 बंब. 1) या किसी व्यक्ति से सुरक्षा की मांग करने के लिए (*बिहार राज्य बनाम शैलबाला*, ए आई आर 1952 एस सी 329) इस उन्मुक्ति का दावा नहीं किया जा सकता। इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए

---

1. भूतलक्षी प्रभाव वाली विधि (Ex-post Facto Law)
2. शास्ति (Penalty)

कि अनुच्छेद 20(1) के अधीन प्रदान किया गया संरक्षण केवल दांडिक अपराधों[1] के लिए दोषसिद्धि के मामलों में लागू होगा किंतु यह विचारण[2] पर लागू नहीं होगा (*शिव बहादुरसिंह बनाम विंध्य प्रदेश राज्य* ए आई आर 1963 एस सी 394; *भारत संघ बनाम सुकुमन पायरे* ए आई आर 1966 एस सी 1206; *जी.पी. नय्यर बनाम राज्य* ए आई आर 1979 एस सी 602) और न ही किसी व्यक्ति को नागरिक दायित्व के लिए संरक्षण प्राप्त होगा (*ज्वाला राम बनाम पेप्सू राज्य,* ए आई आर 1962 एस सी 1246; *पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम एस.के. घोष,* ए आई आर 1963 एस सी 255 भी देखिए)। खंड 1 में 'शास्ति' शब्द का प्रयोग वास्तव में एक संकीर्ण अर्थ में किया गया है। इसका यह अर्थ है कि यदि कोई व्यक्ति जिस पर अपराध का अभियोग लगाया गया है, आरोप का दोषी पाया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप उसे कुछ 'भुगतान' करना होगा या उसे कुछ स्वतंत्रता से वंचित कर दिया जाएगा। [देखिए *शिवदत्त राम फतेहचन्द बनाम भारत* ए आई आर 1984 एस सी 1194; *आर.एस. जोशी बनाम अजीत मिल्स लि.* (1977) 4 एस सी सी 98]।

दोहरा जोखिम[3] : अनुच्छेद 20 के खंड (2) में 'दोहरे जोखिम' का सिद्धांत समाविष्ट है, क्योंकि इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि 'किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दंडित नहीं किया जाएगा।' संरक्षण के प्रयोजन के लिए 'अभियोजित' और 'दंडित' शब्दों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए। वास्तव में, इस सिद्धांत को विद्यमान भारतीय विधि में पहले ही मान्यता दी जा चुकी है (देखिए, साधारण खंड अधिनियम की धारा 26, और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 300)। किंतु खंड (2) द्वारा प्रदत्त संरक्षण केवल न्यायालय या न्यायिक अधिकरण द्वारा दिए गए दंड के संबंध में लागू होता है। यह किसी व्यक्ति को उन कार्यवाहियों से उन्मुक्ति प्रदान नहीं करता जो न्यायालय के समक्ष नहीं हैं। अतः न्यायालय द्वारा अभियोजित और दोषसिद्ध सरकारी कर्मचारी को उसी अपराध के लिए विभागीय कार्यवाही के अंतर्गत भी दंडित किया जा सकता है (*मोतीसिंह छगनसिंह वाघेला बनाम एस.डी. मेहता,* ए आई आर 1966 गुज. 233)। इस प्रकार, विभागीय रूप से दंडित व्यक्ति पर न्यायालय में अभियोग चलाया जा सकता है (*वेंकटरमन बनाम भारत* 1954 एस सी 375)। इसके अलावा, चूंकि अनुच्छेद 20(2) का प्रवर्तन आपराधिक न्यायालय के समक्ष अध्यारोपण तक सीमित है इसलिए यह आपराधिक कार्यवाही के साथ साथ, निषेधाज्ञा का पालन न करने के लिए किसी सिविल न्यायालय में कार्यवाही करने पर रोक नहीं लगाता, क्योंकि सिविल न्यायालय की

---

1. दांडिक अपराध (Criminal Offence)
2. विचारण (Trial)
3. दोहरा जोखिम (Double Jeopardy)

कार्यवाही आपराधिक कार्यवाही नही होती (*बच्चा लाल बनाम लाल जी,* ए आई आर 1976 इला. 393)।

स्वयं पर दोषारोपण का प्रतिषेध[1] : आपराधिक विधिशास्त्र की निर्णयन विधि के मानदंड के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को निर्दोष माना जाता है; अभियोग पक्ष को उसका दोष सिद्ध करना होगा। दूसरे, जिस व्यक्ति पर अपराध का अभियोग लगाया गया हो, उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध बयान देने की जरूरत नहीं है। ये सिद्धात अनुच्छेद 20 के खंड (3) में अंतर्निहित हैं जिसमे निर्धारित किया गया है कि 'किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।' अभियुक्त व्यक्ति के इस विशेषाधिकार के तीन घटक हैं, अर्थात उसे 'साक्षी होने की बाध्यता' के विरुद्ध और ऐसी बाध्यता के विरुद्ध जिसके परिणामस्वरूप उसे स्वयं अपने विरुद्ध साक्ष्य देना पड़े, संरक्षण का अधिकार प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, अभियुक्त व्यक्ति को बाध्य होकर स्वय के विरुद्ध अध्यारोपण करने अर्थात ऐसा बयान देने के विरुद्ध, जो मामले को अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध कम-से-कम अपने आप में संभव बना दे, सरक्षण प्राप्त है। इस संदर्भ में 'बाध्यता[2] का अर्थ होगा 'विबाध्यता[3]' (*बंबई राज्य बनाम काठी कोलू ओघड़* ए आई आर 1961 एस सी 1808, 1816)। नन्दिनी सत्पथी के मामले (ए आई आर 1978 एस सी 1025) में न्यायालय ने निर्णय दिया कि "संबद्ध उत्तर, जो अभियुक्त को वस्तुतया अपराध के साथ जोड़ने की साक्ष्य की शृंखला में एक वास्तविक तथा स्पष्ट संबंध उपस्थित करते हों, यदि अभियुक्त के मुंह से दबाव डालकर प्राप्त किए गए हों, वे अपराध में फंसाने वाले बन जाते हैं और अनुच्छेद 20(3) का उल्लंघन करते हैं।" इस निर्णय ने बाध्यता के क्षेत्र का विस्तार कर दिया और कहा कि "बाध्य करके प्राप्त किया गया परिसाक्ष्य" प्रत्यक्षतया केवल शारीरिक भय या हिंसा द्वारा नहीं बल्कि मानसिक यातना, पारिस्थितिक दबाव, परिवेशी संत्रास, थका देने वाली पूछताछ, अत्याचारी तथा भयोत्पादक तरीकों आदि से प्राप्त किया गया परिसाक्ष्य होता है। न्यायालय ने पुलिस प्राधिकारियों द्वारा उचित पालन के लिए कुछ दिशानिर्देश भी निर्धारित किए थे जैसे कि, अभियुक्त को यह अवश्य बताया जाना चाहिए कि उसे उसके किसी भी प्रश्न का उत्तर देने से पहले वकील को बुलाने का अधिकार है (*नन्दिनी सत्पथी बनाम पी.एल. दानी,* ए आई आर 1978 एस सी 1025)।

किंतु अनुच्छेद 20 का खंड (3) अभियुक्त को केवल एक विशेषाधिकार देता है जिसे, यदि वह चाहे तो छोड़ सकता है। किंतु जब वह अपनी इच्छा से स्वयं के विरुद्ध साक्ष्य

---

1. स्वयं पर दोषारोपण का प्रतिषेध (Prohibition against Self Inerimination)
2. बाध्यता (Compulsion)
3. विबाध्यता (Duress)

देने के लिए तैयार हो तो इस अनुच्छेद का उल्लंघन नहीं होता (*लक्ष्मीपत चौरसिया बनाम महाराष्ट्र,* ए आई आर 1918 एस सी 938)।

अभियुक्त को प्रदान की गई उन्मुक्ति सारवान पदार्थो की अनिवार्य प्रस्तुति या नमूना-लेखन, नमूना-हस्ताक्षर, अंगुलियों के निशान या शरीर के अनिवार्य प्रदर्शन या खून के नमूने देने की बाध्यता पर लागू नहीं होती (देखिए *दस्तगीर बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1960 एस सी 756)। इसके अलावा, कागजात प्रस्तुत करने की बाध्यता का केवल उस स्थिति में प्रतिषेध है जब वे आरोप के संबंध में अभियुक्त की व्यक्तिगत जानकारी को उजागर करते हों (*बंबई राज्य बनाम काठी कोलू* ए आई आर 1961 एस सी 1808, 1816)।

किसी अपराध के लिए अभियुक्त के परिसर की तलाशी के वारंट के तहत तलाशी और कागजात का अभिग्रहीत किया जाना अनुच्छेद 20(3) का उल्लंघन नहीं है, क्योंकि तलाशी का वारंट एक पुलिस अधिकारी को जारी किया जाता है और इसलिए तलाशी और अभिग्रहण संबंधित परिसर के अधिभोगी के कार्य नहीं माने जा सकते बल्कि वे एक अन्य व्यक्ति के कार्य होंगे जिसके सामने अधिभोगी प्रस्तुत होने के लिए बाध्य होता है और इसलिए, वे किसी भी स्थिति में उसके परिसाक्षी कार्य नहीं होते (*एम.पी. शर्मा बनाम सतीश* 1954 एस सी 300, 306)। यदि तलाशी तथा अभिग्रहण की कार्यवाही के फलस्वरूप कोई कागजात बरामद होते हैं तो उन्हें अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य के रूप में न्यायालय मे पेश किया जा सकता है क्योंकि इसे स्वयं के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिए बाध्य किया जाना नहीं कहा जा सकता (*वी.एस. कुट्टन पिल्लै बनाम राम किशन,* ए आई आर 1980 एस सी 185)।

जीवन तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण

संविधान का अनुच्छेद 21 गारंटी देता है कि किसी व्यक्ति को 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा' उसके जीवन या उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा। यह अधिकार नागरिकों को भी प्राप्त है और गैर नागरिकों को भी। प्रसिद्ध गोपालन मामले मे, 'वैयक्तिक स्वतंत्रता' का अर्थ केवल व्यक्ति की देह या उसके शरीर से संबंधित स्वतंत्रता लगाया गया था। इसके अलावा, इसके अंतर्गत केवल कार्यपालिका की मनमानी कार्रवाई के विरुद्ध सरक्षण आता है (*ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1950 एस सी 27)। लेकिन बाद में, इसके परिक्षेत्र का विस्तार कर दिया गया और विधायी कार्यवाही के विरुद्ध सरक्षण को भी इसमें समाविष्ट कर दिया गया तथा अनुच्छेद 19(1) में उपबंधित स्वतत्रता के अधिकारों को, जो किसी व्यक्ति को वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, इसके अंतर्गत रख दिया गया। *मेनका गांधी बनाम भारत संघ* के मामले में, उच्चतम न्यायालय

ने वस्तुतया गोपालन केस को नामंजूर कर दिया और विचार व्यक्त किया कि न्यायालय को न्यायिक अर्थान्वयन की प्रक्रिया के द्वारा मूल अधिकारों के अर्थ तथा संदर्भ को क्षीण करने की बजाय उनके प्रभावक्षेत्र तथा परिक्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास करना चाहिए। उसने निर्णय दिया कि 'जीवित रहने' का अधिकार केवल शारीरिक अस्तित्व तक सीमित नहीं है बल्कि मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने का अधिकार भी उसके परिक्षेत्र में आता है (ए आई आर 1978 एस सी 597)। *फ्रांसिस कोरेली बनाम दिल्ली संघ राज्य-क्षेत्र* के मामले मे न्यायालय ने इस विचार का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि जीवित रहने का अधिकार केवल पशु जैसे अस्तित्व तक सीमित नहीं है (ए आई आर 1981 एस सी 746)। न्यायालय ने यह भी कहा कि कर्मकारों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान न करना उन्हें मूलभूत मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने के अधिकार से वंचित करने के तुल्य है और यह अनुच्छेद 21 का उल्लंघन है (*पीपल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1982 एस सी 1473)। आम तौर पर पटरीवासियों के केस के नाम से विख्यात केस में, उच्चतम न्यायालय ने विचार व्यक्त किया कि अनुच्छेद 21 में 'जीवन' शब्द में 'आजीविका' का अधिकार सम्मिलित है। उसने कहा कि यदि आजीविका के अधिकार को संविधान में दिए गए जीवन के अधिकार का हिस्सा नही माना जाता तो किसी व्यक्ति को उसके जीवन के अधिकार से वंचित करने का सबसे आसान तरीका यह है कि उसे उसके आजीविका के साधन से वंचित कर दिया जाए (*ओलगा टेल्लिस बनाम बंबई नगर निगम*, ए आई आर 1986 एस सी 180)।

उच्चतम न्यायालय के सामने जो विभिन्न मामले आए, उन सभी में हमेशा इसी उदार दृष्टिकोण तथा विचार को कायम रखा गया है। अतः यह निर्णय दिया गया है कि कर्जा अदा न कर पाने पर गरीब व्यक्ति को कारावास में डाल देना उसे उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित कर देने के तुल्य है (*जॉली जार्ज बर्घीज़ बनाम बैंक आफ कोचीन*, ए आई आर 1980 एस सी 470);

बंधित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम, 1976 के अधीन, बंधुवा मजदूरो की पहचान करना तथा उन्हें मुक्त कराना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि अनुच्छेद 21 की सीधी-सादी अपेक्षा को पूरा करने के लिए उनका उपयुक्त रूप से पुनर्वास किया जाना चाहिए (*नीरजा चौधरी बनाम मध्य प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1984 एस सी 1099);

'जीवन' शब्द कारावास में शारीरिक अवरोध या परिरोध तक सीमित नहीं बल्कि इसका पशु जैसे अस्तित्व से कहीं ज्यादा महत्व है (*खड़क सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1963 एस सी 1295);
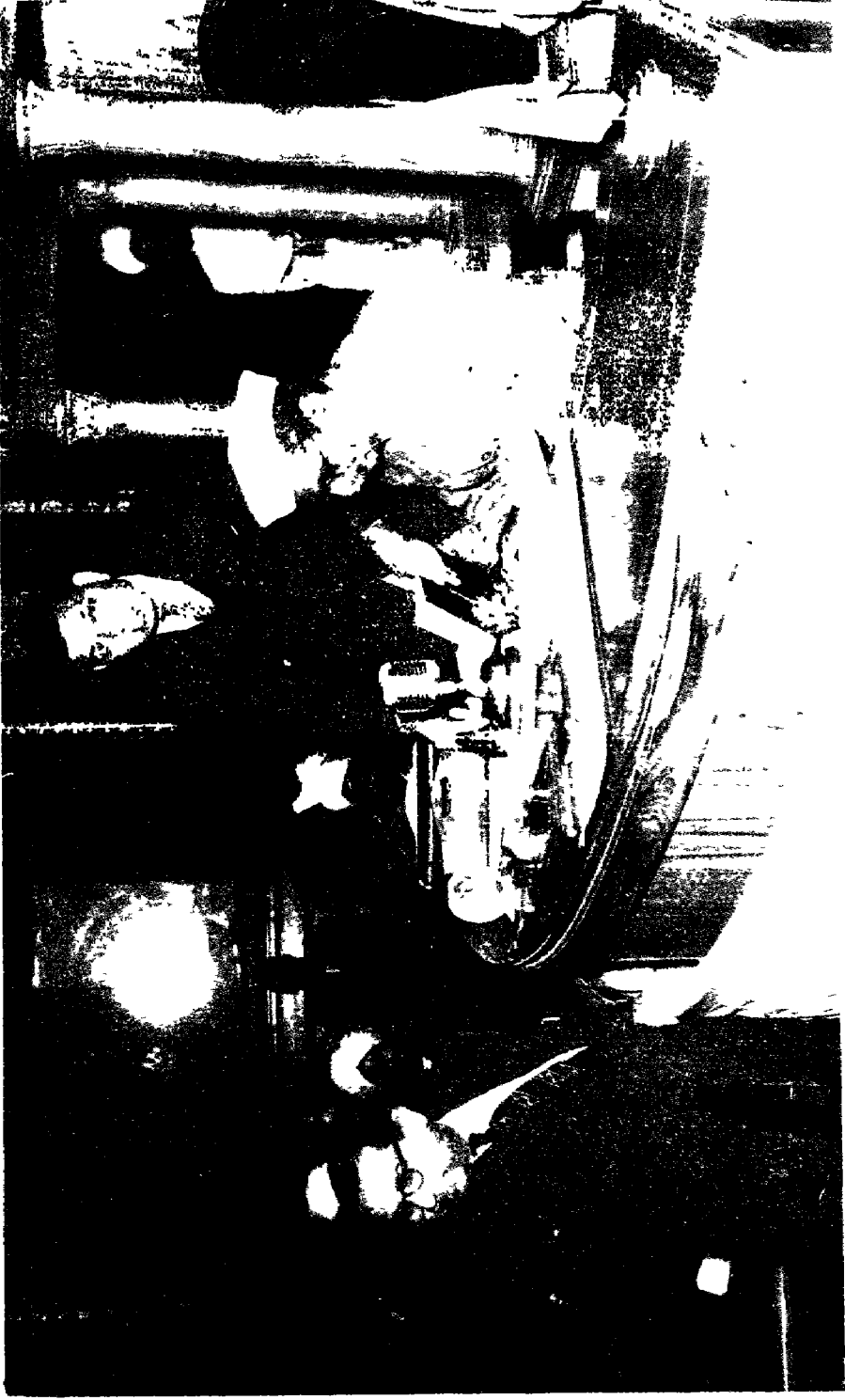
संविधान सभा के अध्यक्ष, डा० राजेन्द्र प्रसाद, संविधान पर हस्ताक्षर करते हुए

पंडित जवाहरलाल नेहरू संविधान पर हस्ताक्षर करते हुए। इनकी बाईं ओर हैं, के. एम. मुंशी

संविधान सभा के सत्र के दौरान मौलाना अबुल कलाम आजाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू

14-15 अगस्त 1947 की अर्धरात्रि में संपन्न संविधान सभा के सत्र में सरदार बलदेव सिंह, पंडित जवाहरलाल नेहरू और अन्य

'एकातता का अधिकार'[1] प्रत्येक मामले के घटनाक्रम की प्रक्रिया से होकर गुजरता है (*गोविन्द बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1975 एस सी 1379); यह अधिकार चरित्रहीन स्त्री को भी प्राप्त है, और कोई भी उसकी एकांतता का अतिक्रमण नहीं कर सकता (*महाराष्ट्र राज्य बनाम मधुलकर नारायण,* ए आई आर 1991 एस सी 207);

जब तक पुलिस अधिकारियों द्वारा की जाने वाली निगरानी अपराधों को रोकने के लिए और कानून द्वारा विहित सीमाओं के दायरे मे है, तब तक कोई व्यक्ति उसका नाम निगरानी रजिस्टर में शामिल किए जाने के विरुद्ध शिकायत नहीं कर सकता किंतु यदि उसकी अति हो जाए और वह विहित सीमाओं को पार कर जाए तो उसकी विधिमान्यता को अनुच्छेद 21 के अधीन वैयक्तिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार के अंतर्गत किसी नागरिक के एकांतता के अधिकार तथा अनुच्छेद 19(1) (च) के अधीन संचरण की स्वतंत्रता का अतिक्रमण करने के आधार पर चुनौती दी जा सकती है। (*मलकसिंह बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1981 एस सी 760);

हत्या के मामले में, युक्तियुक्त आधार के बिना, जमानत मंजूर करने से इकार करना अनुच्छेद 21 के अधीन वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित करने के तुल्य होगा (*बाबू सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1978 एस सी 527);

अनुच्छेद 21 का संरक्षण जेल मे बंद दोषसिद्धों को भी प्राप्त है (*डी.बी.एम. पट्टनायक बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1974 एस सी 2092);

यदि एकांत परिरोध के कारण बंदी परस्पर सौहार्द से वंचित हो जाए, उनका संपर्क खत्म हो जाए और वे न किसी से बात कर सकें तथा न ही उनसे कोई बात कर सके, तो यह अनुच्छेद 21 का उल्लंघन होगा [*सुनील बत्रा (एन ओ 1) बनाम दिल्ली प्रशासन* ए आई आर 1978 एस सी 1575];

किसी बदी की वैयक्तिक स्वतंत्रता पर केवल वही प्रतिबंध लगाए जा सकते है, जो निवारक निरोध कानून द्वारा या उसके अधीन प्राधिकृत हैं; कोई भी अनधिकृत प्रतिबंध लगाना अनुच्छेद 21 का उल्लंघन होगा (*महाराष्ट्र राज्य बनाम प्रभाकर पाडुरंग,* ए आई आर 1986 एस सी 424);

'विदेश यात्रा का अधिकार' किसी व्यक्ति की 'वैयक्तिक स्वतंत्रता' का अंग है, जो कि एक व्यापक संकल्पना है (*सतवंत सिंह बनाम सहायक पारपत्र अधिकारी,* ए आई आर 1967 एस सी 1836),

सभी डाक्टरों का, चाहे वे सरकारी हों या गैर सरकारी, यह वृत्तिक दायित्व है कि वे घायल व्यक्ति की जान को बचाने के लिए उसे तुरंत डाक्टरी सहायता दें और दंड प्रक्रिया संहिता के अधीन पुलिस द्वारा पूरी की जाने वाली कानूनी औपचारिकताओं की प्रतीक्षा

1. एकांतता का अधिकार (Right of Privacy)

न करे (*परमानन्द कटारा बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1989 एस सी 2039);

जब कोई अनुच्छेद 21 के उल्लंघन के लिए अनुतोष की मांग करता है, तब उसे स्वयं को किसी ऐसे प्रत्यक्ष, स्पष्ट और प्रकट कार्य तर्क सीमित रखना चाहिए जिससे उसके जीवन या समाज के अन्य लोगों के जीवन के अस्तित्व को खतरा है (*रामशरण औत्रिन उपराशि बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1989 एस सी 549 तथा 552);

किसी व्यक्ति को अवमानवीय दशाओं में रहने के लिए विवश करना भी उसके प्राण ले लेने के बराबर है। उसके प्राण मृत्युदंड के निष्पादन के द्वारा नहीं बल्कि उसे उसकी सभी मानवीय योग्यताओ तथा गरिमाओं से वंचित करके एक धीमी तथा क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा हर लिए जाते हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो किसी व्यक्ति को फांसी पर लटकाने से भी ज्यादा क्रूर है (*शंकर बनर्जी बनाम दुर्गापुर प्राजैक्ट लि.* ए आई आर 1988 कल. 136)।

मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य (ए आई आर 1992 एस सी 1858) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णय में अनुच्छेद 21 के क्षेत्र का आगे और विस्तार कर दिया और शिक्षा के अधिकार को भी जीवन के अधिकार के अतर्गत सम्मिलित कर दिया। वस्तुतया न्यायालय ने चिकित्सा जैसे वृत्तिक क्षेत्रों में उच्चतर शिक्षा को भी मूल अधिकार घोषित कर दिया। किंतु बाद में मोहिनी जैन के मामले में न्यायालय ने अपने ही निर्णय को रद्द कर दिया और निर्णय दिया कि अनुच्छेद 21 के अधीन, वृत्तिक डिग्री के लिए शिक्षा के मूल अधिकार का कोई उपबंध नहीं है। किंतु, पांच में से तीन न्यायाधीशों का विचार था कि 14 वर्ष की आयु तक प्रारंभिक शिक्षा पाने का अधिकार नागरिकों का मूल अधिकार हो सकता है [*जे.पी. उन्नीकृष्णन तथा अन्य बनाम आंध्र प्रदेश राज्य तथा अन्य, आदि जजमैंट्स टुडे,* 1993(1) एस सी 474]।

7 जून, 1993 को उच्चतम न्यायालय ने दोहराया कि अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन के अधिकार में आजीविका का अधिकार भी सम्मिलित है। किसी कर्मचारी की सेवाओं को समाप्त कर देने का आदेश 'न केवल उसकी आजीविका बल्कि उसके आश्रितों के भविष्य तथा आजीविका' को भी खतरे में डाल देता है (*डी.के. यादव बनाम जे.एम.ए. इंडस्ट्रीज लि.*)।

गिरफ्तारी तथा निरोध से संरक्षण

लोगों को बिना मुकदमा चलाए कैद में डाल लेना औपनिवेशक शासन में आम बात थी और स्वतंत्रता संग्राम के दौरान एक प्रमुख मसला था। अनुच्छेद 22 के खंड (1) तथा (2) में निर्धारित किया गया है कि किसी व्यक्ति को, जिसे गिरफ्तार किया गया हो, ऐसी गिरफ्तारी के कारणों से अवगत कराए बिना निरुद्ध नहीं रखा जाएगा, उसे वकील से परामर्श करने

और बचाव कराने के अधिकार से वंचित नहीं रखा जाएगा और उसे 24 घंटे के अंदर अंदर निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जाएगा।

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि निरुद्ध व्यक्ति को गिरफ्तारी के कारणों से अवगत कराना, उसे वकील से परामर्श करने तथा बचाव कराने की इजाजत देना, उसे निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करना इस अनुच्छेद के अंतर्गत आज्ञापक अपेक्षाएं हैं [*गोपालन बनाम मद्रास राज्य* (1950) एस सी आर 88; *हंसमुख बनाम गुजरात राज्य,* ए आई आर 1981 एस सी 28; *मध्य प्रदेश राज्य बनाम शोभाराम,* ए आई आर 1968 एस सी 1910; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम अब्दुल समद,* ए आई आर 1962, एस सी 1506]।

उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्टीकरण भी किया कि न्यायालय के आदेशों के तहत गिरफ्तारी, विदेशी को स्वदेश वापस भेजना और सिविल हेतुक के संबंध में गिरफ्तारी अनुच्छेद 22(1) तथा (2) के अतर्गत नहीं आते [*उत्तर प्रदेश राज्य बनाम अब्दुल समद,* ए आई आर 1962 एस सी 1506; *मधु लिमये वाला मामला,* ए आई आर 1969 एस सी 104; *पंजाब राज्य बनाम अजायब सिंह* (1953) एस सी आर 254]। इसके अलावा खंड (1) तथा (2) किसी विदेशी या निवारक निरोध के मामलों पर लागू नहीं होते।

अनुच्छेद 22 के खंड 3 से 7, परंतुकों या अपवाद खंडों के रूप में हैं और वे किसी कानून के अधीन निवारक निरोध के मामलों में लागू होते हैं। परिभाषा के अनुसार निवारक निरोध किसी गैर कानूनी कार्य को रोकने के लिए होता है, न कि किसी गैर कानूनी कार्य के लिए किसी व्यक्ति को दंड देने के लिए। अनुच्छेद 22 संसद को निवारक निरोध का उपबंध करने वाला ऐसा कानून बनाने का अधिकार देता है जिसमें यह निर्धारित किया गया हो कि किसी व्यक्ति को किन परिस्थितियों में, किस वर्ग के मामलों में, अधिक-से-अधिक कितनी अवधि के लिए निरुद्ध किया जा सकता है। उसमें सलाहकार बोर्ड की स्थापना और उसकी प्रक्रिया भी शामिल है। निवारक निरोध के अधिकार के संभावित दुरुपयोग के विरुद्ध संरक्षण के रूप में कतिपय उपायों का उपबंध किया गया है। अतः निवारक निरोध को तीन महीने से अधिक अवधि के लिए विधि द्वारा अधिकृत नहीं किया जा सकता, जब तक कि सलाहकार बोर्ड उसके लिए पर्याप्त कारण नहीं देखता और बहरहाल कानून में इस प्रकार के निरोध की अधिकतम अनुज्ञात अवधि का उपबंध होना ही चाहिए। निवारक निरोध के प्रत्येक मामले में निरुद्ध व्यक्ति को उसके कारणों से अवगत कराया जाएगा और उसे उसके निरुद्ध अभ्यावेदन देने का अवसर भी प्रदान किया जाएगा।

न्यायालयों ने किसी विधि के अंतर्गत, निवारक निरोध के यथार्थ मामलों को छोड़कर, विचारण के बिना निरोध के प्रति बड़ा गंभीर दृष्टिकोण अपनाया है। यदि कोई विधि

अयुक्तियुक्त या अनुचित पाई जाती है, तो उसे रद्द किया जा सकता है या यदि विधि के अधीन गिरफ्तारी तथा निरोध का कोई आदेश त्रुटिपूर्ण है, तो न्यायालय निरुद्ध व्यक्ति को तुरंत रिहा करने का आदेश दे सकता है [*गोपालन बनाम मद्रास राज्य* (1950) एस सी आर 88; *ए.डी.एम. बनाम शुक्ला* ए आई आर 1976 एस सी 1207]।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

अनुच्छेद 23 तथा 24 का उद्देश्य है कि मानव के अवैध व्यापार, बेगार और अन्य बलात श्रम, कारखानों आदि में बच्चों के नियोजन आदि के द्वारा शोषण के विरुद्ध संरक्षण प्रदान किया जाए। मानवों यानी स्त्रियों-बच्चों आदि का अवैध व्यापार, बलात श्रम आदि मानव की उस गरिमा के प्रतिकूल हैं जो कि उद्देशिका मे प्रतिष्ठापित मूल संवैधानिक मूल्य है। पुरानी जमींदारी प्रथा में, असामियों को कभी कभी अपने जमींदारों की मुफ्त सेवा करने के लिए विवश किया जाता था। इसे बेगार कहा जाता था। न्यायालयों ने निर्णय दिया है कि भले ही कुछ मेहनताना क्यों न अदा किया जाए, वह श्रम बलात श्रम है (*पीपल्स यूनियन बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1982 एस सी 1473)।

इसके पीछे समूचा उद्देश्य यह है कि राज्य या किसी अन्य व्यक्ति को, किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए विवश करने या किसी तरह से मानव देह का दुरुपयोग करने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में केवल एक अपवाद है जो राज्य को लोक प्रयोजनो के लिए अनिवार्य सेवा आरोपित करने की इजाजत देता है, जैसे, सैनिक सेवा या समाज सेवा जो धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग के किसी विभेद के बिना सभी पर समान रूप से आरोपित की जानी चाहिए।

अनुच्छेद 24 कारखानो या खानों में या किन्हीं अन्य खतरनाक कार्यों मे 14 वर्ष से कम आयु के बच्चो के नियोजन का विशिष्ट रूप से निषेध करता है। यह निषेध मानव अधिकारो सबधी अवधारणाओ तथा संयुक्त राष्ट्र के सिद्धांतो के अनुरूप है।

अनुच्छेद 22 तथा 23 को कार्यरूप देने के लिए कुछ कानून बना दिए गए हैं।

धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार

उद्देशिका में कहा गया है कि हमारा गणराज्य अन्य बातो के साथ साथ पथनिरपेक्ष है। संविधान में पंथनिरपेक्षता की अवधारणा धर्मविहीन या धर्मविरोधी अवधारणा नहीं है। इसका केवल यही अर्थ है कि राज्य का कोई धर्म नहीं है, सभी धर्मो को समान आदर तथा संरक्षण प्राप्त है, धर्म के आधार पर किसी के साथ विभेद नहीं किया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति को धर्म की पूर्ण तथा समान स्वतंत्रता की गारंटी प्राप्त है ("उद्देशिका" संबंधी अध्याय के अंतर्गत देखिए)। अनुच्छेद 25 से 28 में सभी व्यक्तियों को धर्म के सभी पक्षों में स्वतंत्रता के अधिकार की गारटी का उपबध किया गया है।

अंतःकरण और धर्म की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 25 का उपबध है कि सभी व्यक्तियों को—न केवल नागरिकों को—अत करण की स्वतंत्रता और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का बराबर का हक होगा। किंतु धार्मिक स्वतत्रता का यह अधिकार लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन है। राज्य को छूट होगी कि वह धार्मिक आचरण से जुड़ी किसी लौकिक गतिविधि को विधि द्वारा विनियमित करे और समाजकल्याण तथा सुधार के लिए या हिंदू मंदिरो आदि को हिंदुओ के सभी वर्गो के लिए खोलने के लिए उपबध करे। कृपाण धारण करना सिख धर्म के मानने का अंग समझा जाएगा और इस अनुच्छेद के प्रयोजनों के लिए सिख, जैन और बौद्ध भी हिदुओं में शामिल होंगे।

उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि धर्म का प्रचार करने के अधिकार में बलात धर्म परिवर्तन का कोई अधिकार शामिल नही है क्योंकि इससे लोक व्यवस्था गड़बड़ा सकती है (*स्टेनस्लास बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1977 एस सी 908)। आनन्द मार्ग के मामले में, सार्वजनिक जुलूस में घातक हथियारों तथा मनुष्य की खोपड़ियों के साथ तांडव नृत्य करने को अनिवार्य धार्मिक आचरण नहीं माना गया था और लोक व्यवस्था तथा सदाचार के हित में उस जुलूस पर रोक लगाना एक युक्तियुक्त प्रतिबंध माना गया था (*जगदीश्वरानन्द बनाम पुलिस आयुक्त,* ए आई आर 1984 एस सी 51)। इसी प्रकार बकरीद के मौके पर गो-वध को इस्लाम की अनिवार्य प्रथा नहीं माना गया है। इसलिए, लोक व्यवस्था के हित मे विधि द्वारा इसका प्रतिषेध किया जा सकता है (*मोहम्मद हनीफ़ कुरैशी बनाम बिहार राज्य,* ए आई आर 1958 एस सी 731)। धर्माचरण से जुड़ी जिन लौकिक गतिविधियो का विनियमन राज्य कर सकता है, उनका निर्वचन इस अर्थ में किया गया है कि वे धर्म के गैर जरूरी पक्ष हैं या मिसाल के लिए, वे धार्मिक संपत्तियों के लौकिक प्रशासन के मामले है और अनिवार्य है कि उनके सबंध में कानून के अनुसार कार्रवाई की जाए [*रतिलाल बनाम बंबई राज्य* (1954) एस सी आर 1055; *रामानुज बनाम तमिलनाडु राज्य* ए आई आर 1972 एस सी 1586; *आयुक्त, एच आर ई बनाम लक्ष्मीन्द्र* (1954) एस सी आर 1005; *दिग्नदर्शन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1970 एस सी 181]।

धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 25 से प्रसूत अनुच्छेद 26 सभी धार्मिक संप्रदायों तथा उनकी शाखाओं को यह मूल अधिकार देता है कि वे धार्मिक और मूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और उनका पोषण कर सकते हैं, धर्म विषयक अपने कार्यों का प्रबंध कर सकते हैं, और उन्हें संपत्ति के स्वामित्व, अर्जन और प्रबंधन का अधिकार होगा। किंतु, संपत्ति का प्रशासन विधि

के अनुसार होना चाहिए। अनुच्छेद 25 के अधीन दिए गए अधिकारों की भांति, अनुच्छेद 26 के अधीन अधिकार भी लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन हैं, लेकिन वे अन्य मूल अधिकारों के अधीन नहीं हैं। अनुच्छेद 25 के अधीन किए गए प्रावधान के अनुसार न्यायालयों ने धर्म के जरूरी तथा गैर जरूरी पक्षों के बीच विभेद किया है। यह निर्णय दिया गया है कि धार्मिक संस्थाओं की संपत्ति के प्रशासन को विधि द्वारा विनियमित किया जा सकता है किंतु प्रशासन के अधिकार को पूरी तरह से छीना नहीं जा सकता [*रतिलाल बनाम बंबई राज्य* (1954) एस सी आर 1055; *रामानुज बनाम तमिलनाडु राज्य,* ए आई आर 1961 एस सी 1402; *सरुप बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1959 एस सी 850; *नरेन्द्र बनाम गुजरात राज्य,* ए आई आर 1974 एस सी 2092; *राम बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1981 एस सी 1576]।

अनुच्छेद 25 तथा 26, एक साथ, राज्य और धर्म के पृथक पृथक क्षेत्रो तथा भूमिकाओं की व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। दोनों को अपने पंथनिरपेक्ष और धार्मिक कार्यकलापों को चलाने .की छूट है और दोनों एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

धर्म की अभिवृद्धि के लिए कर न देने की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि या पोषण में व्यय के लिए कोई कर अदा करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा अर्थात यदि करों का इस्तेमाल सभी धर्मो की अभिवृद्धि के लिए किया जाता है तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह पथनिरपक्षता की अवधारणा के अनुरूप है और उसका अर्थ है सर्वधर्म समभाव।

धार्मिक शिक्षा में उपस्थित न होने की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 28 पूर्णतया राज्य निधि से पोषित शैक्षिक संस्थाओं में कोई धार्मिक शिक्षा देने का पूर्णतया प्रतिषेध करता है। राज्य से मान्यता तथा सहायता-प्राप्त अन्य संस्थाओं के मामलों में, प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक शिक्षा या उपासना में उपस्थित न होने की स्वतंत्रता होगी।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण

अनुच्छेद 29 भारत में कहीं भी निवास करने वाले "नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है", उसे बनाए रखने के अधिकार की गारंटी देता है। किसी भी नागरिक को राज्य द्वारा पोषित या उससे सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षा

संस्था में केवल धर्म, मूलवंश, जाति या भाषा के कारण प्रवेश देने से इंकार नहीं किया जा सकता।

हालांकि उपांतिक शीर्षक में 'अल्पसंख्यक वर्ग' पद का प्रयोग किया गया है, किंतु अनुच्छेद के पाठ में इसका कोई उल्लेख नहीं है और यह निर्णय दिया गया है कि यह अधिकार नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को—चाहे वह अल्पसंख्यक है या बहुसंख्यक—प्राप्त है। (*अहमदाबाद सेंट ज़ेवियर कालेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य*, ए आई आर 1974 एस सी 1389)।

शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और उनका प्रबंध करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार

अनुच्छेद 30(1) में कहा गया है कि धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओ की स्थापना और उनके प्रबंध का अधिकार होगा। 44वें संशोधन द्वारा जोड़े गए खंड 1(क) में उपबध किया गया है कि यदि किसी ऐसी संस्था की संपत्ति अर्जित की जाती है, तो उसका उचित तथा पर्याप्त मुआवजा दिया जाएगा ताकि इस अधिनियम द्वारा दिया गया अधिकार सार्थक बना रहे। खंड (2) में उपबंध किया गया है कि सहायता देने के मामले में राज्य अल्पसख्यकों द्वारा प्रबंधित संस्थाओं के साथ विभेद नहीं करेगा।

अनुच्छेद 30 पूर्णतया अल्पसंख्यकों के अधिकार से संबद्ध है अर्थात इसका आशय अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना है। यह बहुत ही व्यापक है क्योंकि अनुच्छेद 29 की भांति यह भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण तक ही सीमित नहीं है (*रेव. फादर प्रस्ट बनाम बिहार राज्य*, ए आई आर 1969 एस सी 465; *अहमदाबाद सेंट ज़ेवियर कालेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य*, ए आई आर 1974 एस सी 1389)। इसके अलावा, इस अनुच्छेद के अधीन 'अपनी रुचि की' शिक्षा संस्थाओं की स्थापना तथा प्रबंधन के अल्पसख्यकों के अधिकार में शिक्षा का माध्यम, पाठ्यचर्या, पढ़ाए जाने वाले विषय आदि चुनने का अधिकार भी सम्मिलित है (*डी.वी. कालेज, भटिंडा बनाम पंजाब राज्य*, ए आई आर 1971 एस सी 1731; *केरल शिक्षा विधेयक के संबंध में*, ए आई आर 1958 एस सी 956)।

किंतु प्रबंधन के अधिकार का अर्थ कुप्रबंधन का अधिकार नहीं है। यह अधिकार राज्य की नियामक शक्ति के अधीन है। समाजकल्याण, औद्योगिक संबंधों, शैक्षिक स्तरों, कार्यकुशलता, अनुशासन, स्वास्थ्य, स्वच्छता, लोक व्यवस्था, सदाचार आदि के हितों में बनाई गई विधि अनुच्छेद 30 का उल्लंघन नहीं करती, जब तक कि वह अल्पसंख्यकों को संस्था का प्रबंध करने के उनके अधिकार से वंचित नहीं करती। अध्यापकों के सेवा संबंधी हितों

की रक्षा करने और पदच्युत किए जाने, पद से हटाए जाने और पंक्ति में अवनत किए जाने के विषय में उनकी सेवा की शर्तों को विनियमित करने के लिए बनाई गई विधि अनुच्छेद 30 का उल्लंघन नहीं करती [*केरल शिक्षा विधेयक के संबंध में*, ए आई आर 1958 एस सी 956; *अहमदाबाद सेंट ज़ेवियर कालेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य*, ए आई आर 1974 एस सी 1389; *फ्रैंक एंथनी पब्लिक स्कूल इम्प्लाइज एसोसिएशन बनाम भारत संघ* (1986) 4 एस सी सी 707; *आलसेंट्स हाई स्कूल बनाम आंध्र प्रदेश सरकार*, ए आई आर 1980 एस सी 1042]।

अनुच्छेद 30 की, अन्य बातों के साथ साथ, इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रबंधन का जो अधिकार दिया गया है, वह (अधिकार) बहुसंख्यक समुदाय को नहीं दिया गया है। इसके अलावा, चूंकि संविधान में कहीं भी 'अल्पसंख्यक' शब्द की परिभाषा नहीं की गई है और अल्पसंख्यक वर्ग से संबंधित होने के लाभ हैं, इसलिए बहुसंख्यक हिंदुओं के कुछ वर्गों ने जैसे, पंजाब में आर्यसमाज ने, अल्पसंख्यक दर्जे का दावा करना शुरू कर दिया। बंगाल मे रामकृष्ण मिशन को घोषणा करनी पड़ी कि वे हिंदू नहीं हैं बल्कि वे एक स्वतंत्र अल्पसंख्यक धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। डी.ए.वी. और रामकृष्ण मिशन की संस्थाओ के लिए अनुच्छेद 30 के संरक्षण तथा लाभ का दावा करने के लिए ऐसा करना जरूरी हो गया [देखिए, संवैधानिक रिट अधिकारिता, सी ओ न. 1283 (1980 की रिट) में रामकृष्ण मिशन द्वारा कलकत्ता उच्च न्यायालय में दायर किया गया शपथ-पत्र], ('भाषा संबंधी उपबंध' अध्याय के अंतर्गत भी देखिए)।

संपत्ति का अधिकार तथा कुछ विधियों की व्यावृत्ति

संपत्ति का अधिकार सर्वाधिक जटिल तथा विवादास्पद सिद्ध हुआ है। हमारे संविधान में इसका इतिहास बहुत रंग-बिरंगा है। संविधान सभा में भारत के संविधान के निर्माण की विभिन्न प्रावस्थाओं के दौरान, संपत्ति संबंधी उपबंध सर्वाधिक विवादास्पद सिद्ध हुए थे और उन्होंने संवधिान निर्माताओं की कल्पना, विलक्षणता, प्रारूपण-कुशलता और अनुकूलन तथा समझौते की भावना पर सबसे ज्यादा बोझ डाला। अंततः एक मतैक्य हो गया जिसका प्रत्येक प्रतिद्वंद्वी ने अपने तरीके से अर्थ लगाया।

इस मतैक्य को संविधान के अनुच्छेद 31 तथा 19(च) में समाविष्ट किया गया। किंतु संविधान के लागू होने के बाद भी संपत्ति संबंधी उपबंध सर्वाधिक विवादास्पद बने रहे। इनके कारण विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच जबरदस्त टकराव उत्पन्न हो गए और उसकी वजह से संविधान में अनेक संशोधन करने पड़े। अंततः, संविधान (44वां संशोधन) अधिनियम, 1978 के द्वारा 20 जून, 1979 से अनुच्छेद 19(छ) और 31 को मूल अधिकारों

की श्रेणी से पूर्णतया निरसित कर दिया गया। इसकी बजाय, संविधान के भाग 12 में एक नया अध्याय, अध्याय 4–और एक नया अनुच्छेद–300 क–जोड़ा गया। उसमें उपबध किया गया कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि के अधिकार से ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार, संपत्ति का अधिकार मूल अधिकार नहीं रहा किंतु अभी भी यह कानूनी अधिकार है। अनुच्छेद 300 क कार्यपालिका की कार्रवाई के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करता है किंतु विधायिका के निर्णय के विरुद्ध संरक्षण प्रदान नहीं करता। अनुच्छेद 31 का निरसन होने पर भी, अनुच्छेद 31 क (जो 1951 में प्रथम संशोधन द्वारा जोड़ा गया था और चौथे, 17वें और 44वें संशोधनों द्वारा संशोधित किया गया था), 31 ख (जो 1951 में प्रथम संशोधन द्वारा जोड़ा गया था) और 31 ग (जो 1971 में 25वें तथा 44वें सशोधनों द्वारा सशोधित किया गया था) अभी भी मूल अधिकारों के अंग हैं। उनका आशय संपदाओं आदि का उपबंध करने वाली कुछ विधियों को व्यावृत्ति प्रदान करना है ताकि उन पर अनुच्छेद 14 तथा 19 से असंगत होने के आधार पर आपत्ति न हो तथा उन्हे अवैध न ठहराया जाए। उनका आशय है कि नवम अनुसूची में सूचीबद्ध कुछ अधिनियमों तथा विनियमो को विशिष्ट रूप से विधिमान्य किया जाए और उन्हें इस आधार पर चुनौती न दी जाए कि वे किन्हीं मूल अधिकारों से असंगत हैं। वे निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली कुछ विधियों को अनुच्छेद 14 तथा 19 से असंगत होने के आधार पर आपत्ति किए जाने तथा अविधिमान्य बनाए जाने से व्यावृत्ति प्रदान करते हैं।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य (ए आई आर 1973 एस सी 146) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि नवम अनुसूची में समाविष्ट होने के बावजूद किसी विधि को संविधान की बुनियादी विशेषताओं का उल्लंघन किए जाने के आधार पर चुनौती दी जा सकती है और यह कि कोई विधि निदेशक तत्वों के अनुरूप है या नहीं, इसके निर्णय संबंधी न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार को छीना नहीं जा सकता। *मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1980 एस सी 1789) के मामले में, न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 31 ग में 42वें संशोधन द्वारा विधान को न्यायिक पुनर्विलोकन से दी गई थोक छूट ने संविधान की बुनियादी संरचना को नष्ट कर दिया है [*श्रीनिवास बनाम कर्नाटक राज्य,* ए आई आर 1987 एस सी 1518; *मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1986 एस सी 2030; *संजीव कोक बनाम भारत कोकिंग,* ए आई आर 1983 एस सी 239; *महाराष्ट्र राज्य बनाम बसंतीबाई* (1986) 2 एस सी सी 516; *वामनराव बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1980 एस सी 273 भी देखिए]।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार

अधिकार तभी सार्थक होते हैं जब उन्हें लागू किया जा सके और यदि उनका उल्लघन हो तो उपचार किया जा सके। हमारा संविधान न केवल कतिपय मूल अधिकारों की गारंटी देता है बल्कि अनुच्छेद 32 के अधीन, यह मूल अधिकारों को लागू कराने के लिए समुचित कार्यवाही द्वारा देश के उच्चतम न्यायालय का द्वार खटखटाने के अधिकार की गारंटी भी देता है। उच्चतम न्यायालय बदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकारपृच्छा और उत्प्रेषण रिट जारी कर सकता है। संसद किन्हीं अन्य न्यायालयो को भी इन अधिकारों का प्रयोग करने की शक्ति प्रदान कर सकती है। अनुच्छेद 32 द्वारा प्रत्याभूत अधिकार को संविधान द्वारा किए गए उपबध के सिवाय निलंबित नहीं किया जा सकता। यथा, (क) आपात स्थिति की उद्घोषणा के दौरान, अनुच्छेद 20 तथा 21 के सिवाय, किसी भी मूल अधिकार को लागू कराने के लिए न्यायालय में जाने के अधिकार को अनुच्छेद 359 के अधीन निलबित किया जा सकता है और (ख) अनुच्छेद 358 के अधीन राज्य की कार्यपालक तथा विधायी शक्ति अनुच्छेद 19 में समाविष्ट स्वतत्रता के अधिकारो द्वारा निर्बधित नहीं हो जाएगी। जहा मूल अधिकारो के निलबन के लिए सविधान द्वारा सरक्षण दिया गया है, वहा अनुच्छेद 32 लागू नही होगा (*सोमावन्ती बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1964 एस सी 131)। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि यह अधिकार सविधान मे संशोधन करके भी छीना नहीं जा सकता, क्योकि यह संविधान की बुनियादी विशेषता है (*भारतीय उर्वरक निगम बनाम भारत सघ,* ए आई आर 1981 एस सी 344)। संविधान-रचना के समय भी डा अवेडकर ने इस उपबध को संविधान की मूल आत्मा तथा मर्म बताया था। केवल संविधान द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारो को अनुच्छेद 32 के अधीन लागू कराया जा सकता है। वास्तव मे, अनुच्छेद 32 का किसी गलत आदेश या किसी विधान की संवैधानिकता के साथ भी तब तक कोई सरोकार नही होता जब तक वह प्रत्यक्षतया किसी मूल अधिकार को प्रभावित न करे या उसका अतिक्रमण न करे (*चिरंजी लाल बनाम भारत सघ,* 1950 एस सी 109, *साधू सिह बनाम दिल्ली प्रशासन,* ए आई आर 1965 एस सी 9; *गोपाल दास बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1955 एस सी 1; *हाजी इस्माइल बनाम सक्षम अधिकारी,* ए आई आर 1967 एस सी 1244, *कुरियाकोस बनाम केरल राज्य,* ए आई आर 1977 एस सी 1509)। चूकि अनुच्छेद 32 के अधीन संवैधानिक उपचार का अधिकार स्वय एक मूल अधिकार है, इसलिए उच्चतम न्यायालय स्थायी मूल अधिकार के उल्लंघन के लिए अनुतोष से इंकार नहीं कर सकता। अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को भी विभिन्न रिट जारी करने की शक्तिया प्रदान करता है। मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामले में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों, दोनों को समवर्ती अधिकारिता प्राप्त है और प्रभावित व्यक्ति किसी का भी द्वार खटखटा सकता है [*कोचुनी बनाम मद्रास*

राज्य, ए आई आर 1959 एस सी 725, एम.के. *गोपालन बनाम मध्य प्रदेश राज्य* (1955) आई एस सी आर 168; *बासप्पा बनाम नागप्पा* (1955) आई एस सी आर 250]। किंतु, उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दे दिया है कि जहां अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय के माध्यम से अनुतोष सुलभ हो, वहां पहले उच्च न्यायालय के पास जाना चाहिए [*कानुभाई ब्रह्मभट्ट बनाम गुजरात राज्य,* ए आई आर 1987 एस सी 1159; *पी.एन. कुमार बनाम दिल्ली नगर निगम* (1987) 4 एस सी सी 609]।

न्यायाधीशों के स्थानांतरण के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा प्रतिपादित लोक हित मुकदमे की नयी अवधारणा के अधीन, मूल अधिकारो के उल्लंघन के लिए अब प्रभावित पक्षकार द्वारा ही न्यायालय में प्रार्थनापत्र देना जरूरी नहीं है। जनता का कोई भी सदस्य किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की ओर से, जो किसी कारण से न्यायालय में प्रार्थनापत्र देने की स्थिति में न हों, एक पत्र द्वारा भी ऐसा कर सकता है (*एस.पी. गुप्ता बनाम भारत का राष्ट्रपति,* ए आई आर 1982 एस सी 149)। (रिट के अर्थ तथा विवरण के लिए "न्यायपालिका" से सबंधित अध्याय के अंतर्गत देखिए)।

अनुच्छेद 33 कर्तव्यों के निर्वहन तथा अनुशासन बनाए रखने के हित में संसद को, मूल अधिकारों को सशस्त्र बलों या लोक व्यवस्था बनाए रखने का भार साधन करने वाले बलो, आसूचना कार्मिकों आदि पर लागू होने में उपांतरण करने की शक्ति प्रदान करता है। अनुच्छेद 34 के अधीन, संसद विधि द्वारा मार्शल लॉ के प्रवर्तन के दौरान व्यवस्था बनाए रखने के लिए, मूल अधिकारों का उल्लघन करके किए गए किसी कार्य के लिए किसी व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर सकेगी।

9

निदेशक तत्व

भाग-4, अनुच्छेद 36-51

भाग-4 में समाविष्ट राज्य के नीति-निदेशक तत्व हमारे संविधान को अनोखी विलक्षणता प्रदान करते है। आयरलैंड के संविधान के पूर्वोदाहरण के अलावा, निदेशक तत्वों के अध्याय के लिए मूल प्रेरणा कल्याणकारी राज्य की सकल्पना से प्राप्त हुई (*केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य,* ए आई आर 1973 एस सी 146)। व्यक्ति के मूल अधिकारों की रक्षा के साथ साथ संविधान निर्माता यह भी चाहते थे कि हमारा संविधान सामाजिक क्रांति के लिए एक प्रभावी साधन बने। व्यक्ति के अधिकारो तथा समुदाय की जरूरतों के बीच संभावित संघर्ष को टालने के लिए प्रयास करते हुए जहां एक ओर स्वय मूल अधिकारो पर 'लोक हित' आदि की दृष्टि से आवश्यक प्रतिबंध लगाए गए, वहा दूसरी ओर अपेक्षाकृत अधिक निश्चयात्मक राज्य-नीति के निदेशक तत्वों सबधी अध्याय का समावेश कर दिया गया। अनुच्छेद 37 घोषणा करता है कि निदेशक तत्व "देश के शासन के मूलाधार हैं और निश्चय ही विधि बनाने में इन सिद्धांतों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा।" अतः यह स्पष्ट है कि ये सवैधानिक निदेश कोरे नैतिक उपदेश नहीं है बल्कि निश्चयात्मक समादेश है तथा सविधान के मानव अधिकारों संबंधी उपबंधो के अभिन्न अग माने जाते हैं। किंतु, निदेशक तत्वों से ऐसे कोई कानूनी अधिकार नहीं उपजते जिनका उल्लंघन होने पर कोई व्यक्ति उसका उपचार करा सके और न ही वे विधायिका को कोई शक्ति प्रदान करते हैं। इसके अलावा, किसी भी विधि को इन तत्वों से असंगत होने के कारण अधिकारातीत घोषित नहीं किया जा सकता [*मद्रास राज्य बनाम चम्पकय दुरईराजन* (1951) एस सी आर 525; *केरल शिक्षा विधेयक के सबध* मे, ए आई आर 1958 एस सी 956; *दीपचन्द बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1959 एस सी 648; *उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत बोर्ड बनाम हरि* ए आई आर 1979 एस सी 65]।

ये समादेश "न्यायालयों द्वारा अप्रवर्तनीय" बनाए गए थे और इन्हें जानबूझकर ऐसे

शब्दों में व्यक्त किया गया था जिनसे विधायिका को क्रम, समय और उन्हें पूरा करने की रीति का निर्णय करने की कुछ हद तक छूट रहे क्योंकि उनका कार्यान्वयन अनेक अति सूक्ष्म तत्वों पर निर्भर करता है यथा, अपेक्षित ससाधन कहां तक उपलब्ध हैं, परिकल्पित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए समाज कितना तत्पर है, आदि।

संविधान सभा में बोलते हुए डा. अंबेडकर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि निदेशक तत्वों का आशय यह नहीं है कि वे केवल पूजनीय घोषणाएं बनकर रह जाएं। इसकी बजाय ये अनुदेशों के दस्तावेज के रूप में हैं और जो भी सत्ता में आएगा, उसे "इनका आदर करना ही होगा।" उन्होंने कहा था :

> संविधान सभा का आशय यह है कि भविष्य में विधायिका तथा कार्यपालिका, दोनो इस भाग मे अधिनियमित इन तत्वो के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति न जताएं बल्कि इन्हें कार्यपालिका तथा विधायिका के उन सभी कार्यो का आधार बना दिया जाए जो इसके बाद देश के शासन के मामले मे किए जाए।

अनुच्छेद 37 में न्यायालय के अधिकारक्षेत्र से मुक्त रखने का खड केवल इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता है कि न्यायपालिका राज्य को निदेशक तत्वों के तहत किसी 'कर्तव्य' को निभाने के लिए विवश नहीं कर सकती, क्योंकि जैसा कि डा अबेडकर ने कहा था: "जिस राज्य ने अपने मुख्य दायित्वों के भार से मुक्त होने के लिए अभी अभी अंगडाई ली है, वह तो उनके बोझ तले पिस सकता है यदि उन्हें पूरा करने का क्रम, समय, स्थान और रीति तय करने की छूट उसे नही दी जाती।

निदेशक तत्व संविधान के प्रभावी भाग हैं और इस दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग हैं क्योंकि उन्हीं के माध्यम से संविधान चाहता है कि उद्देशिका में निर्धारित लोकतंत्रात्मक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त किया जाए और उस सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति को साकार किया जाए जिसका सपना हमारे गणराज्य के संस्थापकों ने देखा था। न्यायमूर्ति के.एस. हेगड़े के शब्दों में :

> मूल अधिकारों का प्रयोजन है कि एक समतावादी समाज का सृजन हो, सभी नागरिकों को सामाजिक प्रपीड़न अथवा प्रतिबध से मुक्ति मिले और सभी को स्वतत्रता सुलभ हो। निदेशक तत्वों का प्रयोजन है कि कतिपय सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्य निर्धारित किए जाएं और उन्हें तुरंत प्राप्त करने के लिए अहिंसक सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया जाए। ऐसी सामाजिक क्रांति के द्वारा संविधान आम आदमी की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने और हमारे समाज के साचे-ढाचे को बदलने का प्रयास करता है। इसका लक्ष्य भारतीय जनता को सही अर्थों में स्वतंत्र बनाना है।

1970 के दशक के तथा उसके बाद के उच्चतम न्यायालय के निर्णयों ने निदेशक तत्वों के रचनात्मक पहलुओं पर बल दिया है। इन्हें कल्याणकारी राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मूल अधिकारों का पूरक माना गया है। निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए संसद मूल अधिकारों में भी संशोधन कर सकती है और इस प्रकार का विधान, जब तक वह संविधान की किसी बुनियादी विशिष्टता का उल्लंघन नहीं करता, विधिमान्य माना जाएगा [*केरल राज्य बनाम थॉमस,* ए आई आर 1976 एस सी 496; *मुख्य न्यायाधिपति बनाम दीक्षितुलू* (1979) 2 एस सी सी 34; *मुकेश बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1985 एस सी 537, *लक्ष्मीकान्त बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1987 एस सी 232]।

निदेशक तत्वों का लक्ष्य है इन आदर्शों को प्राप्त करना यथा, एक सच्चे कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो और, अन्य बातो के साथ साथ, आर्थिक शोषण और भारी असमानताओं तथा अन्यायों के अंत की व्यवस्था हो तथा राज्य पर न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था सुनिश्चित करने का भार डाला जाए। अतः अनुच्छेद 38, जो निदेशक तत्वो का मूलमत्र तथा मर्म है, कहता है : "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओ को अनुप्राणित करे, भरसक प्रभावी रूप मे स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।" अनुच्छेद 39 कहता है कि राज्य अपनी नीति का इस प्रकार सचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से सभी पुरुषो तथा स्त्रियो को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो; समुदाय की भौतिक संपदा का स्वामित्व तथा नियत्रण इस प्रकार बटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी सकेंद्रण न हो, पुरुषों और स्त्रियों, दोनो का समान कार्य के लिए समान वेतन हो ("यह मूल अधिकार नही है किंतु एक संवैधानिक लक्ष्य है"– *रधीर बनाम भारत सघ,* ए आई आर 1982 एस सी 879, *रामचन्द्र बनाम भारत सघ,* ए आई आर 1984 एस सी 541), पुरुषो तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का और बच्चों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो, आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु तथा शक्ति के अनुकूल न हो और बच्चों तथा युवाओं को शोषण से बचाया जाए। मूल अधिकारों का निर्वचन करने के लिए इस अनुच्छेद की सहायता ली जा सकती है (*केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य,* ए आई आर 1973 एस सी 146; *श्रीनिवास बनाम कर्नाटक राज्य,* ए आई आर 1987 एस सी 1518)। अनुच्छेद 41 में उपबंध किया गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और निःशक्तता तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओ में लोक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का प्रभावी उपबंध करेगा। अनुच्छेद 42 तथा 43 में उपबध किया गया

है कि राज्य कर्मकारों को निर्वाह मजदूरी, काम की मानवोचित दशाएं, प्रसूति सहायता, शिष्ट जीवन-स्तर और अवकाश का पूर्ण उपभोग और सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण निदेशक तत्व भी है। उनमें उपबंध है कि बच्चों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा मिले (अनुच्छेद 45); अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गो के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितो की अभिवृद्धि हो (अनुच्छेद 46); पोषाहार-स्तर और जीवन-स्तर को ऊंचा करना तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करना राज्य का कर्तव्य है (अनुचछेद 47); कृषि और पशुपालन का संगठन हो तथा गो-वध का प्रतिषेध हो (अनुच्छेद 48); ग्राम पंचायतों का संगठन हो (अनुच्छेद 40); कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण हो (अनुच्छेद 50); समूचे देश के लिए समान सिविल संहिता[1] हो (अनुच्छेद 44); राष्ट्रीय स्मारकों का संरक्षण हो (अनुच्छेद 49); और अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा पनपे, राष्ट्रों के बीच न्यायसगत और सम्मानपूर्ण संबंध पनपें; अतर्राष्ट्रीय विधि और संधि-बाध्यताओं के प्रति आदर की अभिवृद्धि हो और अतर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता के द्वारा निपटाया जाए (अनुच्छेद 51)। इस बात को याद रखा जाना चाहिए कि अंतर्राष्ट्रीय संधियां अपने आप राष्ट्रीय विधि का हिस्सा नहीं बन जातीं। इन्हें कानून बनाकर अगीकार अथवा समाविष्ट करना पड़ता है। यह अनुच्छेद 253 के अधीन संघ के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आता है। राष्ट्रीय विधि का निर्वचन करते समय, न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों के साथ समरसता बनाए रखने का प्रयास करते हैं किंतु टकराव होने की स्थिति में राष्ट्रीय विधि का सम्मान करना ही होगा (*बेरुबाड़ी यूनियन संबंधी मामला,* ए आई आर 1960 एस सी 845; *ग्रामोफोन कंपनी बनाम वीरेन्द्र,* ए आई आर 1984 एस सी 667)।

हालांकि निदेशक तत्वों को न्यायालय में नहीं ले जाया जा सकता, फिर भी इन तत्वां ने सामाजिक सुधार संबंधी कानून बनाने में संघ तथा राज्यों के विधानमंडलों का अब तक मार्गदर्शन किया है, न्यायालयों ने संविधान के उपबंधों के अपने निर्वचन के समर्थन में इन तत्वों को उद्धृत किया है, और योजना आयोग ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा कायाकल्प के प्रति अपने दृष्टिकोण का निर्धारण करने के लिए इन्हें उपयोगी दिशानिर्देश के रूप में स्वीकार कर लिया है।

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 ने इस आशय के नये निदेशक तत्व जोड़ दिए :

i बच्चों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण मे स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाए दी जाएं (अनुच्छेद 39 च);

---

1. **समान सिविल संहिता** (Uniform Civil Code)

ii कानूनी व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि न्याय समान अवसर के आधार पर सुलभ हो और राज्य, विशिष्टतया आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के मामलों में निःशुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था करे (अनुच्छेद 39 क)। यह अधिकार अनुच्छेद 21 में भी अंतर्निहित था (*हरियाणा राज्य बनाम दर्शना*, ए आई आर 1979 एस सी 855; *खत्री बनाम बिहार राज्य*, ए आई आर 1981 एस सी 928; *शुकदास बनाम संघ राज्यक्षेत्र*, ए आई आर 1986 एस सी 991);

iii उद्योगों के प्रबंध में कर्मकारों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए (अनुच्छेद 43 क), और

iv. पर्यावरण का संरक्षण हो तथा उसमें सुधार लाया जाए और वनों तथा वन्य जीवों की रक्षा की जाए (अनुच्छेद 48 क)।

44वें संशोधन द्वारा अनुच्छेद 38 में एक खंड जोड़ दिया गया, जिसमें कहा गया है कि राज्य, विशिष्टतया, आय की असमानताओं को कम करने और व्यष्टियों के बीच तथा विभिन्न क्षेत्रो में रहने वाले और विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों के समूहों के बीच प्रतिष्ठा, सुविधाओं और अवसरों की असमानता समाप्त करने का प्रयास करेगा। (संपत्ति का अधिकार और कुछ विधियों की व्यावृत्ति, अनुच्छेद 31 ग के अतर्गत "मूल अधिकार" अध्याय भी देखिए)।

इसके अलावा, (i) अनुच्छेद 31 ग मे संशोधन करके यह निर्धारित किया गया है कि किसी या सभी निदेशक तत्वों को प्रभावी करने वाली विधि अनुच्छेद 14, 19 या 31 के अंनर्गत किसी भी मूल अधिकार का उल्लंघन करने के कारण शून्य नहीं होगी, और (ii) एक नये अनुच्छेद 31 घ में विशिष्ट रूप से प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रविरोधी क्रियाकलापों या संगमों के निवारण या प्रतिषेध का अधिकार प्रदान करने वाली कोई विधि इस आधार पर शून्य नहीं होगी कि वह अनुच्छेद 14, 19 और 31 के अंतर्गत किसी मूल अधिकार से असंगत है।

उद्देशिका, मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के परस्पर संबंध

इस बात को याद रखा जाना चाहिए कि उद्देशिका, मूल अधिकार और निदेशक तत्व सभी एक ही संवैधानिक ढांचे के अभिन्न अंग हैं। वे सभी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं और उन्हें एक दूसरे के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए।

उद्देशिका, मूल अधिकार और निदेशक तत्व के शीर्षकों के अंतर्गत संविधान योजना में समतावादी समाज के निर्माण पर और सामाजिक आर्थिक न्याय की संकल्पना पर बल दिया गया है। क्योंकि निदेशक तत्वों को, भले ही उन्हें विधियों के निर्माण तथा प्रशासन के लिए मार्गदर्शी सिद्धांत घोषित किया गया है, न्यायालयों में प्रवर्तनीय नहीं बनाया गया

है। अतः वे उन दो पक्षों के बीच सूक्ष्म सामंजस्य के प्रतीक हैं, जिन्हें संविधान निर्माताओं ने स्वाधीनता संग्राम के नेताओं के रूप में आदर्श या लक्ष्य माना और जिसे यथार्थवादियों के रूप में उन्होंने तत्काल व्यवहार्य माना। मूल अधिकार और निदेशक तत्व दोनों ही संविधान की आत्मा हैं।

अब यह स्पष्ट रूप से समझ लिया गया है कि अधिकारों और कर्तव्यों के बीच या मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के बीच कोई सारभूत विभाजन नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक तथा अनुपूरक हैं। (*केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य,* ए आई आर 1973 एस सी 146)। यदि मूल अधिकार सरकार और विधायिका के लिए न करने योग्य बातों का निरूपण करते हैं तो निदेशक तत्व करने योग्य बातों का निरूपण करते है। इन दोनों के बीच कोई संघर्ष नहीं है। संविधान (प्रथम संशोधन) विधेयक, 1951 को प्रवर समिति को सौंपने का प्रस्ताव पेश करते समय, जवाहरलाल नेहरू ने मूल अधिकारों और निदेशक तत्वों के बीच संघर्ष की संभावना का उल्लेख किया और इस कठिनाई का वर्णन इस प्रकार किया :

> वास्तविक कठिनाई जो हमारे सामने आई है, वह यह है : संविधान में राज्य नीति के कुछ निदेशक तत्वों का निर्धारण किया गया है और लंबे-चौड़े विचार-विमर्श के बाद उनके लिए हमारे बीच सहमति हुई है और उनमें उस रास्ते का निर्देश किया गया है जिस पर हमें चलना है। संविधान में कुछ मूल अधिकार भी निर्धारित किए गए हैं। दोनों महत्वपूर्ण हैं। राज्य नीति के निदेशक तत्व कतिपय लक्ष्य की ओर गतिशीलता का निरूपण करते हैं। मूल अधिकार कतिपय विद्यमान अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ स्थिरता का निरूपण करते हैं। इस रूप में भी दोनों सही हैं। किंतु किसी कारण से तथा किसी समय ऐसा हो सकता है कि गतिशीलता और स्थायी स्थिरता एक-दूसरे के साथ ठीक तरह से मेल न खाए।
>
> किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गतिशीलता का निश्चित रूप से यह अर्थ है कि कुछ परिवर्तन हो रहे हैं; यही गतिशीलता का सार है। किंतु, ऐसी स्थिति आ सकती है जब गतिशीलता की प्रक्रिया से कतिपय वर्तमान संबधों में परिवर्तन हो जाए, भिन्नता आ जाए या वे प्रभावित हो जाएं। वास्तव में, वे स्थापित संबंधों को प्रभावित करने के लिए अभिप्रेत हैं और फिर भी यदि आप मूल अधिकारो की ओर लौटाते हैं तो उनका अभिप्राय कतिपय स्थापित संबंधों को, प्रत्यक्षतया नहीं, सुरक्षित रखना है। दोनों रवैयों के बीच कुछ टकराव है, जो स्वभावजन्य नहीं है, क्योंकि मुझे यकीन है कि उनका आशय यह नहीं है। किंतु इसमें इस तरह की थोड़ी-सी मुश्किल है और स्वाभाविक है कि जब देश के न्यायालय इन विषयों पर विचार करेंगे तो उन्हें राज्य नीति के निदेशक तत्वों की अपेक्षा मूल अधिकारों पर अधिक बल देना होगा। संविधान के पीछे जो असल मकसद था, वह यह था कि वह एक गतिशील संविधान बने जो धीरे धीरे किंतु निश्चित लक्ष्य की अग्रसर हो। किंतु गतिशीलता की अपेक्षा स्थिरता पर थोड़ा अधिक बल दिए जाने के कारण इस लक्ष्य की पूर्ति में विघ्न एवं बाधा

आती है और हमें इसके समाधान के लिए कोई-न-कोई रास्ता ढूढ निकालना होगा।

यदि व्यक्ति की स्वतत्रता की रक्षा करते हुए आप व्यक्तिगत या सामूहिक असमानता की रक्षा भी करते है तो आपका टकराव निदेशक तत्व से होता है, जो आपके अपने संविधान के अनुसार क्रमिक समुन्नति चाहता है या हम इसे इस तरह भी कह सकते है कि यह, जहां तक सभव हो, एक ऐसी स्थिति की ओर इतने धीरे धीरे नही बल्कि अधिक तेजी के साथ बढ़ना चाहता है, जहा कम-से-कम असमानता और अधिक-से-अधिक समानता हो। यदि व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा स्वतत्रता के लिए किसी प्रकार की अपील का अर्थ वर्तमान असमानता को जारी रखने की अपील माना जाता है तो आप कठिनाइयो मे फस जाते है। तब आप गतिहीन, अप्रगतिशील बन जाते है और परिवर्तित नहीं हो सकते और आप समतावादी समाज के उस आदर्श को प्राप्त नही कर सकते, जो कि, मुझे आशा है, हममें से अधिकाश का लक्ष्य है।

लोक सभा में संविधान (चौथे) सशोधन पर बोलते हुए नेहरू जी ने घोषणा की कि राष्ट्र की आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण की नीतियो की जिम्मेदारी ससद की होनी चाहिए, न कि न्यायालयों की। चूंकि न्यायालयों के निर्णय ने सिद्ध किया है कि मूल अधिकारो और निदेशक तत्वो के बीच कुछ अतर्जात विरोध हैं, इसलिए संसद की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वह इस विरोध को समाप्त कर दे और "मूल अधिकारो को राज्य नीति के निदेशक तत्वों का अनुचर बना दे।"

जैसा कि बाद मे 1971 मे उच्चतम न्यायालय ने कहा

व्यापार की स्वतत्रता का अर्थ शोषण की स्वतत्रता नही है। सविधान के उपबध प्रगति के मार्ग मे बाधाए बनाकर खडे नही किए गए है। उनमे सविधान की उद्देशिका द्वारा परिकल्पित सामाजिक व्यवस्था की ओर क्रमिक प्रगति की योजना का उपबध किया गया है। वे सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक, किसी प्रकार की दासता की इजाजत नहीं देते। यह सोचना एक भ्रम है कि हमारे सविधान के अधीन केवल अधिकारो का उपबध है और कर्तव्यो का कोई उपबध नही है। जहा भाग-3 के अधीन प्रदत्त अधिकार देश के शासन के सबध मे मूल अधिकार है, वहा हमे भाग-3 तथा भाग-4 मे समाविष्ट उपबधो के बीच समग्र रूप से कोई टकराव दिखाई नही देता। वे एक-दूसरे के पूरक तथा अनुपूरक है। भाग-4 के उपबध विधायिका तथा सरकार को नागरिको पर कुछ कर्तव्य आरोपित करने की शक्ति प्रदान करते हैं। उनके अतर्गत जो उपबध किए गए है, वे जानबूझकर लचीले बनाए गए है क्योकि नागरिको पर आरोपित किए जाने वाले कर्तव्य इस बात पर निर्भर करते हैं कि निदेशक तत्वो को किस हद तक कार्यान्वित किया जाता है। संविधान का लक्ष्य एक ऐसे कल्याणकारी समाज का निर्माण करना है जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारे राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओं को अनुप्राणित करे। यदि हमारे निम्नतम वर्ग के नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं तो संविधान द्वारा दिलाई गई आशाएं तथा आकांक्षाएं झूठी

पड जाएंगी (*चन्द्र भवन बोर्डिंग एंड लाजिंग, बगलौर बनाम मैसूर राज्य तथा अन्य,* 1970, 2 एस सी आर 600)।

इसके अलावा, केशवानन्द भारती के मामले में, न्यायमूर्ति मैथ्यू ने निम्नलिखित अर्थपूर्ण विचार व्यक्त किए :

> मूल अधिकारों की अपनी कोई निश्चित अंर्तवस्तु नहीं है; उनमे से अधिकांश खाली पोत हैं जिनमें प्रत्येक पीढ़ी को अपने अनुभव के प्रकाश में, अपना हिस्सा डालना होगा। ऐसी परिस्थिंतिया आ सकती हैं, जिनकी संविधान निर्माताओ ने कल्पना न की हो, जब इन अधिकारो पर प्रतिबध लगाना, इन्हें न्यून करना, इनमे कटौती करना और यहां तक कि इन्हे रद्द करना जरूरी हो जाए। देश के इतिहास में ऐसे विशिष्ट अवसर आ सकते हैं जब भाग-4 मे समाविष्ट नैतिक दावे उनकी सर्वोच्चता के दावे पर हावी हो जाए। देश के इतिहास मे किसी विशिष्ट अवसर पर, किसी विशिष्ट मूल अधिकार को भाग-4 में समाविष्ट नैतिक दावे की अपेक्षा प्राथमिकता मिलनी चाहिए या उसे झुक जाना चाहिए या नहीं, इस बात का निर्णय प्रत्येक पीढ़ी को अपने अनुभव तथा अपने मूल्यो के प्रकाश में करना होगा। और यदि संसद सशोधी निकाय की हैसियत से संविधान मे इस तरह से सशोधन करने का निर्णय करती है जिससे संविधान के भाग-4 मे समाविष्ट नैतिक दावो को प्राथमिकता देने के लिए मूल अधिकार छीन लिया जाता है या न्यून कर दिया जाता है तो न्यायालय संविधान संशोधन को इस कारण से अमान्य नहीं ठहरा सकता कि संविधान निर्माताओ ने जिसे गौण बनाया था, उसे अब प्रमुख बना दिया गया है। संविधान सशोधन का इस आधार पर न्यायिक पुनरीक्षण करने की इजाजत नहीं दी जा सकती कि यह भाग-3 मे समाविष्ट मूल अधिकारों की अपेक्षा भाग-4 मे समाविष्ट नैतिक दावो को प्राथमिकता देता है [1973(4) एस सी सी 225]।

कभी कभी 'सकारात्मक अधिकार' तथा 'नकारात्मक अधिकार' के बीच अंतर करने का प्रयास किया जाता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जबकि भाग-3 का संबंध वैयक्तिक स्वतंत्रता के क्षेत्रों और राज्य द्वारा उन पर रोक लगाए जा सकने की सीमा से हैं, भाग-4 का संबंध उन सकारात्मक कर्तव्यो से है जिनका भार सामाजिक और आर्थिक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए राज्य पर डाला गया है। किंतु, मूल अधिकारों मे भी कुछ सकारात्मक प्रतिषेध हैं जो समाज के हितो और गरीब नागरिको के अधिकारो की रक्षा सुस्थापित वर्गो के अतिक्रमण से करना चाहते हैं। अतः अनुच्छेद 17 द्वारा अस्पृश्यता का अत कर दिया गया है और किसी भी रूप मे इसके आचरण को विधि द्वारा दंडनीय अपराध बना दिया गया है। अनुच्छेद 15 में अन्य बातों के साथ साथ यह प्रावधान किया गया है कि दुकानों, कुओं, सड़कों, भोजनालयों आदि सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के मामले में किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद

नहीं किया जाएगा। अनुच्छेद 23 द्वारा एक और बड़ी बुराई अर्थात बेगार का प्रतिषेध कर दिया गया है। यह सारे-का-सारा प्रयास इस बात को सुनिश्चित करने के लिए किया गया है कि कहीं नागरिकों के मूल अधिकार बहुजन हिताय के स्थान पर चंद लोगों की स्वतंत्रताओं का घटिया रूप धारण न कर लें।

10

मूल कर्तव्य

भाग-4 क, अनुच्छेद 51 क

भले ही नागरिकों के कतिपय कर्तव्यों का निर्धारण करने वाला भाग 4-क आपातस्थिति की उद्घोषणा के प्रवर्तन के दौरान संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 के द्वारा लाया गया था, फिर भी वह संविधान के सर्वाधिक मूल्यवान भागों में है। इसके साथ ही, यह सर्वाधिक उपेक्षित भाग भी है।

जबकि मूल अधिकारों संबंधी उपबंधों में व्यक्ति के अधिकारों का और निदेशक तत्वों में राज्य के कर्तव्यों का समावेश है, 1976 तक हमारे संविधान में व्यक्ति के कर्तव्यों का अधिकथन करने वाले कोई उपबंध नहीं थे, हालांकि परंपराओं तथा भारतीय चिंतन की धारा ने सदियों से कर्तव्यों पर बहुत अधिक बल दिया है। प्रत्येक अधिकार के लिए, उसके अनुरूप एक कर्तव्य है। कर्तव्य अधिकार का एक अभिन्न अंग है; दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो किसी एक व्यक्ति के लिए कर्तव्य है, वही दूसरे के लिए अधिकार है। यदि सभी व्यक्तियों को जीवन का अधिकार प्राप्त है तो सभी व्यक्तियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे मानव जीवन का आदर करें और किसी अन्य व्यक्ति को आहत न करें। जब गांधी जी से मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत करने का अनुरोध किया गया तब उन्होंने कहा :

> मैंने अपनी निरक्षर किंतु बुद्धिमान मां से सीखा कि जिन अधिकारों के हम पात्र होना चाहते हैं तथा जिन्हें हम सुरक्षित कराना चाहते हैं, वे सभी अच्छी तरह निभाए गए कर्तव्य से प्राप्त होते हैं। अतः जीवित रहने का अधिकार भी हमें तभी प्राप्त होता है जब हम विश्व की नागरिकता के कर्तव्य को पूरा करते हैं। इस एक मूल कथन के आधार पर पुरुष तथा स्त्री के कर्तव्यों की परिभाषा करना तथा प्रत्येक अधिकार को पहले निभाए जाने वाले किसी तदनुरूप कर्तव्य के साथ संबद्ध करना संभवतया काफी आसान है। प्रत्येक अन्य अधिकार को अनुचित रीति से स्थापित अधिकार सिद्ध किया जा सकता है और उसके बारे में विवाद करने का कोई लाभ नहीं है।

गांधी जी ने सभी नागरिकों की आर्थिक तथा सामाजिक जिम्मेदारियों पर बल देने का प्रयास किया था। उन्हीं के विचारों को ध्यान में रखकर संविधान (42 वां संशोधन) अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान में क्रमशः मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के प्रारंभिक भाग 3 तथा 4 के बाद "मूल कर्तव्य" शीर्षक से एक नया भाग 4 क जोड़ा गया था। नए भाग 4 क में अनुच्छेद 51 क शामिल है जो इस प्रकार है :

51 क. भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह—

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थानों, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो; ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्द्धन करे तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए, प्रयत्न और उपलब्धि की नयी ऊंचाइयों को छू ले।

निदेशक तत्वों के अंतर्गत राज्य के कर्तव्यों की भांति नागरिकों के कर्तव्यों को भी न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता। उनका पालन कराने या उनका उल्लंघन होने पर दंड देने के लिए संविधान में कोई उपबंध नहीं है। किंतु न्यायालय किसी विधि का, जिसके एक से अधिक निर्वचन हो सकते हों, अर्थ लगाते समय इन्हें निश्चित रूप से ध्यान में रख सकते हैं। पर्यावरण के संरक्षण से संबंधित अनुच्छेद 51(छ) विशेष रूप से न्यायालयों के सामने आया है। उच्चतम न्यायालय ने उत्तर प्रदेश राज्य के कुछ क्षेत्रों

मे खनन के काम को रोक देने के लिए मौखिक आदेश जारी किए थे। कतिपय विवादग्रस्त क्षेत्रो को आरक्षित वन घोषित करने के संबध में भी आदेश जारी किए गए थे (*मुंबई कामगार सभा बनाम अब्दुलभाई*, ए आई आर 1976 एस सी 1455; *ग्रामीण मुकदमेबाजी केंद्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1987 एस सी 1109, *बनवासी सेवा आश्रम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1987 एस सी 374)।

विश्लेषण के बाद अंत में हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि मूल कर्तव्यों का पालन कराने का एकमात्र तरीका यह है कि लोगों को नागरिकता के मूल्यों तथा कर्तव्यों के बारे मे शिक्षित किया जाए और उनमें पर्याप्त जागृति उत्पन्न की जाए तथा एक ऐसे अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाए जिसमें प्रत्येक नागरिक अपने संवैधानिक कर्तव्यों का पालन करने तथा समाज के प्रति अपना ऋण चुकाने में गर्व तथा बंधन का अनुभव करे।

11

संघ की कार्यपालिका

भाग 5, अध्याय 1, अनुच्छेद 52-78

हमारे संविधान निर्माताओं ने हमारे लिए संसदीय लोकतंत्र प्रणाली चुनी। उसके अधीन मंत्रिगण लोक सभा के जन-प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ब्रिटिश प्रणाली में परंपरा है कि राज्य का अध्यक्ष राजा होता है। लेकिन वहां राजा तथा संसद के संबंध का विकास अनेक सदियों में हुआ है और वहां अब कार्यपालिका-शक्ति मंत्रिमंडल में निहित हो गई है। वहां राजा केवल संवैधानिक, नाममात्र का अथवा औपचारिक अध्यक्ष भर रह गया है। भारत में राजतंत्र है ही नहीं। इसके अलावा भारत ब्रिटेन जैसा कोई छोटा-मोटा एकात्मक राज्य नहीं है। भारत अमरीका जैसा एक विशाल गणराज्य तथा राज्य-संघ है। वहां गणराज्य का अध्यक्ष निर्वाचित राष्ट्रपति होता है। अतः हमारा एक अनोखा स्थान है। हम एक ही साथ संसदीय राज्य व्यवस्था तथा राष्ट्रपति वाले गणराज्य की श्रेणी में आ जाते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 73 के अधीन संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होगा जिनके बारे में ससद कानून बना सकती है और उन सभी अधिकारों के प्रयोग तक होगा जो किसी अंतर्राष्ट्रीय संधि या करार के आधार पर भारत सरकार को प्राप्त होंगे।

राष्ट्रपति का पद तथा शक्तियां

संविधान के अनुच्छेद 52 में कहा गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। हमारे संविधान की योजना में राष्ट्रपति का पद सर्वाधिक सम्मान, गरिमा तथा प्रतिष्ठा का है। वह राज्य का अध्यक्ष होता है। यह कहना नितांत अनुचित होगा कि वह तो केवल नाममात्र का अथवा नामधारी अध्यक्ष होता है। जैसा कि संविधान सभा मे नेहरू ने कहा था, उद्देश्य यह नहीं है कि भारत के राष्ट्रपति को केवल नाममात्र का अध्यक्ष बनाया जाए। संघ की समूची कार्यपालिका शक्ति उसमें निहित होती है और उसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार सीधे स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। अधीनस्थ अधिकारियों

में मंत्रियों का समावेश अपेक्षित है (*सम्राट बनाम श्रीनाथ* ए आई आर 1945 जी सी 163)। भारत सरकार की समूची कार्यपालिका-कार्रवाई उसके नाम से की जाती है। रक्षाबलों की सर्वोच्च कमान उसमें निहित होती है और उसका प्रयोग कानून द्वारा विनियमित होता है (अनुच्छेद 53 तथा 77)।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री की सलाह से करता है। सभी मंत्री अपने पद राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत धारण करते हैं (अनुच्छेद 75)।

संसद के दोनों सदनों के साथ साथ राष्ट्रपति भी संसद का अभिन्न अंग होता है। वह दोनों सदनों को अधिवेशन के लिए आहूत करता है, उनके अधिवेशनों का सत्रावसान करता है और लोक सभा को भंग कर सकता है (अनुच्छेद 85)। प्रति वर्ष प्रथम सत्र के प्रारंभ में तथा हर आम चुनाव के बाद वह दोनों सदनों के समवेत सदस्यों को संबोधित करता है। राष्ट्रपति, अन्यथा भी, संसद के दोनों सदनों को संदेश भेज सकता है और उनमें से प्रत्येक को अथवा दोनों को संबोधित कर सकता है। अनिवार्य है कि संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित सभी विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाए। तभी वे कानून बन सकते हैं। कतिपय श्रेणियों के विधेयको को (यथा धन-विधेयकों को) केवल राष्ट्रपति की सिफारिश से ही पुरःस्थापित तथा संचालित किया जा सकता है (अनुच्छेद 79, 85-87, 111 तथा 117)। एक उदारहण। नवीं लोक सभा में एक संशोधन प्रस्तुत किया गया। उसमे प्रस्ताव था कि केवल एक वर्ष की सेवा के बाद ही संसद-सदस्यों को पेंशन दे दी जाए। उसे राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना ही पुरःस्थापित करके पारित कर दिया गया पर राष्ट्रपति वेंकटरामन ने विधेयक को अपनी अनुमति नहीं दी।

ऐसी स्थिति में जब संसद के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो, यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि तत्काल कार्यवाही करना जरूरी है, तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है और इन अध्यादेशों का वही जोर तथा प्रभाव होगा जो संसद द्वारा पारित विधियों का होता है (अनुच्छेद 123)। ये अध्यादेश अंतरिम या अस्थायी विधान के रूप में होते हैं क्योंकि उन्हें जारी रखने के लिए जरूरी है कि उन पर संसद का अनुमोदन प्राप्त किया जाए और अध्यादेशों के स्थान पर विधियां बनाई जाएं। राष्ट्रपति केवल उन्हीं मामलो के बारे में अध्यादेश जारी कर सकता है जिनके बारे में संसद विधियां बना सकती है। अध्यादेश जारी रखने की राष्ट्रपति की शक्ति की विधिमान्यता तथा वैधता को उच्चतम न्यायालय ने स्वीकार किया है (*ए.के. राय बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1982 एस सी 710; *आर.के. गर्ग बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1981 एस सी 2139)।

संविधान के अंतर्गत, संसद से संबंधित कुछ अन्य कृत्यों की भी राष्ट्रपति से अपेक्षा की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वह लोक सभा के अस्थायी अध्यक्ष की तथा

राज्य सभा के कार्यकारी सभापति की नियुक्ति करता है। यदि किसी विधेयक के बारे में दोनों सदनों के बीच अंतिम रूप से असहमति हो जाए तो वह दोनो सदनो की संयुक्त बैठक बुलाता है। राष्ट्रपति प्रति वर्ष ससद के समक्ष सरकार का बजट रखवाता है। संविधान में बजट को 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहा गया है। कुछ अन्य संवैधानिक कृत्यकारियों की रिपोर्टें भी राष्ट्रपति रखवाता है। वे हैं भारत का नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक[1], वित्त आयोग[2], संघ लोक सेवा आयोग[3], अनुसूचित जातियो एव अनुसूचित जनजातियों तथा पिछडे वर्गों के आयोग के लिए विशेष अधिकारी। वह लोक सभा के लिए आंग्ल-भारतीय समुदाय के अधिक-से-अधिक दो सदस्यो को नामजद कर सकता है, यदि उसकी राय हो कि उस समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व लोक सभा में नहीं हुआ है। राष्ट्रपति राज्य सभा के लिए 12 सदस्यो का नाम-निर्देशन भी करता है। वह ऐसे व्यक्तियों मे से होने चाहिए जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाजसेवा जैसे विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो। इसके अलावा, उसे यह अधिकार है कि वह निर्वाचन आयोग की राय जान लेने के बाद यह निर्णय करे कि क्या कोई विधिवत निर्वाचित सदस्य संविधान के अनुच्छेद 102(1) में विहित निर्योग्यताओं की परिधि मे आता है। इस मामले मे उसका निर्णय अंतिम होता है।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों, भारत के महान्यायवादी[4] भारत के नियंत्रक महालेखापरीक्षक, राज्यपालों द्वारा राज्य के अन्य सभी उच्च कृत्यकारियो की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता है (अनुच्छेद 76, 124, 148, 155, 217)।

अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति है कि वह उन सभी मामलो मे जिनमें दड सेना न्यायालय ने दिया हो, दड संघीय कानून के विरुद्ध अपराध के लिए हो, अथवा दंड मृत्युदंड हो, किसी व्यक्ति के दंड को क्षमा, उसका प्रविलबन, विराम या परिहार[5] कर सके अथवा दंड का निलंबन, परिहार या लघुकरण[6] कर सके। अनुच्छेद 72 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति न्यायपालिका का मुह नहीं ताकती। वह अपीलीय न्यायालय के रूप में काम नहीं करता। उद्देश्य यह होता है कि यदि न्यायपालिका से कोई भूल हो जाए तो उसे सुधार दिया जाए। इसके अलावा वह ऐसी अवस्था में भी राहत देने का फैसला कर सकता है जहां से लगे कि दंड अति कठोर है। राष्ट्रपति को इस बात के लिए विवश

1. नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General),
2. वित्त आयोग (Financial Commission)
3. सघ लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission)
4. भारत के महान्यायवादी (Attorney General of India)
5. क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार (Pardon, Reprieve, Respite or Remission)
6. दंड का निलंबन, परिहार या लघुकरण (Suspend, Remit or Commute)

नहीं किया जा सकता कि वह याचिकादाता की याचिका पर सुनवाई करे ही। न्यायालय गुण-दोषो के आधार पर राष्ट्रपति के निर्णयों के बारे में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। लेकिन वे इस बारे में छानबीन कर सकते है कि राष्ट्रपति ने समूची संबद्ध सामग्री पर विचार कर लिया है या नहीं (*हुकुम सिंह बनाम पंजाब राज्य* ए आई आर 1975 पी एड एच 902; *हरबंस बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* ए आई आर 1982 एस सी 849; *कुलजीत बनाम उपराज्यपाल*, ए आई आर 1982 एस सी 774, *मारु बनाम भारत संघ* ए आई आर 1980 एस सी 2147, *गोडसे बनाम महाराष्ट्र राज्य* ए आई आर 1961 एस सी 600; *नानावती बनाम बंबई राज्य*, ए आई आर 1961 एस सी 122)।

अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रपति समूचे भारत में या उसके किसी भाग में आपात स्थिति की घोषणा कर सकता है, यदि उसका समाधान हो जाए कि ऐसी गंभीर स्थिति विद्यमान है जिससे युद्ध या बाहरी हमले या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है। अनुच्छेद 354 के अधीन राष्ट्रपति राजस्वों के वितरण को सीमित या प्रतिबंधित कर सकता है। जब आपात की घोषणा लागू हो तो राष्ट्रपति मूल अधिकारों के प्रवर्तन को निलंबित कर सकता है (अनुच्छेद 359)। यदि किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो जाए तो अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा उस राज्य में राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता है। अनुच्छेद 360 राष्ट्रपति को वित्तीय आपात की घोषणा करने का अधिकार प्रदान करता है। अतः राष्ट्रपति की आपात संबंधी शक्तियां कठोर तथा दूरगामी प्रभाव वाली हैं।

संक्षेप में, (1) राष्ट्रपति के पास कार्यपालिका शक्तिया है जिनका प्रयोग वह सीधे स्वयं या अपने अधिकारियो के माध्यम से कर सकता है। (2) उसके पास उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों तथा राज्य के अन्य उच्च कृत्यकारियों को नियुक्त करने की शक्तियां हैं। (3) उसके पास सैन्य शक्तियां हैं, वह सशस्त्र बलों का सर्वोच्च कमांडर होता है। वह युद्ध तथा शांति की घोषणा कर सकता है। (4) उसके पास क्षमा, प्रविलंबन आदि प्रदान करने की शक्ति होती है। (5) उसके पास राजनयिक शक्तियां होती हैं; वह राजदूतो की नियुक्ति भी कर सकता है और विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों के पद के प्रमाणपत्र भी प्राप्त कर सकता है। (6) उसके पास विधायी शक्तियां होती हैं यथा, वह दोनों सदनों की बैठकें बुला सकता है और उनका सत्रावसान कर सकता है; लोक सभा को भंग कर सकता है, विधेयकों आदि को अनुमति दे सकता है और कानूनी शक्ति वाले अध्यादेश जारी कर सकता है। (7) उसके पास आपात घोषणा की शक्ति होती है।

शानदार शक्तियों के इस पूरे ठाट बाट के बावजूद हमारे राष्ट्रपति के पद के बारे में सोचा जाता है कि वह एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष है। यह स्मरण रखना होगा कि स्वयं

अनुच्छेद 53 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संघ की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति "संविधान के अनुसार" ही करेगा और सशस्त्र बलों के सर्वोच्च कमांडर के रूप में राष्ट्रपति की शक्तियों के प्रयोग पर भी 'विधि का अंकुश' होगा (*यू.एन. राव बनाम इंदिरा गांधी*, ए आई आर 1971 एस सी 1002; *संजीव बनाम मद्रास राज्य*, ए आई आर 1970 एस सी 1102)। अनुच्छेद 60 के अधीन भी राष्ट्रपति 'संविधान तथा विधि के परिरक्षण, संरक्षण तथा रक्षण' की शपथ लेता है। अनुच्छेद 74(1) राष्ट्रपति से अपेक्षा करता है कि वह अपने सभी कृत्यों का निर्वहन करते समय केवल मंत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह से ही काम करेगा। हमने मंत्रियों के उत्तरदायित्व वाली जिस संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है। उच्चतम न्यायालय ने अपने विभिन्न निर्णयों में इस स्थिति को मान्यता प्रदान की है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है और उसके लिए अनिवार्य है कि वह मंत्रिपरिषद की सलाह से काम करे। हमारी प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति मंत्रिपरिषद में निहित है (*शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य* ए आई आर 1974 एस सी 2192; *यू.एन. राव बनाम इंदिरा गांधी*, ए आई आर 1971 एस सी 1002; *सर्वश्री विशंवर दयाल चन्द्र मोहन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* ए आई आर 1982 एस सी 33; *रामजवाया बनाम पंजाब राज्य*, ए आई आर 1955 एस सी 544)। इसके अलावा, राष्ट्रपति की शक्तियों के प्रयोग के मामले में सामान्य स्थिति तथा आपात स्थिति के बीच संविधान कोई विभेद नहीं करता। आपात स्थिति में शक्तियों के किसी स्वविवेकी प्रयोग के बारे में कोई विशेष प्रावधान नहीं है। राष्ट्रपति द्वारा किए जाने वाले सभी शक्तियों के प्रयोग पर अनुच्छेद 74 का अंकुश है। अतः मंत्रिपरिषद की सलाह से राष्ट्रपति समान रूप से बंधा हुआ है, चाहे स्थिति आपात स्थिति हो या सामान्य स्थिति। 44वें संविधान संशोधन ने अंततः स्थिति के सभी संदेहों को मिटा दिया। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रपति आपात की घोषणा तभी कर सकता है जब लिखित रूप में उसे यह संदेश प्राप्त हो जाए कि केंद्रीय मंत्रिमंडल ने उसे ऐसा करने की सलाह देने का निर्णय कर लिया है।

भले ही संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का दायित्व है कि वह मंत्रिपरिषद की सलाह से काम करे, फिर भी ऐसे कुछ धुंधले क्षेत्र हैं जहां अब भी राष्ट्रपति को अपने विवेक तथा बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। वे हैं :

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति [अनुच्छेद 75(1)], जब ऐसी स्थिति पैदा हो जाए कि किसी भी एक पार्टी को लोक सभा सदस्यों के बहुमत का स्पष्ट समर्थन प्राप्त न हो। जाहिर है कि राष्ट्रपति ऐसे पदावरोही[1] प्रधानमंत्री की सलाह पर नये प्रधानमंत्री की नियुक्ति

---

1. पदावरोही (Outgoing)

नहीं कर सकता है जो चुनाव में हार गया हो या जिसने लोक सभा का समर्थन गंवा दिया हो।

2. पदधारी की अचानक मृत्यु की दशा में प्रधानमंत्री की नियुक्ति (यथा, इंदिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न स्थिति में), जहां सत्तारूढ़ विधानमंडल पार्टी नेता का चुनाव करने के लिए तत्काल बैठक न कर सकती हो, जहां मंत्रिमंडल के मंत्रियों के बीच कोई निश्चित वरिष्ठताक्रम न हो और जहां मंत्रिमंडल से बाहर के किसी नाम का सुझाव दिया गया हो।
3. ऐसी मंत्रिपरिषद की सलाह पर लोक सभा का विघटन [अनुच्छेद 85(2) (ख)] जिसने लोक सभा में बहुमत का समर्थन गंवा दिया हो या जिसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दिया गया हो।
4. उस स्थिति में मंत्रियों की बर्खास्तगी जब मंत्रिपरिषद ने लोक सभा का विश्वास गंवा दिया हो पर वह इस्तीफा देने के लिए तैयार न हो।

ऐसी कुछ स्थितियों में राष्ट्रपति की भूमिका अति नाजुक तथा निर्णायक हो सकती है। उदाहरण के लिए, ऐसी स्थिति तब पैदा हुई जब चरणसिंह, राजीव गांधी तथा चन्द्रशेखर को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया गया था।

इसके अलावा, अनुच्छेद 78(क) प्रधानमंत्री पर यह दायित्व डालता है कि संघ के कार्यों के प्रशासन के बारे में तथा विधान विषयक प्रस्थापनाओं के बारे में मंत्रिपरिषद जो भी निर्णय करे, वह उन सभी की सूचना राष्ट्रपति को दे और तत्संबंधी जो सूचना राष्ट्रपति मांगे, उसे वह दे। यदि किसी मामले में एक मंत्री ने निर्णय लिया है तो राष्ट्रपति अपेक्षा कर सकता है कि उसे मंत्रिपरिषद के समक्ष विचार के लिए रखा जाए। इसके अलावा 44वें संशोधन द्वारा 1978 में जोड़े गए अनुच्छेद 74 के परंतुक के अधीन राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से अपेक्षा कर सकता है कि परिषद अपनी सलाह पर पुनर्विचार करे। निश्चय ही राष्ट्रपति पुनरीक्षित सलाह के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन मंत्रिपरिषद जो सलाह राष्ट्रपति को देती है, वह उनके बीच गोपनीय होती है और कोई भी न्यायालय उसके बारे में जांच नहीं कर सकता। [अनुच्छेद 74(2); *एस. पी. गुप्ता बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1982 एस सी 149; *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1977 एस सी 1361]।

जब अनुच्छेद 111 के अधीन किसी विधेयक को राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो वह घोषणा कर सकता है कि वह विधेयक पर अनुमति देता है या अनुमति नहीं देता है। पर इसके लिए कोई समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है कि कितने समय के भीतर वह अनुमति दे दे या अनुमति न देने के अपने निर्णय की घोषणा कर दे। लेकिन राष्ट्रपति, विधेयक को, यदि वह धन-विधेयक नहीं है, यथाशीघ्र,

संसद के सदनों के पुनर्विचार के लिए लौटा भी सकता है। पुनर्विचार के बाद जब विधेयक संशोधनो के बिना या संशोधनों के सहित, पारित कर दिया जाता है और पुनः राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो वह उस पर अनुमति नहीं रोकेगा।

जहां राष्ट्रपति का एक कृत्य यह भी है कि वह विधेयकों को अनुमति दे और उसके निर्वाह में वह मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार काम करे, वहां उसे छूट है कि वह अनुच्छेद 78 (ख) के अधीन प्रधानमंत्री से स्पष्टीकरण के लिए सूचना मांगे या अनुच्छेद 74(1) के परंतुक के अधीन विधेयक को पुनर्विचार के लिए सरकार को लौटा दे। संभवतया यही राष्ट्रपति जैल सिह ने विवादास्पद डाक विधेयक के बारे में किया था। संभवतया यही राष्ट्रपति वेंकटरामन ने उस विधेयक के बारे में किया था जिसमें, और बातों के अलावा, उपबंध था कि केवल एक वर्ष की सेवा के बाद ही संसद-सदस्यों को पेंशन दे दी जाए।

जब संविधान सभा के विचारार्थ यह प्रश्न आया कि राष्ट्रपति का चुनाव किस प्रकार हो तो एक सुझाव यह भी था कि सार्वजनीन वयस्क मताधिकार के अधीन लोग सीधे उसका चुनाव करें। इसके सर्वथा विपरीत दूसरा सुझाव यह था कि केवल संसद के दोनों सदनो के सदस्य राष्ट्रपति को चुनें। संविधान सभा ने एक अनोखा तरीका निकाला। वह मध्य मार्ग था।

चूंकि संसद के दोनो सदनों की सदस्य संख्या में एक ही पार्टी का बाहुल्य होने की सभावना थी, अतः यदि राष्ट्रपति का चुनाव केवल संसद के सदस्यो के बहुमत के आधार पर होता तो उसके कारण राष्ट्रपति भी प्रधानमत्री की भांति सत्तारूढ़ दल का नामजद व्यक्ति बन सकता था। ऐसा राष्ट्रपति सघ के संघटक राज्यों का प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। दूसरी ओर, यदि राष्ट्रपति सीधे जनता द्वारा चुना जाता तो वह मंत्रिपरिषद का प्रतिद्वंद्वी शक्ति-केंद्र बन जाता और यह मंत्रियों के उत्तरदायित्व वाली संसदीय प्रणाली के प्रतिकूल बात होती। जैसा कि नेहरू ने संविधान सभा में कहा था, न तो हमारे राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन हो सकता है और न ही हम उसे "वास्तविक शक्तियां" दे सकते हैं।

अमरीका के राष्ट्रपति की भांति ही हमारा राष्ट्रपति भी एक निर्वाचक-गण[1] द्वारा चुना जाता है। लेकिन भारत के निर्वाचक-गण में संसद के दोनों सदनो के तथा राज्यों की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य होते है (अनुच्छेद 54)। संविधान सभा का विचार था कि ऐसा निर्वाचक-गण न केवल राष्ट्रपति को समूचे राष्ट्र का निर्वाचित प्रतिनिधि बना देगा बल्कि वह राज्यों को भी वाणी की मुखता प्रदान करेगा।

संविधान के अनुच्छेद 58 में व्यवस्था है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में चुने जाने का पात्र तभी होगा जब वह (क) भारत का नागरिक हो, (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी

1. निर्वाचक-गण (Electoral-College)

कर चुका हो, और (ग) लोक सभा का सदस्य चुने जाने की योग्यता रखता हो। कोई व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में चुने जाने का पात्र नहीं होगा यदि वह भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी के नियंत्रण मे किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है। लेकिन कोई व्यक्ति केवल इसलिए कोई लाभ का पद धारण करने वाला नहीं समझा जाएगा कि वह संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल है। डा. एस. राधाकृष्णन ने 1962 मे और डा. जाकिर हुसैन ने 1967 में भारत के राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ा था पर उन्होंने भारत के उपराष्ट्रपति पद से इस्तीफा नहीं दिया था। लेकिन संविधान के उपबधों के बावजूद तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि ने तथा लोक सभा के अध्यक्ष डा. एन. संजीव रेड्डी ने पहले अपने अपने पदों से इस्तीफा दिया और फिर 1969 में राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए अपने नामांकन पत्र भरे। उपराष्ट्रपति श्री आर. वेकटरामन ने 1987 में तथा उपराष्ट्रपति डा शकर दयाल शर्मा ने 1992 में राष्ट्रपति पद का चुनाव लडा और जीता पर उन्होंने उपराष्ट्रपति पद से तब तक इस्तीफा नहीं दिया जब तक कि उन्होंने राष्ट्रपति का पद धारण नहीं कर लिया।

निर्वाचन कानून : राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन अधिनियम, 1952 तथा उसके अधीन बनाए गए नियम भारत के राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति पद के निर्वाचन से सबंधित सभी मामलो का विनियमन करते है। 1952 के अधिनियम मे 1974 मे संशोधन किए गए। पूर्ववर्ती चुनावो मे प्राप्त अनुभव के आधार पर उसमे कुछ परिवर्तन किए गए। उसी प्रकार राष्ट्रपतीय तथा उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन-नियम, 1952 में भी 1974 मे सशोधन किए गए। अधिनियम की मुख्य अपेक्षाए इस प्रकार है :

(i) भारत के राष्ट्रपति पद के निर्वाचन के लिए नामांकन पत्र विहित रूप मे पूरा किया जाए। उम्मीदवार हस्ताक्षर करके नामांकन के प्रति सहमनि प्रगट करे। साथ ही, कम-से-कम दस निर्वाचक नाम का प्रस्ताव करें और कम-से-कम दस निर्वाचक प्रस्ताव का अनुमोदन करें। इस अपेक्षा को उचित ठहराया गया है क्योंकि अनुच्छेद 58 केवल पात्रता के लिए अर्हताओं का प्रावधान करता है, न कि वैध नामांकन की अपेक्षाओ के लिए (*चरनलाल साहू बनाम नीलम संजीव रेड्डी* ए आई आर 1978 एस सी 499)

(ii) हर नामांकन पत्र के साथ ऐसी प्रविष्टि की एक सत्यापित प्रति नत्थी की जानी चाहिए जो बताती हो कि उम्मीदवार का नाम उस संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र की निर्वाचन-नामावलि में है जिसमें उम्मीदवार को निर्वाचक के रूप में दर्ज किया गया है।

अनुच्छेद 55 का उपबंध है कि जहां तक साध्य हो, राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के मापदंड में एकरूपता होगी। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व

पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत[1] द्वारा होगा और ऐसे निर्वाचन में मतदान गुप्त होगा। अनुच्छेद यह प्रावधान भी करता है कि राज्यों में आपस में ऐसी एकरूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता लाने के लिए संसद और प्रत्येक राज्य की विधान सभा का प्रत्येक निर्वाचित सदस्य ऐसे निर्वाचन में जितने मत देने का हकदार है, उनकी संख्या निम्न रीति से निर्धारित की जाएगी :

(क) किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे जितने कि एक हजार के गुणित उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए;

(ख) यदि एक हजार के उक्त गुणितों को लेने के बाद शेष पांच सौ से कम नहीं है तो उपखंड (क) में निर्दिष्ट प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जाएगा।

उदाहरण

राज्य की कुल जनसंख्या	:	43,502,708
विधान सभा में निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या	:	294
प्रत्येक के लिए वोटों की संख्या	:	$\frac{43,502,708}{1000 \times 294}$
		= 147.96 या 148

(ग) संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वह होगी जो उपखंड (क) और उपखंड (ख) के अधीन राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिए नियत कुल मतों की संख्या को संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या से भाग देने पर आए जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जाएगा तथा अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जाएगी।

उदाहरण के लिए, 1987 के राष्ट्रपतीय निर्वाचन के वास्ते निर्वाचक-नामावलि में सदस्यों की कुल संख्या 4695 थी। ब्यौरा इस प्रकार है :

(क) राज्य सभा	:	233
(ख) लोक सभा	:	543
(ग) राज्य विधान सभाएं	:	3919
	कुल	4,695

1. निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत (System of Proportional Representation by means of Single Transferable Vote)

संसद (राज्य सभा तथा लोक सभा दोनों) के प्रत्येक सदस्य के वोट का मूल्य 702 था। राज्य विधान सभा के हर सदस्य के वोट का मूल्य प्रत्येक राज्य में अलग अलग था। उसका आधार थी विधान सभा की सदस्य संख्या तथा 1971 की जनगणना के अनुसार राज्य की आबादी। सबसे कम मूल्य सिक्किम का (7) था और सबसे अधिक मूल्य उत्तर प्रदेश का (208) था।

एक ओर राज्यों में आपस में तथा दूसरी ओर समस्त राज्यों तथा संघ के बीच एकरूपता प्रदान करने के तरीके का आशय यह था कि समूची प्रक्रिया का पलड़ा राज्यों के प्रतिनिधियों के पक्ष में हो। उन्हें दोहरा प्रतिनिधित्व मिला, पहले विधान परिषदों के सदस्यों के रूप में और फिर राज्य विधान सभाओं के सदस्यों के रूप में। ऐसा जानबूझकर किया गया। उद्देश्य था, राष्ट्रपति पद को समूचे देश तथा संघटक राज्यों का निर्विवाद समर्थन मिले। विभिन्न राज्यो के बीच आपस में प्रतिनिधित्व के मापदड में एकरूपता प्रदान करने के विचार का मोटे तौर पर उद्देश्य यह था कि आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाए, एक व्यक्ति--एक वोट के सिद्धांत का पालन किया जाए और इकहरी भारतीय नागरिकता एवं सभी नागरिको के बीच समता की सकल्पनाओं का समादर किया जाए। राष्ट्रपतीय निर्वाचन के लिए एकल सक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधिन्व पद्धति को अपनाने का सभवतया सहज कारण यह विचार था कि वह अल्पसंख्यको को प्रतिनिधित्व प्रदान कर सकेगा। सविधान सभा मे इस मुद्दे पर कोई चर्चा नहीं हुई। प्रस्ताव को केवल स्वीकार कर लिया गया। एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र की स्थिति मे इस पद्धति की कोई अधिक सार्थकता नहीं है। यह पद्धति तभी सार्थक होती है जब एक से अधिक सीटे हों और उन्हें एक ही मतदान के द्वारा वही मतदाता भरें। वस्तुतया वर्तमान पद्धति को एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधत्व पद्धति कहना उचित नहीं होगा। बेहतर होगा कि उसे अनुकल्पी मत की पद्धति[1] कहा जाए क्योंकि व्यवहार में उसका रूप वैसा ही है।

राष्ट्रपति पद के लिए अब तक दस निर्वाचन हो चुके हैं। डा. सजीव रेड्डी वह एकमात्र व्यक्ति थे जिन्हें 1977 में निर्विरोध चुना गया। सर्वाधिक रोमांचकारी चुनाव श्री वी.वी. गिरि का था। तब द्वितीय अधिमानी वोटों की गणना करनी पड़ी थी। डा. राजेन्द्र प्रसाद ऐसे एकमात्र व्यक्ति थे जिन्हें राष्ट्रपति पद के लिए दो बार चुना गया।

एक चुनाव ऐसा भी हुआ जो राजनीतिक दृष्टि से अति रोमाचकारी था और उसके कारण राजनीतिक क्षेत्रों में सर्वाधिक हलचल पैदा हुई। वह था 1987 का चुनाव। तब श्री आर. वेंकटरामन तथा न्यायाधीश कृष्णा अय्यर के अलावा एक तीसरा वैध उम्मीदवार भी था।

राष्ट्रपतीय निर्वाचनों का एक सर्वाधिक उल्लेखनीय पक्ष यह रहा है कि बहुधा अनेक

1. अनुकल्पी मत की पद्धति (System of Alternate Vote)

नामांकन पत्र दाखिल कर दिए जाते हैं। भले ही उनमें से अधिकांश उम्मीदवार चुनाव को गंभीरता से नहीं लेते और जांच करने पर उनके नामांकन पत्र अवैध पाए जाते हैं, फिर भी इस बात पर गर्व किया जा सकता है कि कोई भी नागरिक बिना किसी भेदभाव के सर्वोच्च पद को प्राप्त करने की कामना कर सकता है।

निर्वाचन-विवाद : संविधान के अनुच्छेद 71 में उपबंध है कि राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सभी शंकाओं और विवादों की जांच तथा निपटारा उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका निर्णय अंतिम होगा।

राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के बारे मे केवल इस आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि निर्वाचन नामावलि के सदस्यो में कोई रिक्ति हो गई है।

जो व्यक्ति न तो उम्मीदवार है और न ही निर्वाचक है, वह राष्ट्रपति-निर्वाचन की वैधता को चुनौती देने के लिए याचिका दायर नही कर सकता (*एन.बी खरे बनाम भारतीय निर्वाचन आयोग*, ए आई आर 1958 एस सी 139)।

राष्ट्रपतीय निर्वाचन के मामले में (ए आई आर 1974 एस सी 1682 में) उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन को इस आधार पर न तो स्थगित किया जा सकता है और न ही अवैध ठहराया जा सकता है कि किसी राज्य विधान सभा को भंग कर दिए जाने के कारण निर्वाचक-नामावलि अधूरी थी या पूरी तरह गठित नहीं हुई थी।

राष्ट्रपति की पदावधि : अनुच्छेद 62(1) मे कहा गया कि राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्ति को भरने के लिए निर्वाचन, पदावधि की समाप्ति से पहले ही पूरा कर लिया जाना चाहिए।

अनुच्छेद 56(1) का उपबंध है कि राष्ट्रपति अपने पदग्रहण की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा। वह उपराष्ट्रपति को सबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा। राष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण न कर ले।

महाभियोग की प्रक्रिया : अनुच्छेद 61 का उपबंध है कि संविधान के अतिक्रमण के आधार पर महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को उसके पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग का आरोप संसद के किसी भी सदन में लगाया जा सकता है पर उसके लिए एक सकल्प प्रस्तुत करना होगा जिस पर उस सदन की कुल सदस्य-सख्या से कम-से-कम एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर हों। और उसे उस सदन की कुल सदस्य-संख्या का कम-से-कम दो तिहाई बहुमत पारित करे। जब संसद का कोई सदन इस प्रकार आरोप लगाएगा तो दूसरा सदन उस आरोप का अन्वेषण करेगा या कराएगा और यदि यह दूसरा भदन भी अपनी

कुल सदस्य-संख्या के दो तिहाई बहुमत से संकल्प को पारित कर देगा तो संकल्प के पारण की तिथि से राष्ट्रपति को अपने पद से हटना होगा।

उपराष्ट्रपति

भारत के राष्ट्रपति के बाद अधिकृत अग्रता-अधिपत्र[1] में सर्वोच्च स्थान उपराष्ट्रपति को दिया गया है। अतः उसका पद उच्च गरिमा एवं प्रतिष्ठा वाला है। संविधान के अनुच्छेद 63 में कहा गया है कि भारत का एक उपराष्ट्रपति होगा। उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होगा (अनुच्छेद 64)। यह अमरीकी प्रथा का अनुसरण है। राज्य सभा के सभापति के रूप में वह राज्य सभा की कार्यवाहियों का सभापतित्व करता है और लोक सभा में अपने प्रतिरूप अध्यक्ष की भांति ही सभा के सभी मामलों से सबद्ध कृत्यों का निर्वहन करता है। लेकिन जहां तक उपराष्ट्रपति के कृत्यों का सबंध है, संविधान में उसे कोई कृत्य नही सौंपे गए है। प्रथा के अनुसार वह अनेक औपचारिक कृत्य करने लगा है। वह राजदूतों तथा विदेशों के विशिष्ट व्यक्तियो आदि से भेंट करता है। अनुच्छेद 65 में कहा गया है कि वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा, यदि राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग या पद से हटाए जाने या अन्य कारण से उसका पद रिक्त हो जाए। यदि राष्ट्रपति अनुपस्थिति, बीमारी या अन्य किसी कारण से अपने कृत्यों का निर्वहन न कर सके तो उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन करेगा। जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा, तब वह राज्य सभा के सभापति के पद के कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा (अनुच्छेद 64)।

हमारे दो राष्ट्रपतियों डा. जाकिर हुसैन तथा फखरुद्दीन अली अहमद का निधन उनके कार्यकाल में ही हो गया था और तब उपराष्ट्रपति श्री वी.वी. गिरि तथा उपराष्ट्रपति श्री बी.डी. जत्ती ने राष्ट्रपति के रूप में कार्य किया था। ऐसे अवसरो से यह सिद्ध हो जाता है कि उपराष्ट्रपति की भूमिका राष्ट्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचक-गण के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है (अनुच्छेद 66)। इसका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना होता है कि उसे संसद के दोनों सदनों का विश्वास प्राप्त हो।

उपराष्ट्रपति की पदावधि पांच वर्षों की होती है और पद के लिए निर्वाचन को पदावधि की समाप्ति से पूर्व पूरा करना होगा। इस निर्वाचन से संबंधित सभी शंकाओं तथा विवादों की जांच तथा निपटारा उच्चतम न्यायालय करेगा। उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है। उसे उसके पद से ऐसे संकल्प

1. अधिकृत अग्रता-अधिपत्र (Official Warrant of Precedence)

द्वारा हटाया जा सकता है जिसे राज्य सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित किया गया हो और जिसे लोक सभा की सहमति प्राप्त हो (अनुच्छेद 67, 68 और 71)। उपराष्ट्रपति संसद के किसी सदन का या किसी राज्य के विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा (अनुच्छेद 66)।

उपराष्ट्रपति के रूप में किसी व्यक्ति के निर्वाचन के लिए पात्रता की शर्ते वैसी ही हैं जैसी कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए हैं। अपवाद केवल यह है कि उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए अनिवार्य है कि उम्मीदवार राज्य सभा का सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो।

मंत्रिपरिषद

संविधान के अनुच्छेद 74 का उपबंध है कि राष्ट्रपति को उसके मूल्यों को प्रयोग करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमंत्री होगा और राष्ट्रपति ऐसी सलाह के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद से ऐसी सलाह पर पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकता है। राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के बाद दी गई सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा।

'एक मंत्रिपरिषद होगी', इसका अर्थ यही लगाया जाता है कि सदैव उसका अस्तित्व होगा ही। संविधान ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं करता जहां न तो कोई प्रधानमत्री हो और न ही कोई मंत्रिपरिषद। संघीय स्तर पर सवैधानिक तत्र के ठप्प हो जाने तथा राष्ट्रपति के सीधे शासन के बारे में कोई उपबंध नहीं है, जैसा कि राज्यो के लिए अनुच्छेद 356 में है।

विशेषया 42वें तथा 44वें सवैधानिक सशोधनो के बाद राष्ट्रपति के लिए यह बाध्यकारी हो गया है कि वह मंत्रिपरिषद की सलाह को स्वीकार करे। संशोधनो से पूर्व भी उच्चतम न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि सलाह सभी मामलो में बाध्यकारी है (*शमशेर बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1974 एस सी 2192)।

लोक सभा के विघटन के बाद भी अपनी शक्तियो के निर्वहन मे राष्ट्रपति के लिए मंत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह बाध्यकारी है। *यू.एन. राव बनाम इंदिरा गांधी* (ए आई आर 1971 एस सी 1002) में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना राष्ट्रपति यदि शक्तियों का कोई प्रयोग करेगा तो वह संविधान के विरुद्ध होगा क्योंकि उससे अनुच्छेद 74(1) का अतिक्रमण होता है।

लेकिन राष्ट्रपति द्वारा मंत्रिपरिषद की सलाह की स्वीकृति कोई स्वतःचालित यांत्रिक क्रिया नहीं है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह उस पर विचार करते समय अपनी बुद्धि का प्रयोग करे। 44वां संशोधन राष्ट्रपति को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि

वह मंत्रिपरिषद को सलाह एवं चेतावनी दे और किसी मामले पर पुनर्विचार किए जाने का आग्रह करे और उसके बाद ही प्रस्तावित कार्यविधि को स्वीकार करे और उस पर अपने अनुमोदन का ठप्पा लगाए।

मंत्रिमंडल के निर्णय गोपनीयता से किए जाते हैं। राष्ट्रपति को जो सलाह दी जाती है, वह भी राष्ट्रपति तथा मंत्रिपरिषद के बीच गोपनीय रहती है। अतः उन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। निश्चय ही न्यायालय उन पर विचार कर सकता है, यदि उन्हें सरकार न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करे। उस पर कोई रोक नहीं है (*एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1982 एस सी 149; *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1977 एस सी 1361; *मध्य प्रदेश राज्य बनाम नन्दलाल* ए आई आर 1987, एस सी 251, *चौधरी बनाम बिहार सरकार*, ए आई आर 1980 एस सी 383)।

अनुच्छेद 75 के अधीन प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है और अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री की सलाह पर करता है। मंत्री राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

जहां राष्ट्रपति को अपने कृत्यों के निर्वहन में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद की सलाह से पूर्ण मार्गदर्शन मिलता है, वहां यह स्पष्ट नहीं है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति के सर्वाधिक नाजुक कृत्य का निर्वहन वह किसकी सलाह से करता है। जहां तक संविधान की शब्दावलि का संबंध है, राष्ट्रपति लगभग किसी को भी प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त कर सकता है पर शर्त केवल यह है कि उसे लोक सभा सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त होना ही चाहिए। यदि किसी पार्टी को लोक सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो तो कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि ऐसे मामलों में सुस्थापित संसदीय प्रथाओं तथा परिपाटियों के अनुसार राष्ट्रपति को बहुमत वाली पार्टी के नेता को आमंत्रित करना पड़ता है कि वह प्रधानमंत्री का पदभार संभाले और सरकार बनाए। लेकिन जहां कोई एक पार्टी अपने बलबूते पर सरकार बनाने की स्थिति में नहीं होती, वहां अनेक जोड़तोड़ संभव होते हैं और कुछ समूहों की निष्ठाएं भी बदलती रहती हैं। अतः ऐसी स्थिति में प्रधानमंत्री के चयन में राष्ट्रपति की भूमिका बड़ी ही नाजुक तथा कठिन हो जाती है। हो सकता है कि यह निर्णय करने में वह अपनी समूची प्रतिभा लगा दे कि कौन-सा नेता लोक सभा का विश्वास प्राप्त करने में सर्वाधिक सफल हो सकता है।

जहां यह कहा जाता है कि मंत्रियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है और वे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं, वहां वास्तव में स्थिति यह है कि उनका चयन प्रधानमंत्री करता है; राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति नहीं कर सकता जिसकी सिफारिश प्रधानमंत्री ने न की हो और वे प्रधानमंत्री के प्रसादपर्यंत पद धारण करते हैं। यदि प्रधानमंत्री किसी मंत्री से अप्रसन्न या असंतुष्ट हो जाता है तो वह उसे पद-त्याग की सलाह दे सकता है,

राष्ट्रपति को उसे बर्खास्त करने की सलाह दे सकता है, अथवा अपनी मंत्रिपरिषद का इस्तीफा दे सकता है और संबद्ध मंत्री का नाम काटकर उसका पुनर्गठन कर सकता है।

ब्रिटेन में संकल्पना मंत्रियों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की है। लेकिन हमारा संविधान केवल सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रावधान करता है। इसका अर्थ है कि किसी एक मंत्री के प्रति अविश्वास प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता। सरकार के सभी कार्यों के लिए समूची मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी है। अतः वह खड़ी भी होती है एक साथ और गिरती भी है एक साथ। यदि वह लोक सभा का विश्वास गंवा देती है तो समूची मंत्रिपरिषद को इस्तीफा देना ही होगा। इसके अलावा, सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ होगा कि मंत्रियों को सार्वजनिक रूप से अलग अलग वाणियों में नहीं बोलना होगा। यदि किसी मंत्री का मतभेद मंत्रिमंडल के किसी निर्णय अथवा नीति से हो जाए तो उसके लिए अनिवार्य है कि या तो वह इस्तीफा दे दे या फिर बराबर के तथा संयुक्त उत्तरदायित्व को स्वीकार कर ले।

ब्रिटेन में ऐतिहासिक दृष्टि से मंत्रिस्तरीय दायित्व की सकल्पना इस सिद्धांत की उपज थी कि राजा कोई गलत काम नहीं कर सकता ("King can do no Wrong")। चूंकि राज्य के गलत कार्यों के लिए राजा को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता था, अतः उत्तरदायित्व का भार डालने के लिए मंत्री सबसे सुलभ पात्र समझे गए। राज्य के हर कार्य के लिए कोई-न-कोई मंत्री उत्तरदायी माना जाता है। अत. किसी भी सार्वजनिक कार्य के लिए सम्राट के नाम से दिए जा रहे हर आदेश पर किसी मत्री को प्रति-हस्ताक्षर करने होते हैं।

दूसरी ओर, भारत मे मंत्रिस्तरीय दायित्व की संकल्पना और उसका विकास प्रतिनिधानात्मक लोकतंत्र के सर्वोच्च सिद्धातों के आधार पर किया गया। यह है लोक सभा मे जनता के सीधे निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति सरकार का दायित्व। वस्तुतया भारत में राज्य के उन कार्यो के लिए मंत्रियों का कोई कानूनी उत्तरदायित्व नहीं होता जो राष्ट्रपति के नाम से किए जाते हैं। उनके बारे में प्रमाणिकरण के रूप मे प्रति-हस्ताक्षर की अपेक्षा मंत्री से नहीं की जाती बल्कि उसकी अपेक्षा सरकार के किसी सचिव (अथवा अन्य प्राधिकृत अधिकारी) से की जाती है।

संविधान केवल मंत्रियों का उल्लेख करता है। वह मंत्रिमडल के मंत्रियो, उपमंत्रियो आदि के रूप में मंत्रियों के किसी वर्गीकरण या श्रेणीकरण का उल्लेख नहीं करता। साथ ही, वह केवल मंत्रिपरिषद का उल्लेख करता है और सिवाय (1979 में यथासंशोधित) अनुच्छेद 352 के मंत्रिमंडल का कोई उल्लेख नहीं करता। वहां मंत्रिमंडल की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि वह मंत्रिमंडलीय स्तर के मंत्रियों वाली परिषद होगी। सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए मंत्रिमंडल ही नीति संबंधी निर्णय करता है और राष्ट्रपति

को सलाह देता है। कार्य-निष्पादन के लिए सभी श्रेणियों के मंत्रियों सहित समूची मंत्रिपरिषद तो संभवतया कभी भी बैठक नहीं करती।

प्रधानमंत्री

प्रधानमंत्री को यह विशेष कर्तव्य सौंपा गया है कि वह प्रशासन तथा विधान संबंधी सभी निर्णयों की सूचना राष्ट्रपति को देता रहे, इन मामलों के संबंध में राष्ट्रपति जो जानकारी मागे उसे वह दे, और किसी विषय को जिस पर किसी मंत्री ने निर्णय कर लिया है, राष्ट्रपति द्वारा अपेक्षा किए जाने पर मंत्रिपरिषद के समक्ष विचार के लिए रखे।

संसदीय शासन प्रणाली में प्रधानमंत्री का अद्वितीय स्थान है। वह सर्वाधिक सशक्त कृत्यकारी होता है। वह संसद तथा कार्यपालिका, दोनों पर नियंत्रण रखता है। संसदीय सरकार को बहुधा प्रधानमत्रीय सरकार कहा जाने लगा है। मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होने के नाते प्रधानमत्री सरकार का भी अध्यक्ष होता है। साथ ही, वह संसद में अपनी पार्टी का नेता तथा लोक निर्वाचित लोक सभा का नेता होता है। लेकिन अंतिम विश्लेषण यह है कि बहुत कुछ प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व तथा इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्र, उसकी ..र्टी तथा संसद उसे किस हद तक स्वीकार करती है और कितना समर्थन देती है। प्रधानमंत्री को सरक्षण की विशाल शक्तियां प्राप्त हैं। सभी मंत्री उसकी सिफारिश पर नियुक्त किए जाते है तथा बर्खास्त किए जाते हैं। प्रधानमंत्री मंत्रियों के बीच कार्य का आवंटन करता है। साथ ही, वह इच्छानुसार उनके विभागो में परिवर्तन कर सकता है। प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद तथा राष्ट्रपति के बीच सवाद का सेतु है।

प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के बीच एव प्रधानमंत्री और अन्य मंत्रियों के बीच कैसे सबध हो, इस बारे में संविधान के गठन काल से ही विवाद चला आ रहा है। गृहमंत्री के रूप मे सरदार पटेल की तथा प्रधानमत्री के रूप में नेहरू की अनुभूतियों में आकाश-पाताल का अंतर रहा है। इसी प्रकार, प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के बीच बुनियादी मतभेद थे। अभी हाल में इस बारे में कि राष्ट्रपति केवल सवैधानिक अध्यक्ष है, सभी सशोधनों तथा न्यायिक स्पष्टीकरणों के बावजूद राष्ट्रपति जैल सिह प्रधानमंत्री राजीव गांधी से लगभग भिड़ने के लिए, यहां तक कि उन्हें बर्खास्त करने की धमकी देने के लिए तैयार हो गए थे।

भारत का महान्यायवादी

"कार्यपालिका" अध्याय के अधीन संविधान में एक प्रावधान है अनुच्छेद 76, जिसके अनुसार राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अर्हता-प्राप्त किसी व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त कर सकता है। वह भारत सरकार को

कानूनी मामलों के बारे में सलाह देता है और कानूनी स्वरूप के ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करता है जो उसे सौंपे जाएं।

महान्यायवादी राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करता है। लेकिन चूंकि उसकी नियुक्ति सरकार की सलाह पर की जाती है अतः यह परिपाटी बन गई है कि सरकार बदलने के साथ ही वह अपना इस्तीफा पेश कर देता है।

महान्यायवादी सरकार का मुख्य विधि अधिकारी होता है। उसे भारत के सभी न्यायालयों में सुनवाई का अधिकार होता है। साथ ही, उसे संसद के दोनों सदनों में बोलने तथा उनकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होता है पर वह वोट नहीं दे सकता। न तो वह लोक सभा का पूर्णकालिक अधिकारी होता है और न ही ब्रिटेन की भांति वह मंत्रिमंडल का सदस्य होता है। साथ ही, उसे निजी प्रैक्टिस करने से रोका नहीं जाता। अपवाद केवल यह है कि भारत सरकार के विरुद्ध वह न तो सलाह दे सकता है और न ही उसके विरुद्ध वकालत कर सकता है।

12

संघ की विधायिका

भाग 5, अध्याय 2 तथा 3, अनुच्छेद 79-123

संसद

भारत संघ की सर्वोच्च विधायिका का नाम है संसद। जैसा कि संसदीय लोकतंत्र प्रणाली में स्वाभाविक है, देश के प्रशासन में भारत की ससद को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

संसद का गठन

भारत की संसद राष्ट्रपति तथा दो सदनों से मिलकर बनी है। सदनों के नाम हैं राज्य सभा तथा लोक सभा। अनुच्छेद 79 के प्रारंभ में ही कहा गया है कि संघ के लिए एक संसद होगी। इसका अर्थ है कि संघ के लिए एक संसद सदैव अस्तित्व में रहेगी। संसद के तीन घटकों में से केवल लोक सभा का ही विघटन हो सकता है। राज्य सभा एक स्थायी अथवा शाश्वत सभा है और यह अनिवार्य है कि सदैव एक राष्ट्रपति अथवा एक ऐसा व्यक्ति हो जो राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करे।

राष्ट्रपति : यद्यपि राष्ट्रपति संसद का एक संघटक अंग है पर वह दोनों सदनों में न तो बैठता है और न ही उनकी चर्चाओं में भाग लेता है। लेकिन राष्ट्रपति समय समय पर दोनों सदनों की बैठकें बुलाता है। वह दोनों सदनों का सत्रावसान कर सकता है और लोक सभा का विघटन कर सकता है। सत्रावसान सत्र की समाप्ति करता है पर विघटन सदन के जीवन का अंत कर देता है। दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति लेना अनिवार्य है। अनुमति के बाद ही वह विधि बन सकता है। इतना ही नहीं, जब संसद के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो और राष्ट्रपति को समाधान हो जाए कि ऐसी परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनके कारण उसके लिए तुरंत कार्यवाही करना जरूरी हो गया है तो राष्ट्रपति अध्यादेश जारी कर सकता है। उनका वही जोर तथा प्रभाव होगा जो संसद द्वारा पारित विधि का होता है (अनुच्छेद 85, 111 तथा 123)।

लोक सभा के लिए हर आम चुनाव के बाद प्रथम सत्र के प्रारंभ होने पर तथा प्रतिवर्ष प्रथम सत्र के प्रारंभ होने पर राष्ट्रपति एक साथ समवेत दोनों सदनों के समक्ष अभिभाषण करता है और संसद को उसे बुलाए जाने के कारणों की सूचना देता है। इसके अलावा, वह संसद के किसी एक सदन में या एक साथ समवेत दोनों सदनों के समक्ष अभिभाषण कर सकता है और उस प्रयोजन के लिए सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह संसद में उस समय लंबित किसी विधेयक के संबंध में संदेश या अन्य संदेश संसद के किसी सदन को भेज सके और जिस सदन को कोई संदेश इस प्रकार भेजा गया है, वह सदन उस संदेश द्वारा विचार करने के लिए अपेक्षित विषय पर सुविधानुसार शीघ्रता से विचार करेगा (अनुच्छेद 86 तथा 87)। कुछ श्रेणियों के विधेयकों का पुरःस्थापन तथा उन पर कार्रवाई राष्ट्रपति की सिफारिश प्राप्त करने के बाद ही की जा सकती है [अनुच्छेद 117 तथा 274(1)। अध्याय 11 भी देखिए]।

राज्य सभा : राज्य सभा अपने नाम के अनुरूप राज्यों की परिषद है। वह अप्रत्यक्ष रूप से जनता का प्रतिनिधित्व करती है क्योंकि उसका समूहन संघ, राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों के अनेक अंगों के रूप में होता है और राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य आनुपातिक पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा करते हैं [अनुच्छेद 80(4)]। संघ के विभिन्न राज्यो को राज्य सभा में बराबर का प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। भारत के प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या अधिकतर उसकी आबादी पर निर्भर करती है। अतः जहां राज्य सभा में उत्तर प्रदेश के 34 सदस्य हैं, वहां मणिपुर, मिजोरम, सिक्किम, त्रिपुरा जैसे छोटे छोटे राज्यों का केवल एक एक प्रतिनिधि है। अडमान तथा निकोबार द्वीपसमूह, चंडीगढ़, दादरा तथा नागर हवेली, दमण तथा दीव और लक्षद्वीप जैसे कुछ संघ राज्य क्षेत्रों की आबादी इतनी कम है कि राज्य सभा में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं है। संविधान के अनुसार राज्य सभा मे 250 से अधिक सदस्य नहीं होंगे। उसमें राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्देशित बारह सदस्य तथा राज्यों एवं संघ राज्य क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित 238 सदस्य होते हैं [अनुच्छेद 80(1)]।

राज्य सभा में इस समय 245 सदस्य हैं। विवरण इस प्रकार है :

आंध्र–18, अरुणाचल–1, असम–7, बिहार–22, गोवा–1, गुजरात–11, हरियाणा–5, हिमाचल–3, जम्मू-कश्मीर–4, कर्नाटक–12, केरल–9, मध्य प्रदेश–16, महाराष्ट्र–19, मणिपुर–1, मेघालय–1, मिजोरम–1, नागालैंड–1, उड़ीसा–10, पंजाब–7, राजस्थान–10, सिक्किम–1, तमिलनाडु–18, त्रिपुरा–1, उत्तर प्रदेश–34, पश्चिमी बंगाल–16, दिल्ली–3, पांडिचेरी–1 और नामनिर्देशित–12।

लोक सभा की एक निश्चित कालावधि होती है और उसका विघटन राष्ट्रपति किसी भी समय कर सकता है। इसके विपरीत राज्य सभा एक स्थायी निकाय है और उसका

विघटन नहीं किया जा सकता। जहां राज्य सभा के किसी एक सदस्य का कार्यकाल 6 वर्ष का होता है, वहां उसके सदस्यों में से यथासंभव एक तिहाई सदस्य विधि द्वारा इस निमित्त किए गए उपबंधों के अनुसार प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जाते हैं [अनुच्छेद 83(1)]। उपराष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों सदनों के सदस्य करते हैं और वह राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। पर उपसभापति का चुनाव राज्य सभा के सदस्य अपने सदस्यों में से करते हैं (अनुच्छेद 64, 66 तथा 89)।

लोक सभा : दूसरा सदन लोक सभा यानी लोक सदन है। इसका निर्वाचन जनता प्रत्यक्ष रूप से करती है। भारत का हर नागरिक जिसकी आयु 18 वर्ष से कम नहीं है, लोक सभा के चुनावों में वोट देने का अधिकारी है जब तक कि विधि के अधीन उसे अन्यथा अयोग्य न ठहरा दिया जाए (अनुच्छेद 326)। संविधान का उपबंध है कि लोक सभा में राज्यों के प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए 530 से अधिक तथा संघ राज्य क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने के लिए ऐसी रीति से जो संसद विधि द्वारा उपबंधित करे, चुने गए 20 से अधिक सदस्य नहीं होंगे [अनुच्छेद 81(1)]। इसके अलावा, राष्ट्रपति आंग्ल-भारतीय समुदाय को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए अधिक-से-अधिक दो सदस्य नामजद कर सकता है (अनुच्छेद 331)। इस प्रकार, संविधान में लोक सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 552 निश्चित की गई है। समस्त निर्वाचन-सदस्य संख्या को राज्यों में इस प्रकार विभाजित किया गया है कि प्रत्येक राज्य को लोक सभा में आवंटित स्थानों की संख्या ऐसी हो कि उस संख्या से राज्य की जनसंख्या का अनुपात सभी राज्यों के लिए यथासाध्य एक-सा ही हो। इस प्रयोजन के लिए जनसंख्या से अभिप्रेत है 1971 की जनगणना में निश्चित जनसंख्या। सन् 2000 तक लोक सभा की सीटों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होगा [अनुच्छेद 81(3)]।

लोक सभा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थानों का आरक्षण राज्यवार जनसंख्या-अनुपात के आधार पर किया गया है। मूलतया आरक्षण दस वर्षो के लिए था लेकिन उसे हर बार अगले दस वर्षों के लिए बढ़ाया जा रहा है (अनुच्छेद 330 तथा 334)।

लोक सभा के लिए निश्चित अवधि का उपबंध है। यही स्थिति संयुक्त राज्य अमरीका की जन-निर्वाचित प्रतिनिधि सभा तथा ब्रिटेन के हाउस आफ कामंस की है। प्रतिनिधानात्मक लोकतंत्र का प्रमुख प्रयोजन यह है कि पद पर वैध रूप से बने रहने के लिए सरकार नियत समय पर जनोदश प्राप्त करे। लोक सभा की अवधि उसकी प्रथम बैठक के लिए नियत तिथि से पांच वर्षों की है। पांच वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर उसका स्वतः विघटन हो जाता है। कुछ परिस्थितियों में लोक सभा की पूर्ण अवधि समाप्त होने से पूर्व ही उसका विघटन किया जा सकता है। जब आपात की घोषणा लागू हो तब संसद लोक सभा की

अवधि को बढ़ा सकती है, जो एक बार में एक वर्ष से अधिक नहीं होगी और घोषणा के लागू न रहने के बाद किसी भी दशा में उसका विस्तार छह मास की अवधि से अधिक नहीं होगा (अनुच्छेद 83)। वस्तुतया प्रथम लोक सभा से ही हर बार लोक सभा का विघटन उसकी पूर्ण अवधि समाप्त होने से पूर्व किया गया है। एक बार जब आपात के दौरान उसकी अवधि को बढ़ाया गया था तो बढाई गई अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही लोक सभा का विघटन कर दिया गया था।

संसद-सदस्य

सदस्यता के लिए अर्हता : अनुच्छेद 83 में संसद के दोनों सदनों की सदस्यता संबंधी अर्हताओं का उपबंध है। कोई व्यक्ति सदस्य के रूप मे चुने जाने का पात्र तभी होगा जब वह भारत का नागरिक हो। राज्य सभा की सदस्यता के लिए उसकी आयु कम-से-कम तीस वर्ष की और लोक सभा की सदस्यता के लिए उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष की होनी चाहिए। अतिरिक्त अर्हताएं विधि द्वारा विहित की जा सकती हैं।

सदस्यता के लिए निरर्हताएं : अनुच्छेद 102 के अधीन कोई व्यक्ति संसद के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के और सदस्य होने के योग्य नहीं होगा यदि वह--

> (i) भारत का नागरिक नहीं है अथवा अन्यथा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा रखता है; यदि वह (ii) अनुन्मोचित दिवालिया[1] है अथवा विकृतचित्त है और उसके बारे में सक्षम न्यायालय की घोषणा विद्यमान है; (iii) भारत सरकार के या राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, सिवाय मत्री पद के अथवा उस पद के जिसके बारे में ससद ने विधि द्वारा छूट दी है, और (iv) ससद द्वारा बनाए गए किसी कानून के अधीन अयोग्य ठहराया गया हो।

दसवीं अनुसूची के अधीन दलबदल के आधार पर भी किसी व्यक्ति को अयोग्य ठहराया जा सकता है। संविधान में इस अनुसूची को 52वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया है।

यदि इस बारे में कोई प्रश्न उठता है कि क्या संसद के किसी सदन का कोई सदस्य सदस्ता के अयोग्य हो गया है तो उसका निर्णय राष्ट्रपति करेगा पर उससे पूर्व वह निर्वाचन आयोग की राय लेगा और उस राय के अनुसार निर्णय करेगा। यदि अयोग्यता दलबदल के आधार पर हो तो उस मामले में निर्णय, यथास्थिति, लोक सभा का अध्यक्ष अथवा राज्य सभा का सभापति करेगा।

स्थानों का रिक्त होना : अनुच्छेद 101 का उपबंध है कि यदि कोई सदस्य संसद के दोनों सदनों अथवा राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य चुन लिया जाता है तो

---

1. अनुन्मोचित दिवालिया (Undischarged Insolvent)

उसे एक सदन में अपना स्थान छोड़ना होगा। राज्य विधानमंडल की दशा में यदि सदस्य वहां अपने पद का त्याग नहीं करता है तो संसद के सदन में उसके स्थान को रिक्त घोषित किया जा सकता है। कोई स्थान उस अवस्था में भी रिक्त हो जाएगा यदि कोई सदस्य अयोग्यता से ग्रस्त हो जाता है अथवा स्वेच्छा से अपना पद त्याग कर देता है। सदन किसी स्थान के रिक्त होने की घोषणा ऐसी स्थिति में भी कर सकता है जब संबद्ध सदस्य बिना अनुमति के 60 दिन से अधिक अवधि तक सदन से अनुपस्थित रहे।

सदस्यों द्वारा शपथ : आम चुनाव के बाद लोक सभा के प्रथम सत्र की प्रथम बैठक मे सदस्यगण विहित रूप में शपथ लेते हैं और प्रतिज्ञान करते हैं। वे कहते हैं "मैं भारत के संविधान के प्रति सच्ची श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा"; "मै भारत की संप्रभुता और अखंडता अक्षुण्ण रखूंगा" और "मैं संसद-सदस्य के रूप में अपने कर्तव्य का निर्वहन करूंगा।" किसी भी सदन मे अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व हर सदस्य से अपेक्षा की जाती है कि वह शपथ ले तथा प्रतिज्ञान करे (अनुच्छेद 99 तथा तीसरी अनुसूची)।

सदस्यों के वेतन तथा भत्ते : दोनों सदनों के सदस्य ऐसे वेतनों तथा भत्तो के हकदार होते है जिनका निर्धारण समय समय पर विधि द्वारा संसद स्वयं करती है (अनुच्छेद 106)। इस उपवंध मे पेशनो का अलग से कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन संसद सदस्य (वेतन, भत्ते तथा पेंशन) अधिनियम के अधीन ससद ने सदस्यों के लिए पेंशन की व्यवस्था की है। नवीं लोक सभा के कार्यकाल में दोनो सदनो ने एक विधेयक पारित किया। उसमे, अन्य बातो के साथ साथ, यह उपबध भी किया गया था कि केवल एक वर्ष की सेवा के बाद भी किसी सदस्य को पेशन दी जाए। लेकिन, राष्ट्रपति द्वारा इस पर अनुमति नहीं दी गई।

संसद के अधिकारी

संविधान में लोक सभा के लिए अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का और राज्य सभा के लिए सभापति तथा उपसभापति का उपबध किया गया है। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। उपसभापति का चुनाव राज्य सभा अपने सदस्यों में से करती है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष का चुनाव लोक सभा अपने सदस्यों में से करती है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति मे लोक सभा का उपाध्यक्ष अध्यक्ष के कृत्यों का निर्वहन करता है। इसी प्रकार सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति राज्य सभा के सभापति के रूप में कार्य करता है। ऐसी अध्यक्षता करते समय उप-पीठासीन अधिकारी दोनों अवस्थाओं में सदन के पीठासीन अधिकारी की सभी शक्तियों का प्रयोग करता है (अनुच्छेद 89, 91, 93-95)।

भारत में, सामान्यतया अध्यक्ष का पद कमोबेश हाउस आफ कामंस के अध्यक्ष जैसा ही होता है। उसका पद प्रतिष्ठा, प्रताप और प्राधिकार वाला होता है। वह लोक सभा

का अध्यक्ष होता है। उसका प्रमुख दायित्व है कि वह सदन की कार्यवाही का सहज तथा सुव्यवस्थित संचालन करे। सदन के भीतर तथा सदन से संबंधित सभी मामलों में उसका कथन वेदवाक्य होता है। उसके वेतन तथा भत्ते भारत की संचित निधि[1] से लिए जाते हैं यानी उनकी अनुमति संसद से नहीं ली जाती। उसके आचरण पर चर्चा केवल सारभूत आधार वाले प्रस्ताव के द्वारा ही की जा सकती है। वह सदन में वोट नहीं देता, सिवाय उस स्थिति के जब किसी मामले में पक्ष और विपक्ष में बराबर बराबर वोट पड़े हों [अनुच्छेद 94, 96, 100(1) तथा 112(3) (ख)]।

जहां तक कतिपय मामलों में दोनों सदनों के सबंधों का प्रश्न है, संविधान ने अध्यक्ष को विशेष स्थान प्रदान किया है। वह निश्चित करता है कि वे कौन-से मामले हैं जो लोक सभा के एकमात्र अधिकारक्षेत्र के भीतर आने वाले वित्तीय मामले हैं। यदि वह किसी विधेयक को 'धन-विधेयक' का प्रमाणपत्र प्रदान करता है तो उसका निर्णय अंतिम होता है (अनुच्छेद 110)। जब भी किसी विधेयक के बारे में दोनों सदनों के बीच मतभेद होने पर संयुक्त बैठक बुलाई जाती है तो वह ऐसी संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करता है और ऐसी बैठक में प्रक्रिया संबंधी सभी नियमों का संचालन उसके निर्देशों तथा आदेशों के अनुसार होता है [अनुच्छेद 108 तथा 118(4)]।

लोक सभा का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष लोक सभा का सदस्य न रहने पर अपना पद रिक्त कर देता है। अध्यक्ष उपाध्यक्ष को लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है। उसे सदन के संकल्प द्वारा पद से हटाया जा सकता है, पर इसके लिए 14 दिन की सूचना देनी होगी और उसे सदन के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित करना होगा (अनुच्छेद 94)। अनुच्छेद 90 में राज्य सभा के उपसभापति के लिए ऐसा ही प्रावधान है। लेकिन लोक सभा का विघटन हो जाने पर भी नये सदन की प्रथम बैठक के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद पर बना रहता है (अनुच्छेद 94, परंतुक 2)।

संसद के सत्र

राष्ट्रपति समय समय पर संसद के प्रत्येक सदन को अधिवेशन के लिए बुलाता है। लेकिन अनुच्छेद 85(1) क उपबंध है कि दो सत्रों के बीच छह मास का अंतर नहीं होगा। सामान्यतया प्रतिवर्ष संसद के तीन सत्र होते हैं अर्थात बजट-सत्र (फरवरी-मई), वर्षाकालीन सत्र (जुलाई-सितंबर) और शीतकालीन सत्र (नवंबर-दिसंबर)। लेकिन राज्य सभा के बजट-सत्र का विभाजन दो सत्रों में कर दिया जाता है और उनके बीच तीन से चार सप्ताह का अंतराल होता है। अतः उसके वर्ष में चार सत्र हो जाते हैं।

---

1. भारत की संचित निधि (Consolidated Fund of India)

कार्य-संचालन तथा विधायी प्रक्रिया

प्रत्येक सदन अपनी प्रक्रिया का सर्वाधिकारी होता है और संविधान के अनुच्छेद 118 के उपबंधों के अधीन अपनी प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन को विनियमित करने के नियम बना सकता है। संसद की किसी कार्यवाही की विधिमान्यता की प्रक्रिया को किसी अभिकथित अनियमितता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती और संसद का कोई अधिकारी या सदस्य संसद में प्रक्रिया-विनियमन अथवा कार्य-संचालन के मामले में किसी शक्ति के प्रयोग के लिए न्यायालयों की अधिकारिता के अधीन नहीं होगा (अनुच्छेद 122)।

प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन के कुछ बुनियादी नियमों के बारे में स्वयं संविधान में ही उपबंध कर दिया गया है। अनुच्छेद 100 का प्रावधान है कि (1) इस संविधान में जैसा उपबंधित है उसके सिवाय (यथा संविधान-संशोधनों, राष्ट्रपति के महाभियोग, पीठासीन अधिकारियो, न्यायाधीशों आदि को हटाए जाने की दशा में), प्रत्येक सदन की बैठक में या सदनों की संयुक्त बैठक मे सभी प्रश्नों का निर्धारण, पीठासीन अधिकारी को छोडकर जो केवल वोटों की बराबरी की दशा में ही निर्णायक वोट का इस्तेमाल करेगा, उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा, (2) सदस्यता में रिक्ति अथवा विवाद या मतदान में अनधिकृत भागीदारी होने पर भी किसी भी सदन की सभी कार्यवाहियां विधिमान्य होगी, और (3) प्रत्येक सदन के अधिवेशन का गठन करने के लिए गणपूर्ति, सदन के सदस्यों की कुल संख्या का दसवा भाग होगी।

धन विधेयको तथा अन्य वित्तीय विधेयकों को छोडकर किसी भी विधेयक को किसी भी सदन मे आरभ किया जा सकता है। ऐसे विधेयक को अनुमति के लिए राष्ट्रपति को प्रस्तुत करने से पूर्व अनिवार्य है कि उसे दोनो सदन बिना किसी संशोधन के या दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत सशोधनों सहित पारित किया जाए। धन विधेयक को छोड़कर किसी अन्य विधेयक की दशा मे यदि दोनों सदनों के बीच कोई अंतिम असहमति हो जाए तो राष्ट्रपति मतभेदो को दूर कराने के लिए दोनो सदनों की संयुक्त बैठक बुला सकता है (अनुच्छेद 107-108)।

वित्तीय विधेयक[1] संविधान धन विधेयकों तथा वित्त विधेयकों के बीच विभेद करता है। सामान्यतया कहा जा सकता है कि वित्त विधेयक वह विधेयक है जिसका संबंध राजस्व अथवा व्यय से है। धन विधेयक के बारे में संविधान में विनिर्दिष्ट किसी मामले के लिए उपबध करने के अलावा वित्त विधेयक अन्य मामलों के बारे में भी उपबंध कर सकता है। सुविधा की दृष्टि से वित्त विधेयक को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

श्रेणी 'क' : वे विधेयक जो धन विधेयक के लिए अनुच्छेद 110 में विनिर्दिष्ट किसी मामले के बारे में उपबंध करते है पर केवल उन्हीं मामलों तक सीमित नहीं रहते यथा

1. वित्तीय विधेयक (Financial Bills)

एक विधेयक जिसमे कराधान संबंधी खंड तो होता है पर वह केवल कराधान से संबंध नहीं रखता।

श्रेणी 'ख' वे विधेयक जिनमे सचित निधि से व्यय सबधी उपबध होते हैं (अनुच्छेद 110 तथा 117)।

धन-विधेयकों[1] के लिए विशेष प्रक्रिया

धन विधेयक की परिभाषा करते हुए अनुच्छेद 110 मे कहा गया है कि धन विधेयक वह विधेयक होता है जिसमें केवल इन विषयों के बारे मे उपबध होता है अर्थात कर, उधार, संचित निधि तथा[2] की अभिरक्षा, विनियोग, किसी व्यय को सचित निधि पर भारित घोषित करना, सचित निधि मे धन की प्राप्ति तथा अभिरक्षा, सघ या राज्य के लेखाओ की लेखापरीक्षा या कोई अन्य आनुषगिक मामले। कोई विधेयक केवल इसलिए धन विधेयक नही समझा जाएगा कि वह जुर्मानो या अन्य धन सबधी शास्तियो के अधिरोपण का अथवा अनुज्ञप्तियो के लिए फीसो की या की गई सेवाओ के लिए फीसो की माग का या उनके भुगतान का उपबध करता है अथवा वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनो के लिए किसी कर के अधिरोपण, विनियमन आदि का उपबध करता है। यदि इस बारे मे कोई प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा। हर धन विधेयक जब राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किया जाता है तो उस पर लोक सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाणपत्र दिया जाएगा कि वह धन विधेयक है (अनुच्छेद 110)। धन विधेयक केवल लोक सभा में और केवल राष्ट्रपति की सिफारिश पर पुर:स्थापित किया जा सकता है। जब लोक सभा उसे पारित करके राज्य सभा मे भेज देती है तो राज्य सभा 14 दिन की अवधि के भीतर सिफारिशे, यदि कोई हो, कर सकती है और लोक सभा किसी एक या सभी सिफारिशो को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। इसके बाद माना जाता है कि उसे लोक सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों सहित दोनों सदनो ने पारित कर दिया है। यदि संशोधन के बारे में राज्य सभा की सिफारिश को लोक सभा स्वीकार नही करती या राज्य सभा विधेयक को 14 दिन के भीतर नहीं लौटाती तो समझा जाता है कि उसे दोनो सदनों ने उस रूप मे पारित कर दिया है जिस रूप में उसे लोक सभा ने पारित किया था (अनुच्छेद 109)।

1. धन-विधेयक (Money Bill)
2. आकस्मिता निधि (Contigency Fund)

विधेयकों पर अनुमति

अनुच्छेद 111 में कहा गया है कि जब संसद के दोनों सदनो द्वारा पारित कोई विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाएगा तो राष्ट्रपति या तो विधेयक पर अनुमति देगा या फिर अनुमति रोक लेगा। वह विधेयक को, यदि वह धन-विधेयक नहीं है, दोनों सदनो को पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। यदि विधेयक को संशोधनों के सहित या उनके बिना पुन: पारित कर दिया जाता है और अनुमति के लिए राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है तो वह उस पर अनुमति नहीं रोकेगा (अनुच्छेद 111)। राष्ट्रपति के पास एक और विकल्प यह है कि वह कुछ सूचना या स्पष्टीकरण मागे या विधेयक को सरकार को यानी मंत्रिपरिषद को लौटा दे ताकि वह अपनी इस सलाह पर कि विधेयक को अनुमति दी जाए पुनर्विचार कर सके। [अनुच्छेद 74(2) तथा 78(ख)]। संभवतया राष्ट्रपति जैल सिंह ने डाक विधेयक के बारे में और राष्ट्रपति वेंकटरामन ने केवल एक वर्ष की सेवा के बाद ही संसद सदस्यों को पेंशन दिए जाने का प्रावधान करने वाले विधेयक के बारे में यही कदम उठाया था।

वित्तीय विषयों के संबंध में प्रक्रिया

बजट : राष्ट्रपति से अपेक्षा की जाती है कि वह प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबध मे संसद के दोनो सदनो के समक्ष भारत सरकार की उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियों तथा व्यय का विवरण रखवाएगा। इसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' या बजट कहा जाता है।

वार्षिक वित्तीय विवरण में दिए गए व्यय के अनुमानो मे–

(क) इस संविधान में भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप में वर्णित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां, और

(ख) भारत की संचित निधि मे से किए जाने के लिए प्रस्थापित अन्य व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां;

अलग अलग दिखाई जाएगी और राजस्व खाते मे होने वाले व्यय का अन्य व्यय से भेद किया जाएगा।

भारत की संचित निधि पर भारित व्यय इस प्रकार होगा :

(क) राष्ट्रपति की उपलब्धियां और भत्ते तथा उसके पद से संबंधित अन्य व्यय;

(ख) राज्य सभा के सभापति और उपसभापति के तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते;

(ग) ऐसे ऋण-भार जिनका दायित्व भारत सरकार पर है, जिनके अंतर्गत ब्याज, निक्षेप निधि भार और मोचन-भार तथा उधार लेने और ऋण-सेवा और ऋण-मोचन से संबंधित अन्य व्यय हैं;

(घ) (i) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके संबध में संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन, (ii) फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके सबंध में संदेय पेंशन, (iii) उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीशाों को या उनके संबंध में संदेय पेंशन जो भारत के राज्य क्षेत्र के अंतर्गत किसी क्षेत्र के सबंध में अधिकारिता का प्रयोग करता है या जो (भारत डोमिनियन के राज्यपाल वाले प्रांत के) अंतर्गत किसी क्षेत्र के संबंध में इस संविधान के प्रारंभ से पहले किसी भी समय अधिकारिता का प्रयोग करता था;

(ङ) भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को या उसके सबध में संदेय वेतन, भत्ते और पेंशन;

(च) किसी न्यायालय या माध्यस्थम अधिकरण के निर्णय, डिक्री या पंचाट की तुष्टि के लिए अपेक्षित राशियां;

(छ) कोई अन्य व्यय जो इस संविधान द्वारा या ससद द्वारा, विधि द्वारा, इस प्रकार भारित घोषित किया जाता है (अनुच्छेद 112)।

अनुमान तथा अनुदानों की मांगें[1] : संचित निधि पर भारित व्यय से सबंधित अनुमान ससद में मतदान के लिए नही रखे जाते लेकिन उनकी चर्चा पर रोक नहीं है। अन्य अनुमानो को लोक सभा के सामने अनुदानो की मांगों के रूप में रखा जाता है और लोक सभा किसी माग को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। वह माग को कम करके भी स्वीकार कर सकती है। किसी अनुदान की मांग राष्ट्रपति की सिफारिश पर ही की जाएगी अन्यथा नहीं (अनुच्छेद 113)।

विनियोग विधेयक[2] : लोक सभा द्वारा अनुदान की मागो को स्वीकार कर लिए जाने के बाद भारत की संचित निधि में से विनियोग के लिए विधेयक पुरःस्थापित किया जाता है। अनुदानों की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियों को लोक सभा अनुमति प्रदान करती है तथा व्यय को संचित निधि पर भारित किया जाता है। ऐसे किसी संशोधन की अनुमति नहीं दी जाती जिसका उद्देश्य रकम में अथवा अनुदान मद के आवंटन में या किसी भारित व्यय की रकम में परिवर्तन करना हो। विनियोग विधेयक जरूरी है क्योंकि संसदीय मजूरी के बिना संचित निधि से कोई राशि नहीं निकाली जा सकती। अतिरिक्त, अनुपूरक या अधिक अनुदानों को मतदान के लिए अलग से रखा जा सकता है लेकिन उन पर भी वही प्रक्रिया लागू होगी (अनुच्छेद 114-115)।

---

1. अनुमान तथा अनुदानों की मागें (Estimates and Demands for Grants)
2. विनियोग विधेयक (Appropriation Bill)

अनुच्छेद 116 में उपबंध है कि (1) लेखानुदान[1] दिया जा सकता है यानी बजट अनुमोदन तथा समूची प्रक्रिया पूर्ण होने से पूर्व पेशगी अनुदान दिए जा सकते हैं, (2) ऐसा असाधारण अनुदान दिया जा सकता है जो किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का अंग नहीं होता, और (3) बड़े पैमाने की अप्रत्याशित या अनिश्चित स्वरूप की मांग की पूर्ति के लिए अनुदान दिया जा सकता है (अनुच्छेद 116)।

वित्तीय कार्य को समय के भीतर पूरा करने के प्रयोजन सबंधी प्रक्रिया को संसद विधि द्वारा विनियमित कर सकती है (अनुच्छेद 119)।

संसद की भाषा

संविधान में घोषणा की गई है कि संसद में कार्य हिंदी तथा अंग्रेजी में किया जाएगा। लेकिन पीठासीन अधिकारी किसी सदस्य को, जो हिंदी या अंग्रेजी मे अपनी बात को भली भांति व्यक्त नहीं कर सकता है, उसकी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुमति दे सकता है (अनुच्छेद 120)।

संसदीय विशेषाधिकार

संविधान का अनुच्छेद 105 ससद के सदनों, उसके सदस्यों तथा उनकी समितियो के अधिकारो, विशेषाधिकारो आदि के बारे मे उपबंध करता है।

विशेषाधिकार से अभिप्रेत है कोई विशेष या असाधारण अधिकार या स्वतंत्रता या उन्मुक्ति जो वर्ग विशेष के व्यक्तियों को प्राप्त हो। कानूनी दृष्टि से इसका अर्थ है ऐसे किसी कर्तव्य, भार, उपस्थिति या दायित्व से छूट जो दूसरो को पूरे करने पड़ते हैं। विशेषाधिकार की यह परिभाषा भी की जा सकती है कि वह ऐसा अधिकार है, जो दूसरों के पास नही होता। ससदीय विशेषाधिकार ससद के दोनों सदनों, उसके सदस्यो तथा समितियो के वे विशेष अधिकार हैं। जिनके बिना वे अपने कृत्यों का निर्वहन उस रीति से नहीं कर सकते जिसकी उनसे आशा की जाती है। विशेषाधिकार देने का उद्देश्य यह है कि ससद के सदनों, उनकी समितियो तथा उनके सदस्यो की गरिमा एवं प्रतिष्ठा को तथा कार्य करने की उनकी आजादी को बनाए रखा जा सके और वे बिना किसी विघ्न या बाधा के काम कर सके। विशेषाधिकार वस्तुतया कतिपय अधिकारों, उन्मुक्तियों तथा छूटों को जन्म देते हैं। लेकिन सदस्यों के विशेषाधिकार उन्हें तब तक कानून की नजरों में साधारण नागरिक से भिन्न दर्जा प्रदान नहीं करते जब तक कि स्वयं संसद के हित में ऐसा करने के समुचित कारण न हों। बुनियादी कानून यह है कि संसद सदस्यों समेत सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समान समझा जाए। उनके भी अधिकार तथा उन्मुक्तियां

---

1. लेखानुदान (Vote on Account)

साधारण नागरिकों जैसी ही हैं, सिवाय उस स्थिति के जब संसद में वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। सदस्यों को ये विशेषाधिकार केवल तभी उसी सीमा तक उपलब्ध हैं जब तक वे संसद में जनप्रतिनिधियों के रूप में काम करते हैं और अपने संसदीय दायित्वों का निर्वाह करते हैं। ये विशेषाधिकार किसी भी दशा में उन्हें समाज के प्रति उनके दायित्वों से मुक्त नहीं करते। इन दायित्वों का भार उन पर दूसरों जैसा ही है और संभवतया उस हैसियत से कुछ अधिक ही।

अधिक महत्वपूर्ण विशेषाधिकारों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 105 में किया गया है। वे हैं संसद में बोलने की आजादी तथा संसद में उनके द्वारा कही गई किसी बात या दिए गए मत के बारे में न्यायिक कार्यवाही से उन्मुक्ति—

1. संविधान के उपबंधों और संसद की प्रक्रिया का विनियमन करने वाले नियमों तथा स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए, संसद में बोलने की आजादी होगी।
2. संसद में या उनकी किसी समिति में संसद के किसी सदस्य द्वारा कही गई किसी बात या दिए गए किसी मत के संबंध में किसी संसद-सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जाएगी और कोई व्यक्ति, संसद के किसी सदन के प्राधिकार द्वारा या उसके अधीन किसी रिपोर्ट, पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के संबंध में इस प्रकार दायी नहीं होगा [*तेज किरण बनाम संजीव*, ए आई आर 1970 एस सी 1573, *गतीश बनाम हरिसाधन* (1956) 60 सी डब्ल्यू एन 971, ए आई आर 1961 एस सी 613]।
3. अन्य बातों में ससद के प्रत्येक सदन की और प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्तिया ऐसी होंगी जो संसद समय समय पर, विधि द्वारा, परिनिश्चित करे और जब तक वे इस प्रकार परिनिश्चित नहीं की जाती हैं, तब तक वही होंगी जो संविधान (44वां सशोधन) अधिनियम, 1978 की धारा 15 के लागू होने से ठीक पहले उस सदन की और उसके सदस्यों और समितियों की थीं।
4. जिन व्यक्तियों को इस संविधान के आधार पर संसद के किसी सदन या उसकी किसी समिति में बोलने का और उसकी कार्यवाहियों में अन्यथा भाग लेने का अधिकार है, उनके संबंध में खंड (1), खंड (2) और खंड (3) के उपबंध उसी प्रकार लागू होंगे जिस प्रकार वे संसद-सदस्यों के संबंध में लागू होते हैं।

दूसरे शब्दों में, वस्तुतया प्रत्येक सदन, उसकी समितियों तथा सदस्यों को (संविधान में विनिर्दिष्ट अधिकारों को छोड़कर) वे अधिकार तथा विशेषाधिकार प्राप्त होंगे जो 26 जनवरी, 1950 को ब्रिटिश हाउस आफ कामंस को प्राप्त थे।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण संसदीय विशेषाधिकार यह है कि संसदीय कर्तव्यों का पालन करते समय बोलने की आजादी होगी। अनुच्छेद 19 भी नागरिक को बोलने की आजादी का अधिकार देता है लेकिन अनुच्छेद 105 तथा 194 विधानमंडलों के सदस्यों के बोलने की आजादी के अधिकार को विशेष रूप से रेखांकित करते हैं। अनुच्छेद 19 बोलने की आजादी के अधिकार पर युक्तियुक्त अंकुश लगाता है यथा, मानहानि की विधि का। यदि कोई साधारण व्यक्ति कुछ अपमानजनक बात कहता है तो उसके विरुद्ध कार्रवाई की जा सकती है लेकिन कोई संसद सदस्य जो सदन में या उसकी किसी समिति में बोलता है, वह उन्मुक्त है। उसके विरुद्ध इस आधार पर कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती कि उसका भाषण अपमानजनक या मानहानिकारक था।

सदस्यों को सार्वजनिक शिकायतों को अभिव्यक्त करना पड़ता है और सार्वजनिक महत्व के विभिन्न मामलों को उठाना पड़ता है। ऐसा करते समय सदस्यों के मन में किसी प्रकार की दुविधा या संकोच नहीं होना चाहिए और उन्हें अपनी बात तथा अपने विचारों को आजादी से व्यक्त कर सकना चाहिए। सदन में तथा ससदीय समितियों की बैठकों में सदस्य को पूर्ण स्वतत्रता है कि वह जो चाहे कह सके पर एकमात्र शर्त यह है कि वह सदन या संबद्ध समिति के आतरिक अनुशासन का पालन करे। किसी बाहरी प्राधिकारी को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। सदस्य के लिए वाक-स्वातंत्र्य नितांत आवश्यक है। तभी वह समितियों तथा ससद की सभाओं में बिना किसी भय या पक्षपात के आजादी से काम कर सकता है। सदस्य जो कहता है, उसके बारे में जब तक उसे कानूनी कार्यवाही से उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, तब तक उससे आशा नहीं की जा सकती कि वह आजादी से तथा उन्मुक्त भाव से बोले। अतः संविधान का उपबंध है कि संसद में या उसकी किसी समिति में संसद के किसी सदस्य द्वारा कही गई किसी बात या दिए गए किसी मत के संबध में किसी संसद सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में या संसद के अलावा किसी प्राधिकारी के समक्ष कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी। सदस्य द्वारा संसद में या उसकी किसी समिति में कही गई बात के लिए उसकी आलोचना करना या उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई करना भी विशेषाधिकार का उल्लंघन है। इसी प्रकार उसके द्वारा संसद में या उसकी किसी समिति में कही गई किसी बात के लिए उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना विशेषाधिकार का उल्लंघन होगा।

'सर्चलाइट' के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि अनुच्छेद 105 के अधीन सदस्यों को बोलने की जो आजादी दी गई है, उस पर केवल संविधान के उन उपबंधों का अंकुश होगा जो संसदीय प्रक्रिया तथा सदन के नियमों और स्थायी आदेशों का विनियमन करते हैं लेकिन वह ऐसे किसी भी निबंधन से मुक्त है जो किसी साधारण नागरिक के वाक-स्वातंत्र्य पर अनुच्छेद 19(2) के अधीन बनाई गई विधि द्वारा लगाए

जा सकते हैं। अपने संसदीय कर्तव्यों का पालन करते समय सदस्यों द्वारा कही गई किसी बात या किए गए किसी कार्य को लेकर संसद से बाहर की गई किसी जांच-पड़ताल के बारे में समझा जाएगा कि वह सदस्यों के अधिकारों में गंभीर हस्तक्षेप है। भले ही किसी सदस्य के सभा में दिए गए भाषण से न्यायालय की अवमानना होती हो, पर उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। न्यायालय एक बाह्य प्राधिकरण है, अतः उसे इस मामले की पड़ताल करने का कोई अधिकार नहीं है। अनुच्छेद 122 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संसदीय कार्यवाहियों के बारे में न्यायालय कोई जांच-पड़ताल नहीं कर सकते।

इस प्रकार, भारत के न्यायालयों ने इस बात को मान्यता प्रदान की है कि संसद या राज्य विधानमंडल के किसी सदन को यह निर्णय करने का एकमात्र प्राधिकार है कि किसी प्रकरण विशेष में विशेषाधिकार का हनन हुआ है या नहीं। यह निर्णय भी दिया गया है कि मानहानि के लिए कार्रवाई करने की लोक सभा की शक्ति हाउस आफ कामंस की शक्ति जैसी ही होगी और उस शक्ति के प्रयोग की अन्वीक्षा के लिए कोई भी न्यायालय सक्षम नहीं होगा।

लेकिन बाह्य प्रभाव या हस्तक्षेप से उन्मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि संसद की चारदीवारी के भीतर बोलने की आजादी का कोई निरंकुश लाइसेंस दे दिया गया है। यह याद रखना जरूरी है कि सदनों, सदस्यों तथा उनकी समितियों के विशेषाधिकारों पर संविधान के अन्य उपबंधों का बंधन है और उनके साथ उनका समरस अर्थ लगाया जाना चाहिए। यथा, संसद में वाक-स्वातंत्र्य के विशेषाधिकार पर अनुच्छेद 118 के अधीन संसद के सदनों द्वारा बनाए गए प्रक्रिया संबंधी नियमों का अंकुश होगा। अनुच्छेद 121 ससद मे न्यायाधीशों के आचरण पर चर्चा का निषेध करता है; केवल उन्हें हटाए जाने के प्रस्ताव पर चर्चा हो सकती है। (*एम.एस. शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा,* ए आई आर 1959 एस सी 395)।

1964 के विशेष परामर्श केस (केशव सिंह केस) में अपनी राय देते हुए उच्चतम न्यायालय ने, 1965 में, ये विचार प्रगट किए थे :

> 'सर्चलाइट केस' मे बहुमत के निर्णय का यह अर्थ लगाना उचित नही होगा कि उसके द्वारा यह सामान्य प्रस्थापना निर्धारित कर दी गई है कि जब भी अनुच्छेद 194(3) के उत्तरवर्ती भाग के उपबंधों का टकराव भाग 3 द्वारा प्रत्याभूत मूल अधिकारो के उपबंधों से हो तो उत्तरवर्ती को पूर्ववर्ती के आगे झुकना ही होगा। अतः बहुमत निर्णय का यही अर्थ लगाना होगा कि उसने फैसला कर दिया है कि अनुच्छेद 19(1) (क) लागू नहीं होगा और अनुच्छेद 21 लागू होगा। अनुच्छेद 194 के खंड (3) में निहित उपबंधों के प्रभाव पर विचार करते समय, जब भी यह प्रतीत हो कि उक्त उपबधों तथा मूल अधिकारों संबंधी उपबंधों के बीच

टकराव है तो यह प्रयास करना होगा कि समरस अर्थान्वयन नियम[1] को अपनाकर उक्त टकराव को दूर किया जाए।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने केशव सिंह केस के बारे में दिनांक 10 मार्च, 1965 के अपने निर्णय मे (जो उच्चतम न्यायालय के परामर्श-मत के बाद दिया गया) इस प्रकार कहा है

1 हमारा मत है कि प्राधिकार की दृष्टि से तथा संविधान के सगत उपबंधों के विचार की दृष्टि से यह मानना ही होगा कि अनुच्छेद 194(3) के आधार पर विधान सभा को अपनी मानहानि के लिए कार्रवाई करने की वैसी ही शक्ति प्राप्त है जैसी शक्ति हाउस आफ कामस को प्राप्त है।
2 हमारा मत है कि सविधान के अनुच्छेद 22(2) के उपबध सक्षम प्राधिकारी द्वारा सिद्धदोष तथा कारावास के दडारोपण के अनुसरण में किए गए निरोध पर लागू नही हो सकते।
3. चूंकि हम पहले ही कह चुके है कि विधान सभा को अपनी मानहानि के लिए याचिकादाता के विरुद्ध कार्रवाई करने की शक्ति है और चूंकि अनुच्छेद 208(1) के अधीन विधान सभा ने अपने कार्य-संचालन तथा प्रक्रिया संबंधी नियम बनाए है, अत याचिकादाता के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की वंचना तथा उसके विरुद्ध कार्रवाई के बारे मे यही कहना पड़ेगा कि वह संविधान के अनुच्छेद 21 के अर्थातर्गत विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ही की गई है।
4. एक बार जब हम इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि विधान सभा को इस बारे में शक्ति तथा अधिकारिता है कि वह अपनी मानहानि के लिए कार्रवाई करे और याचिकादाता को सुनाए गए दड को आरोपित करे, हम कार्रवाई की यथातथ्यता, औचित्य अथवा वैधता के बारे में विचार नहीं कर सकते। विधान सभा ने अपनी मानहानि के लिए याचिकादाता के विरुद्ध कार्रवाई करने का जो निर्णय लिया है, उसके विरुद्ध सविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन दायर की गई याचिका की सुनवाई यह न्यायालय नही कर सकता। विधान सभा अपनी प्रक्रिया की सर्वाधिकारी है और इस प्रश्न की एकमात्र निर्णायक है कि उसकी मानहानि हुई है या नहीं।

अतः सरकार ने निश्चय किया कि संविधान का संशोधन जरूरी नहीं है। उसका मत था कि उच्चतम न्यायालय के मत तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए विधानमंडल तथा न्यायपालिका अपनी निजी परिपाटियां बनाएंगी।

---

1. समरस अर्थान्वयन नियम (Rule of Harmonious Construction)

अतः कहा जा सकता है कि जहां तक विशेषाधिकार के मामलों का संबंध है, सर्चलाइट केस के बारे में उच्चतम न्यायालय का निर्णय आज भी अंतिम प्रमाण है।

विशेषाधिकारों का संहिताकरण : अनुच्छेद 105(3) अपेक्षा करता है कि स्वयं संविधान में उल्लिखित विशेषाधिकारों के अलावा अपने अन्य विशेषाधिकारों की व्यवस्था संसद विधि द्वारा समय समय पर कर सकती है। लेकिन प्रत्येक सदन, उसके सदस्यों तथा उसकी समितियों की शक्तियों, विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों की व्याख्या के लिए इस उपबंध के अनुसार संसद ने अभी तक कोई कानून नहीं बनाया है।

जहां तक इस संवैधानिक अपेक्षा का संबध है कि "जब तक ससद विधि द्वारा व्याख्या नहीं करती" तथा संसदीय विशेषाधिकारों की व्याख्या करने या उन्हें संहिताबद्ध करने के प्रश्न का संबंध है, उनके बारे में अलग अलग मत हैं।

राष्ट्रपति की विधायी शक्तियां

अनुच्छेद 123 राष्ट्रपति को शक्ति प्रदान करता है कि यदि ससद के दोनों सदनों का सत्र न चल रहा हो और उसका समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है कि तत्काल कार्रवाई किए जाने की आवश्यकता है तो वह अध्यादेश जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए अध्यादेशों की शक्ति तथा प्रभाव संसद द्वारा बनाए गए कानूनों जैसा ही है। अपवाद केवल इतना है कि ऐसे सभी अध्यादेश ससद के पुनः समवेत होने से छह सप्ताह की अवधि समाप्त होने पर या उससे पूर्व यदि दोनों सदन उनका निरनुमोदन कर दें, निष्क्रिय हो जाते हैं।

यह व्यवस्था दी गई है कि राष्ट्रपति के समाधान की न्यायिक पुनरीक्षा नहीं हो सकती लेकिन इसका अर्थ है कि समाधान मंत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह पर हो (*ए.के. राय बनाम भारत संघ* ए आई आर 1982 एस 710; *कूपर बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1970 एस सी 564; *सतपाल बनाम उपराज्यपाल,* ए आई आर 1979 एस सी 1550; *वेंकट बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1985 एस सी 725; *नागराज बनाम आंध्र प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1985 एस सी 55; *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1977 एस सी 136)।

किसी अध्यादेश को पुनः जारी कर दिया जाए पर तत्स्थानी विधेयक को विधानमडल द्वारा पारित कराए जाने का कोई प्रयास न किया जाए, इसे तथा केवल किसी अध्यादेश को जारी करने के लिए सदन का सत्रावसान कर देने की प्रथा को बिहार के राज्यपाल के केस में (*डी.सी. वधवा बनाम बिहार राज्य,* ए आई आर 1987 एस सी 579 में) संविधान के साथ धोखाधड़ी ठहराया गया है और वही बात राष्ट्रपतीय अध्यादेशों पर भी लागू होनी चाहिए।

अध्यादेश जारी करने की राष्ट्रपति की शक्ति को अनेक बार न्यायालयों में चुनौती दी गई है। यह स्पष्ट है कि जहां अध्यादेशों की सवैधानिक वैधता को मान्यता दी गई है, वहां राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने की शक्ति वैसी ही मर्यादाओं के अधीन है जैसी कि मूल अधिकारो के, सातवीं अनुसूची के अधीन विधायी शक्तियो के वितरण के न्यायिक पुनरीक्षा के अधीन होने के मामले में संसद की विधायी शक्तियो पर लागू होती हैं (*पंजाब राज्य बनाम मोहर सिंह*, ए आई आर 1955 एस सी 84; *उडीसा राज्य बनाम भूपेन्द्र*, ए आई आर 1962 एस सी 945; *नागराज बनाम आंध्र प्रदेश राज्य*, ए आई आर 1985 एस सी 551; *वेकट बनाम आंध्र प्रदेश राज्य*, 1985 एस सी 724, *आर.के. गर्ग बनाम भारत सघ*, 1981 एस सी 2139; *ए.के. राय बनाम भारत सघ*, ए आई आर 1982 एस सी 710)।

दोनों सदनों की तुलनात्मक भूमिका

संसद के दोनो सदनों को सभी क्षेत्रों मे समान शक्ति तथा दर्जा प्राप्त है सिवाय वित्तीय मामलों तथा मंत्रिपरिषद के उत्तरदायित्व के बारे मे, जो केवल लोक सभा के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। तदनुसार राज्य सभा की शक्तियों पर निम्न अकुश लगाए गए है :

1. धन विधेयक राज्य सभा मे पुर:स्थापित नही किया जा सकता।
2. राज्य सभा धन विधेयक को न तो अस्वीकार कर सकती है और न ही उसमे सशोधन कर सकती है। धन विधेयक के बारे मे वह केवल सिफारिशें कर सकती है। यदि ऐसा विधेयक 14 दिन की अवधि के भीतर लोक सभा को नही लौटाया जाता है तो ऐसे विधेयक के बारे मे समझा जाएगा कि उसे उक्त अवधि की समाप्ति के बाद दोनों सदनो ने उस रूप मे पारित कर दिया है जिस रूप मे उसे लोक सभा ने पारित कर दिया था (अनुच्छेद 109)।
3. कोई विधेयक विशेष धन विधेयक है या नही, इसके बारे मे निर्णय लोक सभा का अध्यक्ष करेगा [अनुच्छेद 110(3)]।
4. राज्य सभा 'वार्षिक वित्तीय विवरण' पर चर्चा कर सकती है। वह अनुदान की मागों पर मतदान नही करा सकती।
5. राज्य सभा को मत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित करने की शक्ति नही है [अनुच्छेद 75(3)]।

अनिवार्य है कि हर गैर वित्तीय विधेयक को दोनो सदन अलग अलग पारित करें। तभी वह कानून बन सकता है। कुछ महत्वपूर्ण मामलों के बारे मे राज्य सभा को लोक सभा जैसी ही शक्तियां प्राप्त हैं। वे है राष्ट्रपति पर महाभियोग, उपराष्ट्रपति का हटाया जाना, सवैधानिक संशोधन, तथा उच्चतम न्यायालय एव उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों

का हटाया जाना [अनुच्छेद 56, 61, 67, 124(1) तथा 217(1) (ख)]। अनिवार्य है कि हर राष्ट्रपतीय अध्यादेश, आपात की घोषणा तथा राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत की जाए [अनुच्छेद 123, 352(4) तथा 356(4)]। धन विधेयक तथा संविधान संशोधन विधेयक के अलावा किसी विधेयक पर यदि दोनों सदनों के बीच कोई असहमति हो जाए तो उसका निपटारा दोनों सदन एक संयुक्त बैठक में करेंगे। वहां मामलों का निपटारा बहुमत से किया जाता है। दोनों सभाओं की पूर्वोक्त ऐसी बैठक की अध्यक्षता लोक सभा का अध्यक्ष करता है [अनुच्छेद 108 तथा 118(4)]।

संविधान ने राज्य सभा को कुछ विशेष शक्तियां प्रदान की हैं। केवल राज्य सभा ही यह घोषणा कर सकती है कि ससद के लिए राष्ट्रहित मे यह जरूरी है कि वह राज्य सूची मे शामिल किसी मामले के संबध मे कानून बनाए। यदि दो तिहाई बहुमत से राज्य सभा इस आशय का कोई संकल्प पारित कर देती है तो संसद समूचे भारत या उसके किसी भाग के लिए विधियां बना सकती है (अनुच्छेद 249)। इसके अलावा, यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम-से-कम दो तिहाई सदस्यो द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित कर दिया है कि राष्ट्रीय हित मे ऐसा करना आवश्यक है या समीचीन है तो संसद विधि द्वारा सघ और राज्यों के लिए सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओ के सृजन के लिए उपबध कर सकती है (अनुच्छेद 312)।

संसद तथा कार्यपालिका

जब नयी लोक सभा का विधिवत निर्वाचन तथा गठन हो जाता है तो उसके बाद राष्ट्रपति लोक सभा के आधे से अधिक सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने वाली पार्टी या पार्टियों के नेता को सरकार बनाने के लिए आमत्रित करता है।

जहा प्रधानमंत्री सामान्यतया लोक सभा का सदस्य होता है, वहा मत्री ससद के दोनो सदनो से लिए जाते है। संसद-सदस्य से भिन्न किसी व्यक्ति को भी मत्री नियुक्त किया जा सकता है लेकिन छह मास के बाद उसे पद छोड़ना होगा, यदि वह इस बीच दोनो में से किसी सदन का सदस्य चुने जाने का प्रबध नहीं कर लेता। चूंकि मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है (अनुच्छेद 75), अतः मंत्रियों का यह संवैधानिक दायित्व होता है कि जैसे ही वे लोक सभा का विश्वास गंवा दें, वैसे ही सामूहिक रूप से इस्तीफा दे दें।

हमारे संविधान की योजना कार्यपालिका तथा विधायिका के सर्वोच्च प्राधिकारों का यथार्थ समन्वय दर्शाती है। कार्यपालिका तथा विधायिका का संबंध अति प्रगाढ़ तथा आदर्श स्वरूप है। वह किसी वैर-विरोध या द्विभाजन की अनुमति नहीं देता। कार्यपालिका और

विधायिका सत्ता की होड़ के केंद्र नहीं माने गए हैं बल्कि वे तो सरकार के कार्य में अभिन्न भागीदार या सहभागी माने गए हैं। संसद एक विशाल निकाय है। वह स्वयं न तो शासन करती है और न कर ही सकती है। मंत्रिपरिषद को एक प्रकार से संसद की ऐसी विराट कार्यपालिका समिति कहा जा सकता है जिसे मूल निकाय की ओर से प्रशासन का प्रभार सौंपा गया हो। या, यूं ही कहें कि कार्यपालिका कोई अलग या बाहरी निकाय नहीं है। चूंकि मंत्रिपरिषद के सदस्य ससद से लिए जाते हैं और वह संसद का अंग होती है और लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होती है, अतः उनके रिश्ते के बारे में कहा जा सकता है कि वह तो वैसा ही रिश्ता है जैसा अंश का पूर्ण से होता है। वह परस्पर निर्भरता का रिश्ता है। लेकिन कार्यपालिका तथा ससद के कृत्यों के बीच स्पष्ट विभेद है (अनुच्छेद 75)। संसद विधान बनाती है, सलाह देती है, आलोचना करती है तथा जनता की शिकायतों को मुखर करती है। भले ही संसद की ओर से हो, कार्यपालिका शासन करती है।

जहां कार्यपालिका को इस बारे मे लगभग असीम अधिकार है कि वह संसद के समक्ष विधायी तथा वित्तीय प्रस्तावों का शुभारभ तथा प्रारूपण करे और अनुमोदित नीतियों को बिना किसी संसदीय अवरोध तथा विरोध के कार्य रूप दे, वहा ससद को भी इस बारे में असीम शक्ति है कि वह सूचना की मांग करे, चर्चा करे, छानबीन करे तथा कार्यपालिका के प्रस्तावो पर लोकानुमोदन का ठप्पा लगाए। कार्यपालिका ससद के प्रति उत्तरदायी होती है और प्रशासन जवाबदेह रहता है। संसद का कार्य है कि कार्यपालिका पर राजनीतिक तथा वित्तीय नियंत्रण रखे और प्रशासन की संसदीय निगरानी करे।

संसद तथा न्यायपालिका

ससद को अधिकार है कि वह न्यायालयों के गठन, सगठन, अधिकारिता तथा शक्तियों के विनियमन के बारे में विधियां बना सके। संविधान में उपबध है कि मुख्य न्यायाधीश के अलावा न्यायाधीशो की सख्या सात से अधिक नहीं होगी। लेकिन हमारे संविधान (अनुच्छेद 124) के अधीन संसद विधि द्वारा :

1. किसी सघ-राज्य क्षेत्र पर से उच्च न्यायालय की अधिकारिता का विस्तार या उसका निस्तार कर सकती है;
2. दो या उससे अधिक राज्यों के लिए या दो या अधिक राज्यों तथा किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए साझे उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती है; और
3. किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर सकती है या ऐसे राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय को संविधान के सभी या किन्हीं प्रयोजनों के लिए उच्च न्यायालय घोषित कर सकती है (अनुच्छेद 241)।

उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर युक्त लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है। उसे उसके पद से राष्ट्रपति तभी हटा सकता है जब विशेष बहुमत से (यानी प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत से) संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित समावेदन उसके सामने प्रस्तुत किया जाए [अनुच्छेद 124(4) तथा 218]। संसद को अधिकार नहीं है कि वह उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के कर्तव्यपालन संबंधी उसके आचरण के बारे में चर्चा कर सके सिवाय उस स्थिति के जब किसी न्यायाधीश को हटाए जाने की प्रार्थना करने वाला कोई समावेदन राष्ट्रपति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए (अनुच्छेद 121)।

ससद विधि द्वारा उपबध कर सकती है कि सघ के लिए प्रशासनिक अधिकरण की और हर राज्य या दो या दो से अधिक राज्यों के लिए अलग से प्रशासनिक अधिकरण की स्थापना की जाए। इस उपबंध के अधीन बनाई गई विधि अधिकरणों की अधिकारिता तथा शक्तियों का विनिर्देश कर सकती है। ऐसी विधि कतिपय विनिर्दिष्ट मामलों के बारे में, अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता के सिवाय, सभी न्यायालयों की अधिकारिता का अपवर्जन कर सकती है (अनुच्छेद 323 क तथा 323 ख)। इसके अलावा, संविधान के अधीन संसद एक अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का सृजन कर सकती है। उसमें जिला न्यायाधीश से अवर पद का कोई पद नहीं होगा [अनुच्छेद 312(1) तथा (3)]।

संसद की दोनो सभाओं की किसी कार्यवाही की वैधता को किसी न्यायालय के समक्ष प्रक्रिया की किसी कथित अनियमितता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती [अनुच्छेद 122(1) तथा 212(1)]। प्रत्येक सदन का पीठासीन अधिकारी या कोई अधिकारी या संसद-सदस्य जिनमें अस्थायी रूप मे प्रक्रिया या कार्य-संचालन को विनियमित करने की तथा संसद के किसी सदन के निर्णय को लागू करने की शक्तियां निहित हों, इन शक्तियों के प्रयोग के विषय में किसी न्यायालय की अधिकारिता के अधीन नहीं होगा। [अनुच्छेद 122(2) तथा 105(3)]।

किसी विधि की संवैधानिक वैधता को भारत में इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि विधान की विषयवस्तु :

1. उस विधानमंडल की सक्षमता में नहीं है जिसने उसे पारित किया है;
2. संविधान के प्रावधानों के प्रतिकूल है; अथवा
3. किसी मूल अधिकार का उल्लंघन करती है।

उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। वह तब तक देश की विधि बना रहता है जब तक कि उसके निर्वचन की पुनरीक्षा या उसमें परिवर्तन स्वयं उच्चतम न्यायालय नहीं कर देता या संसद विधि या संविधान में समुचित संशोधन नहीं कर देती। यदि ससद के किसी अधिनियम को न्यायपालिका रद्द कर देती है तो संसद उसे रद्द किए जाने के कारणों को दूर करके उसे पुनः अधिनियमित कर सकती है। साथ ही, संसद अपनी संविधायी शक्तियों की सीमाओं के भीतर संविधान में इस प्रकार संशोधन कर सकती है कि विधि संविधान के विरुद्ध न रहे।

अतः भारतीय संसद ब्रिटिश संसद जैसी सर्वोच्च नहीं है। ब्रिटिश संसद विधान की किसी न्यायिक पुनरीक्षा की अनुमति नहीं देती। साथ ही, भारत की न्यायपालिका उतनी सर्वोच्च नहीं है जितनी कि अमरीका की न्यायपालिका है। अमरीकी न्यायपालिका न्यायिक पुनरीक्षा के क्षेत्र पर वस्तुतया कोई सीमा स्वीकार नहीं करती।

ससद की प्रभुता के मामले में उच्चतम न्यायालय ने भी विभिन्न दृष्टिकोण व्यक्त किए हैं [देखिए *ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य,* 1950, एस सी आर 88; *दिल्ली विधियों से संबंधित मामला* (1951) एस सी आर 747; *शकरी प्रसाद बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1951 एस सी 458]। लेकिन गोपालन केस में यह निर्णय दिया गया है कि अपनी शक्तियों की विनिर्दिष्ट सीमाओं के भीतर ससद सर्वोच्च है।

संसद के कृत्य

विधान : परंपरा से तो विधायिका का मुख्य कार्य विधान बनाना है। अनुच्छेद 245-246 के अधीन सातवीं अनुसूची के अनुसार संघ तथा राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के विभाजन के अधीन परिभाषित तथा परिसीमित रूप में अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर संसद संपूर्ण भारत अथवा उसके किसी एक भाग के लिए विधिया बना सकती है। संघ सूची के संबंध मे विधान केवल संसद ही बना सकती है। समवर्ती सूची[1] की प्रविष्टियों के बारे में संघ तथा राज्यों, दोनों को समवर्ती शक्ति प्राप्त है। यदि सघ तथा राज्य की विधियों के बीच कोई टकराव हो तो संघ की विधियां अभिभावी होंगी (अनुच्छेद 254)। अवशिष्ट शक्तियां भी ससद में निहित हैं [अनुच्छेद 248 तथा संघ सूची की प्रविष्टि (97)]। अनेक अनुच्छेदों में संसद को अधिकार दिया गया है कि विभिन्न मामलों में वह ऐसी शक्तियों का सहारा लेकर विधिया बना सकती है यथा, 'ससद द्वारा विधि द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय', 'संसद विधि द्वारा—सकती है', 'जब तक संसद विधि द्वारा विहित नहीं करती', आदि। ससद विधि द्वारा राज्यों के नाम, सीमाएं, क्षेत्र आदि में परिवर्तन कर सकती है (अनुच्छेद 2, 3 और 4) नये राज्यों की स्थापना कर सकती है, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों

1. समवर्ती सूची (Concurrent List)

की संख्या में वृद्धि कर सकती है, अतिरिक्त न्यायालयों की स्थापना कर सकती है (अनुच्छेद 124, 247)। अनुच्छेद 249 के अधीन ससद राज्य-सूची के मामलो के बारे में भी विधान बना सकती है। अनुच्छेद 253 के अधीन वह किसी अन्य देश के साथ हुई संधि अथवा समझौते को लागू करने के बारे मे विधान बना सकती है, भले ही मामला राज्य सूची का हो। राष्ट्रपति-शासन की (अनुच्छेद 356) अथवा आपात की घोषणा की दशा मे भी (अनुच्छेद 352) संसद राज्य के अंतर्गत आने वाले विषयों में विधान बना सकती है।
संविधायी शक्तियां : अनुच्छेद 368 के अधीन, विभिन्न श्रेणियो के संशोधनों के लिए निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ससद संविधायी शक्तियों का प्रयोग करती है। जहा संसद विशेष बहुमत द्वारा अनेकानेक अनुच्छेदों में स्वयं संशोधन कर सकती है, वहां कतिपय मामलों में राज्यों की सहमति अपेक्षित है (देखिए 'संविधान सशोधन' के अधीन)।
सरकार पर संसदीय नियंत्रण : ससदीय शासन प्रणाली में तथा हमारी संवैधानिक योजना के अधीन संसद को कार्यपालिका या मंत्रियों के उत्तरदायित्व, वित्तीय नियंत्रण तथा प्रशासनिक जवाबदारी को सुनिश्चित करना होता है।

संसद के प्रति कार्यपालिका या मंत्रियों का उत्तरदायित्व या जिसे प्रायः कार्यपालिका अथवा सरकार पर संसदीय नियंत्रण कहा जाता है, दो बातों पर निर्भर होता है। वे हैं संसद के जन-निर्वाचित सदन के प्रति मंत्रिपरिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के बारे मे संवैधानिक उपबंध तथा (2) बजट पर ससदीय नियंत्रण (अनुच्छेद 75, 114-116 तथा 265)।

कार्यपालिका पर ससद के नियंत्रण का स्वरूप राजनीतिक है। कार्यपालिका की जवाबदारी सीधी, सतत, समवर्ती तथा दिन-प्रतिदिन की है। जब ससद की बैठक चल रही हो तो सरकार के सत्ता में बने रहने का आधार यह है कि वह हर पल हर घड़ी लोक सभा के विश्वास को बनाए रखे। लोक सभा किसी भी समय बहुमत से सरकार को पदच्युत करने का फैसला कर सकती है। यानी यदि सत्तारूढ़ दल लोक सभा के सदस्यों का बहुमत गंवा देता है तो उसकी सरकार गिर जाती है। तब किसी आधार, तर्क, प्रमाण या औचित्य की आवश्यकता नहीं है। जब लोक सभा स्पष्ट तथा निर्णायक रूप से यह घोषणा कर देती है कि तत्कालीन सरकार को उसका समर्थन प्राप्त नहीं है तो सरकार को इस्तीफा देना ही पड़ेगा। सरकार के प्रति संसद के अविश्वास को लोक सभा इस प्रकार व्यक्त कर सकती है। इसके लिए वह (क) मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास के मूल प्रस्ताव को पारित कर सकती है, (ख) नीति विषयक बड़े मुद्दे पर सरकार को पराजित कर सकती है, (ग) स्थगन प्रस्ताव को पारित कर सकती है, अथवा (घ) पूर्तियों पर मतदान से इंकार कर सकती है या वित्त विधेयक पर सरकार को गिरा सकती है।
लोक वित्त पर संसदीय नियंत्रण : करारोपण अथवा करों में संशोधन तथा पूर्तियों एवं अनुदानों पर मतदान करना कार्यपालिका पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंकुश है ताकि वह

मनमानी शक्तिया ग्रहण न कर सके। विधि द्वारा विशिष्ट संसदीय प्राधिकरण के बिना कानूनी तौर पर न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही कोई व्यय सरकारी खजाने से किया जा सकता है (अनुच्छेद 114-116 तथा 265)।

वस्तुस्थिति यह है कि सिवाय इसके कि सैद्धांतिक दृष्टि से संसद का बजट पर नियंत्रण है या उसे अविश्वास प्रस्ताव पारित करने की निर्णायक शक्ति प्राप्त है, 'संसदों की जननी' में भी अब सरकार पर संसद का नियंत्रण नही रहा है। वस्तुतया सरकार ही लोक सभा मे अपने बहुमत के द्वारा ससद पर नियत्रण करती है। उसे अधिकार है कि वह सभा का विघटन करा दे और राष्ट्रपति से नये चुनाव कराए जाने का आदेश जारी करवा दे।

प्रशासनिक जवाबदारी को सुनिश्चित करने के अनेक माध्यम हैं, यथा, प्रश्नों जैसी ससदीय युक्तियां, विभिन्न प्रस्तावों पर चर्चा, समिति द्वारा छानबीन, और मत्री जो वास्तव मे ससद का प्रतिनिधि है और ससद की ओर से अपने विभाग का नियंत्रण करता है।

अन्य कृत्य : इसके अलावा, ससद विविध प्रकार के कृत्य करती है यथा, राष्ट्रपति के महाभियोग का मामला, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों, नियत्रक महालेखापरीक्षक, मुख्य निर्वाचन-आयुक्त, दोनो सदनों के पीठासीन अधिकारियों आदि को हटाए जाने का मामला (अनुच्छेद 61, 124, 217, 148, 320 तथा 90; और देखिए सबद्ध अध्याय। आगे अध्ययन के लिए देखिए सुभाष काश्यप, *हमारी संसद*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली)।

दलबदल विरोधी कानून : संविधान (52वा सशोधन) अधिनियम, 1985 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 101, 102, 190 और 191 मे सशोधन कर दिया गया है जिनका सबंध सीटो की रिक्ति से तथा ससद एव राज्य विधानमडलो की सदस्यता के लिए अयोग्य होने से है। उसके द्वारा एक नयी अनुसूची (दसवी अनुसूची) सविधान मे जोड़ी गई है। उसमे दलबदल के आधार पर अयोग्यता के बारे मे कुछ उपबध किए गए है। दसवी अनुसूची, और बातो के साथ साथ, उपबध करती है कि

1. ससद अथवा राज्य विधानमडल के किसी निर्वाचित सदस्य को, जिसे किसी राजनीतिक पार्टी द्वारा खड़े किए गए उम्मीदवार के रूप मे चुना गया है, और ससद अथवा राज्य विधानमंडल के किसी नामजद सदस्य को, जो अपनी सीट को ग्रहण करते समय किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य है, दलबदल के आधार पर अयोग्य ठहरा दिया जाएगा यदि वह स्वेच्छा से ऐसी राजनीतिक पार्टी की अपनी सदस्यता को त्याग देता है और ऐसी पार्टी के निर्देश का उल्लघन करके सदन में मत देता है या मतदान में भाग नही लेता;
2. संसद अथवा राज्य विधानमंडल के ऐसे निर्दलीय सदस्य को अयोग्य ठहरा दिया जाएगा यदि अपने चुनाव के बाद वह किसी राजनीतिक पार्टी में शामिल हो जाता है;

3. संसद अथवा राज्य विधानमंडल के ऐसे नामजद सदस्य को, जो अपनी नामजदगी के समय किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य नही है और जो अपना स्थान ग्रहण करने की तिथि से 6 मास की समाप्ति से पूर्व किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य नहीं बन गया है, अयोग्य ठहरा दिया जाएगा यदि वह 6 मास की उक्त अवधि की समाप्ति के बाद किसी राजनीतिक पार्टी में शामिल हो जाता है;
4. कोई अयोग्यता नहीं होगी जहा सदस्य यह दावा करता है कि वह किसी पार्टी के विभाजन या एक पार्टी के दूसरी पार्टी में विलयन से उत्पन्न धड़े का प्रतिनिधित्व करने वाले समूह का है, परंतु शर्त यह है कि विभाजन की दशा में समूह में विधानमंडल पार्टी के एक तिहाई से कम सदस्य न हों और विलयन की दशा में सबद्ध विधानमंडल पार्टी के दो तिहाई से कम सदस्य न हों;
5. ऐसे व्यक्ति को अयोग्य नहीं ठहराया जाएगा जिसने लोक सभा के या राज्य विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष पद के लिए या राज्य सभा के उपसभापति पद के लिए या राज्यविधान परिषद के सभापति अथवा उपसभापति पद के लिए चुन लिए जाने पर अपनी राजनीतिक पार्टी से नाता तोड़ लिया है;
6 इस प्रश्न का कि क्या संसद के किसी सदन या राज्य विधानमंडल का कोई सदस्य अयोग्यता का पात्र हो गया है, निपटारा संबद्ध सदन का सभापति अथवा अध्यक्ष करेगा; जहा प्रश्न का सबध स्वय सभापति या अध्यक्ष से हो, वहा उसका निपटारा संबद्ध सदन का वह सदस्य करेगा जिसे सदन ने इस काम के लिए चुना हो;
7. सदन के सभापति अथवा अध्यक्ष को अधिकार दिया गया है कि वह इस अनुसूची के उपबंधों को प्रभावी बनाने के लिए नियम बनाए। नियमो के बारे में अपेक्षा की गई है कि वे सदन के समक्ष रखे जाए और सदन उनमें उपांतरण या उनका निरनुमोदन कर सकता है;
8. अनुसूची के अधीन सदन के किसी सदस्य की अयोग्यता से संबंधित किसी प्रश्न के बारे में सभी कार्यवाहियों को संसद में अनुच्छेद 122 के अर्थांतर्गत की गई कार्यवाहियां तथा राज्य विधानमंडल में अनुच्छेद 212 के अर्थांतर्गत की गई कार्यवाहियां समझा जाएगा, जैसी भी स्थिति हो; और
9. संविधान में किसी बात के होते हुए भी, सदन के किसी सदस्य की अयोग्यता से संबंधित किसी मामले में किसी भी न्यायालय की कोई अधिकारिता नहीं होगी।

संविधान (52वां संशोधन) अधिनियम, 1985 जिसे आमतौर पर दलबदल-विरोधी कानून कहा जाता है, प्रारभ से ही विवाद का विषय बना रहा है। उसे ऐसे अनेक आधारों पर चुनौती दी गई है कि वह संविधान के मूल सांचे-ढांचे का उल्लंघन करता है, वह संसद

की सक्षमता से परे है और वह समीचीनता को ऊंचा तथा सिद्धांतों को नीचा बनाता है।

दसवीं अनुसूची के पैरा 7 को, जो न्यायालयों की अधिकारिता पर रोक लगाता है, पजाब तथा हरियाणा के उच्च न्यायालय ने रद्द करते हुए कहा कि वह संविधान के अधिकार से बाहर है। इस आदेश के विरुद्ध सरकार ने उच्चतम न्यायालय में एक अपील दायर की। 1985 के अधिनियम की वैधता तथा संवैधानिकता को चुनौती देने वाली अनेक रिट याचिकाएं भी उच्चतम न्यायालय तथा विभिन्न उच्च न्यायालयो में दायर की गई थीं। सरकार के अनुरोध पर उच्चतम न्यायालय ने विभिन्न उच्च न्यायालयों के सामने लंबित रिट याचिकाओं को वहां से हटाकर स्वयं अपने यहां स्थानांतरित कर लिया।

उच्चतम न्यायालय ने (*किहोतो होल्लोहान बनाम जाचिलिहू तथ अन्य,* एस सी 1991 के सी डब्ल्यू पी 17 में) पाया कि दलबदल-विरोधी कानून के पारण में कुछ कानूनी खामियां है क्योंकि संविधान संशोधन को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए प्रस्तुत किए जाने से पूर्व उसकी पुष्टि अपेक्षित संख्या में राज्य विधान सभाओं ने नहीं की। साथ ही, 10वीं अनुसूची के अधीन अध्यक्ष के कृत्यों के बारे मे जरूरी है कि मामलों का विधि के अधीन न्यायिक निरीक्षण किया जाए। अयोग्यता के प्रश्न के निर्धारण की प्रक्रिया को सदन की कार्यवाहियों का अग नही माना जा सकता। अतः उसे न्यायिक पुनरीक्षण से मुक्त नहीं माना जा सकता। उच्चतम न्यायालय ने न्यायालयो की अधिकारिता पर रोक लगाने वाली अनुसूची के पैरा 7 को रद्द कर दिया और घोषणा की कि दलबदल-विरोधी कानून के अधीन कार्य करते ममय अध्यक्ष की स्थिति न्यायाधिकरण[1] जैसी होगी। अत. सभी न्यायाधिकरणो के निर्णयों की भांति उसके निर्णय की भी न्यायिक पुनरीक्षा की जा सकती है।

दलबदल को गैर कानूनी ठहराने के लिए 52वे संशोधन का प्रारूप जिन लोगों ने तैयार किया, लगता है कि उन्होने बाद में उत्पन्न हुई कुछ स्थितियों के बारे में पूर्वानुमान नहीं लगाया था। यह तथ्य है कि दसवीं अनुसूची के कतिपय प्रावधानो के बारे मे पाया गया कि विभिन्न पीठासीन अधिकारी उनका नितांत भिन्न निर्वचन कर सकते है। इस कारण कानून को लागू करने मे भयकर अनिश्चितता तथा अस्थिरता पैदा हो गई। उससे अनेक खामियां उजागर हुईं। संघीय स्तर पर दो सरकारें यानी श्री वी.पी सिंह तथा श्री चन्द्रशेखर की सरकारें जल्दी जल्दी गिर गई। भले ही श्री चन्द्रशेखर ने जनता दल (समाजवादी) सरकार का गठन किया और मूल प्रस्ताव पर लोक सभा का विश्वास प्राप्त किया, पर सत्तारूढ़ जनता दल (समाजवादी) के सभी सदस्य या तो वे थे जिन्हें अध्यक्ष रवि राय ने 'असंबद्ध' घोषित कर दिया था अथवा वे थे जिनके विरुद्ध अध्यक्ष राय ने दलबदल-विरोधी कानून के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए 'कारण बताओ' नोटिस जारी कर दिए थे। अध्यक्ष की कार्रवाई की परिधि में श्री चन्द्रशेखर की अध्यक्षता

1. न्यायाधिकरण (Tribunal)

वाली मंत्रिपरिषद के सभी सदस्य आ गए थे। मामला घिसटता रहा। अंततः 11 जनवरी, 1991 को राय ने संदेह का लाभ सत्तारूढ़ दल को देने का निश्चय किया और कहा कि विभाजन एक विगत प्रक्रिया थी जो 5 नवंबर को शुरू हुई और समाप्त हो गई। जनता दल (समाजवादी) को 54 सदस्यों वाली राजनीतिक पार्टी के रूप में मान्यता दी गई। जो सात सदस्य विभाजन की तिथि के बाद शामिल हुए, उन्हें अयोग्य ठहरा दिया गया।

7 अगस्त, 1992 को जनता दल-विभाजन के दूसरे मामले में जनता दल के 59 सदस्यो में से 20 सदस्य एक साथ एक समूह में सशरीर अध्यक्ष पाटिल के सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने दावा किया कि उनका एक अलग समूह है और उन्हें श्री वी.पी. सिंह के नेतृत्व वाले जनता दल के सदस्यों से अलग स्थान दिया जाए। भले ही जनता दल के नेतृत्व ने दो अलग अलग बारियों में इनमें से आठ सदस्यों को पहले ही पार्टी से निकाल दिया था, फिर भी अध्यक्ष ने सदन मे उनके लिए अलग सीटें आवंटित की। उन्हे लोक सभा के सभी अधिकृत रिकार्डो मे जनता दल के 59 सदस्यों के रूप मे दिखाया जाता रहा। 1 जून, 1993 को अपने अतिम निर्णय में अध्यक्ष पाटिल ने व्यवस्था दी कि (i) संविधान के अधीन राजनीतिक पार्टियो को इस बात का कोई अधिकार नही है कि वे विधानमंडल पार्टी से सदस्यों को निकाल दें और पार्टी विशेष के टिकट पर चुने गए सदस्यो के रूप में उनके सवैधानिक दर्जे को छीन ले [दसवीं अनुसूची, पैरा 2(1) का स्पष्टीकरण (क) और (ii)] 20 सदस्य 7 अगस्त, 1992 को किसी अयोग्यता से ग्रस्त नहीं थे और चूंकि उस दिन उनकी एक तिहाई की अपेक्षित सख्या थी, अतः उनका जनता दल ससदीय पार्टी का वैध धडा था। बीस सदस्यों में से चार को अध्यक्ष ने इस आधार पर अयोग्य ठहराया कि उन्होंने अपनी पार्टी के सचेतक की आज्ञा का उल्लघन किया था। लेकिन अयोग्यता का, आदेश की तिथि से केवल भविष्यलक्षी प्रभाव होना था। सबसे महत्व की बात यह है कि अध्यक्ष ने इस बारे में सहमति प्रकट की कि दलबदल-विरोधी कानून मे खामिया हैं और उनका पुनरीक्षण तथा उनमें सुधार होना चाहिए। उन्होंने सुझाव दिया कि बेहतर होगा कि दसवीं अनुसूची के अधीन सदस्यों की अयोग्यता के निर्धारण का कार्य न्यायाधीशों को सौंप दिया जाए।

सभी पक्ष इस बारे मे सहमत हैं कि दलबदल-विरोधी कानन वाली संविधान की दसवी अनुसूची में अनेक गंभीर खामियां हैं। उनके कारण हमारी रा.ज्य व्यवस्था को भारी क्षति पहुंची है और उसमें तत्काल संशोधन की आवश्यकता है। यथा, 'राजनीतिक पार्टियां', 'विभाजन' 'विलय' आदि अनेक शब्दों की परिभाषा नहीं की गई है।

दसवीं अनुसूची में 'विधानमंडल पार्टी' तथा 'मूल राजनीतिक पार्टी' की परिभाषा दोनो ही दशाओं में 'राजनीतिक पार्टी' के संदर्भ में की गई है, लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि 'राजनीतिक पार्टी' की परिभाषा नहीं की गई है। यह जरूरी है कि 'राजनीतिक पार्टी'

की परिभाषा की जाए और दलबदल-विरोधी कानून के प्रयोजनों के लिए उसकी मान्यता की शर्तें निर्धारित की जाएं। दसवीं अनुसूची के पैरा 3 के सवैधानिक उपबंध की दृष्टि से यह विशेष रूप से आवश्यक है। उसका आशय है कि विभाजन के बाद अलग हुए धड़े को पैरा 2(1) के प्रयोजनों के लिए 'राजनीतिक पार्टी' समझा जाएगा (इस विषय पर भाष्य के लिए देखिए, सुभाष सी. काश्यप, *एंटीडिफेक्शन ला एंड पार्लियामेंटरी प्रिविलेजेज़,* त्रिपाठी, बंबई, 1993, 1995 का परिशिष्ट सहित पुनर्मुद्रण)।

13

न्यायपालिका

अनुच्छेद 124-147 तथा 214-237

भारत की न्यायपालिका सबंधी उपबंध 'सघ की न्यायपालिका' शीर्षक वाले अध्याय 4 के अधीन भाग 5 मे हैं और 'राज्यों के उच्च न्यायालय' तथा 'अधीनस्थ न्यायालय' शीर्षक वाले क्रमशः अध्याय 5 तथा 6 के अधीन राज्यों सबधी भाग 6 में है। लेकिन बात यह है कि अमरीकी जैसी अन्य सघात्मक प्रणालियों की भांति हमारे यहां संघ तथा राज्य के न्यायालयो के अलग अलग अधिक्रम नही हैं। भारत के समूचे गणराज्य के लिए एक एकीकृत न्यायिक प्रणाली है। न्यायालयो का एक अधिक्रम है। सर्वोच्च तथा चोटी के न्यायालय के रूप में उच्चतम न्यायालय है। वह सघ तथा राज्यों के बीच के तथा राज्यों के आपसी संबंधों के मामलो के निपटारे के लिए एकमात्र मध्यस्थ है।

उच्चतम न्यायालय

न्यायालय का गठन तथा न्यायाधीश के पद की शर्तें : अनुच्छेद 124 का उपबंध है कि भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा। उसमे एक मुख्य न्यायमूर्ति तथा सात अन्य न्यायाधीश होंगे। लेकिन संसद को अधिकार है कि वह विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या मे वृद्धि कर सकती है। 1986 से विधि द्वारा निश्चित संख्या मुख्य न्यायमूर्ति के अलावा 25 कर दी गई थी। राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के और राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श करने के बाद, जिनसे वह परामर्श करना उचित समझे, उच्चतम न्यायालयों के सभी न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा। लेकिन मुख्य न्यायमूर्ति के अलावा किसी न्यायाधीश की नियुक्ति क मामले में, भारत मे मुख्य न्यायमूर्ति से सदैव परामर्श किया जाएगा। उच्चतम न्यायालय के पहले निर्णयों के अनुसार यह अनिवार्य था कि परामर्श प्रभावी हो और उसमे विचारो का आदान-प्रदान हो और गुणो पर विचार हो, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि सहमति हो ही। न्यायमूर्ति भगवती का स्थिति में सुधार के लिए सुझाव था कि मुख्य न्यायमूर्ति के नाम का सुझाव देने के लिए एक पैनेल बनाई जाए (*एस.पी.*

गुप्ता बनाम भारत संघ, ए आई आर 1982 एस सी 149)। किंतु, 16 अक्तूबर, 1993 को उच्चतम न्यायालय द्वारा *एडवोकेट्स-ऑन-रिकार्ड एसोशिएशन तथा अन्य बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1994 एस सी 268) में दिए गए निर्णय से विधि में वर्तमान स्थिति बदल गई है। इस निर्णय में कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति का परामर्श निर्णायक और प्रायः पूर्णतया मान्य होगा। मुख्य न्यायमूर्ति अपना परामर्श देने से पहले उच्चतम न्यायालय के दो वरिष्ठतम न्यायाधीशो की राय लेगे तथा मंत्रिमडल राष्ट्रपति को अनुच्छेद 74 के अंतर्गत अपनी सलाह देते समय मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श की प्रमुखता को ध्यान मे रखेगा।

उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने के लिए आवश्यक है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो और वह कम-से-कम पांच वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश रहा हो या दस वर्ष तक किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो या विख्यात विधिवेत्ता हो।

मुख्य न्यायमूर्ति के आसन पर सामान्यतया उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता है। लेकिन 1970 के दशक में कुछ काल के लिए इस परिपाटी की उपेक्षा की गई थी और कुछ मुख्य न्यायमूर्तियों की नियुक्ति उनके अधिक वरिष्ठ साथियों का अधिक्रमण करके की गई थी। वरिष्ठता के सिद्धांत को शीघ्र ही पुनः प्रतिष्ठा प्रदान की गई।

उच्चतम न्यायालय का हर न्यायाधीश तब तक पद पर बना रहता है जब तक वह पैसठ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं कर लेता। उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसके पद से राष्ट्रपति के आदेश से तभी हटाया जा सकता है जब 'कदाचार या असमर्थता के आधार पर' उसे हटाए जाने के लिए ससद के प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन को राष्ट्रपति के समक्ष उसी सत्र मे रख दिया जाए। प्रक्रिया को संसद विधि द्वारा विनियमित कर सकती है (अनुच्छेद 124)। न्यायमूर्ति रामास्वामी के केस में उन्हें हटाए जाने के लिए राष्ट्रपति को समावेदन प्रस्तुत करने के प्रस्ताव को लोक सभा मे अपेक्षित बहुमत नहीं मिल सका।

आम धारणा के विपरीत, किसी न्यायाधीश पर 'महाभियोग' चलाए जाने के लिए हमारे संविधान में कोई उपबंध नहीं है। महाभियोग का उपबंध केवल राष्ट्रपति के लिए है, अन्य किसी के लिए नहीं। इसके अलावा, हटाए जाने की प्रक्रिया तथा महाभियोग की प्रक्रिया के बीच और महाभियोग के प्रस्ताव की स्वीकृति के प्रभाव एवं किसी न्यायाधीश को हटाने के लिए राष्ट्रपति का आदेश प्राप्त करने के वास्ते उसे समावेदन प्रस्तुत करने के प्रस्ताव के पारण के बीच बुनियादी अंतर है। महाभियोग की दशा में जैसे ही दोनों सदन

प्रस्ताव को पारित कर देते हैं, वैसे ही राष्ट्रपति राष्ट्रपति नहीं रहता। लेकिन किसी न्यायाधीश के पद से हटाए जाने के प्रस्ताव के दोनों सदनों के पास हो जाने के बाद, राष्ट्रपति आवश्यक आदेश जारी करने के बारे में विचार करता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति या उसके द्वारा इस निमित्त नियुक्त व्यक्ति के समक्ष संविधान में विहित रीति से शपथ लेनी होती है। संविधान में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण किया है, वह भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय के समक्ष कानून की प्रैक्टिस नहीं करेगा [अनुच्छेद 124 (6) तथा (7)]।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को ऐसे वेतन दिए जाएगे जिन्हें संसद विधि द्वारा विनिश्चित करे और जब तक ऐसा विनिश्चय नही किया जाता, दूसरी सूची में विनिर्दिष्ट वेतन दिए जाएंगे (अनुच्छेद 125)। इस समय मुख्य न्यायमूर्ति को 10,000 रुपये प्रति मास तथा अन्य सभी न्यायाधीशो को 9,000 रुपये प्रति मास वेतन के रूप में मिलते हैं। उसमे किराए से मुक्त आवास, देश के भीतर यात्रा, यात्रा-व्यय, पेशन आदि भत्ते, सुविधाएं तथा विशेषाधिकार शामिल नहीं है।

जब भारत के मुख्य न्यायमूर्ति का पद रिक्त हो या जब अनुपस्थिति के कारण मुख्य न्यायमूर्ति अपने पद के कर्तव्यो का पालन करने मे असमर्थ हो तो राष्ट्रपति न्यायालय के अन्य न्यायाधीशो में से एक कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्त करेगा और वह मुख्य न्यायमूर्ति के कर्तव्यों का पालन करेगा (अनुच्छेद 126)।

यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय के सत्र को आयोजित करने या चालू रखने के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्ति उपलब्ध न हो तो भारत के मुख्य न्यायमूर्ति को अधिकार है वह किसी उच्च न्यायालय के ऐसे न्यायाधीशों में से जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के रूप मे नियुक्त किए जाने की योग्यता रखते हो, उच्चतम न्यायालय में तदर्थ न्यायाधीशो की नियुक्ति उतनी अवधि के लिए कर सकता है जितनी वह आवश्यक समझे। ऐसा वह राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से तथा सबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के पश्चात ही कर सकता है। इस प्रकार नियुक्त न्यायाधीश का कर्तव्य होगा कि वह उच्चतम न्यायालय के कर्तव्यों को प्राथमिकता दे। भारत का मुख्य न्यायमूर्ति उच्चतम न्यायालय के किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को या उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश होने की योग्यता रखने वाले उच्च न्यायालय के किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश को उतनी अवधि के लिए जितनी वह आवश्यक समझे, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण करने तथा कार्य करने के लिए आमंत्रित कर सकता है। इसे भी राष्ट्रपति की तथा इस प्रकार नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की सहमति से किया जा सकता है (अनुच्छेद 127 तथा 128)।

उच्चतम न्यायालय की शक्ति तथा अधिकारिता : अनुच्छेद 129 में कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय[1] होगा और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियां प्राप्त होंगी। यह न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है। अतः उसकी कार्यवाहियों, कार्यों तथा निर्णयो के अभिलेख रखे जाते हैं ताकि कानून क्या है, इसके समर्थन में जरूरत पड़ने पर उन्हें साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सके और उनका अक्षय स्मृति भंडार बना रहे। अभिलेख न्यायालय होने का अर्थ यह है कि उसके अभिलेखों को साक्ष्य के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है और किसी न्यायालय में उनकी प्रामाणिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। (*दफ्तरी बनाम गुप्ता,* ए आई आर 1971 एस सी 1132; *नंबूद्रीपाद बनाम नम्बियार,* ए आई आर 1970 एस सी 2015)।

अभिलेख न्यायालय का यह अर्थ भी है कि वह अपनी मानहानि के लिए दंड दे सकता है। लेकिन इस संक्षिप्त शक्ति का उपयोग कभी कभार अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही किया जाता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि न्यायालय तथा उसके कार्य की खरी तथा सदाशयपूर्ण आलोचना पर कोई पाबंदी है। लोकहित मे न्यायिक कार्य की उचित तथा युक्तियुक्त आलोचना से किसी की मानहानि नहीं होती।

उच्चतम न्यायालय को आरंभिक अपीलीय तथा मंत्रणा[2] देने की अधिकारिता होती है। मूल अधिकारिता का अर्थ है प्रथमतया किसी विवाद को सुनने तथा उस पर निर्णय देने की शक्ति। उच्चतम न्यायालय को अनन्य मूल अधिकारिता दी गई है। वह ऐसे विवादों पर लागू होती है यथा, (क) जो भारत सरकार तथा एक या उससे अधिक राज्यों के बीच हों (*पश्चिमी बगाल राज्य बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1963 एस सी 1241); (ख) जहां एक ओर भारत सरकार तथा एक या उससे अधिक राज्य हों और दूसरी ओर एक या उससे अधिक राज्य हों, (ग) जो दो या उससे अधिक राज्यों के बीच हों। लेकिन यह अधिकारिता ऐसे विवाद पर लागू नहीं होगी जो किसी ऐसी संधि, समझौते आदि से उठा हो जो चालू हो और जिसके अंतर्गत इस विवाद को उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता से बाहर रखा गया हो (अनुच्छेद 131)। उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को कतिपय अन्य मामलो में भी अलग रखा जा सकता है जैसे, राज्यों के बीच जल विवाद (अनुच्छेद 262), वित्त आयोग को सौंपे गए मामले (अनुच्छेद 280), तथा संघ एवं राज्यों के बीच कतिपय खर्चो तथा पेशनों का समायोजन (अनुच्छेद 290)। अनुच्छेद 131 के अधीन कोई राज्य उच्चतम न्यायालय के सामने भारत सरकार से हर्जाना वसूल करने का दावा नहीं कर सकता। यह अनुच्छेद संघ तथा राज्यों के बीच के ऐसे साधारण वाणिज्यिक मामलों के बारे में प्रावधान नहीं करता [*भारत संघ बनाम राजस्थान राज्य* (1984) 4 एस सी सी

---

1. अभिलेख न्यायालय (Court of Record)
2. आरंभिक अपीलीय तथा मंत्रणा (Original Appellate and Advisory)

238]। इसके अलावा, उच्चतम न्यायालय के समक्ष लाए गए ऐसे विवाद में विधि का या तथ्य का ऐसा प्रश्न अंतर्ग्रस्त होना ही चाहिए जिस पर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है।

1978 में 44वें संशोधन द्वारा जोड़े गए नए अनुच्छेद 139 क के अधीन उच्चतम न्यायालय स्वयं एक या अधिक उच्च न्यायालयों से मामलों का अंतरण कर सकता है, यदि उनमें विधि या भारी महत्व के प्रश्न अतर्ग्रस्त हों। उच्चतम न्यायालय न्याय के हित में एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को मामलो का अंतरण भी करता है।

उच्चतम न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता व्यक्तियों के मूल अधिकारों के उल्लंघन संबंधी मामलों पर भी लागू होती है और न्यायालय इन अधिकारो के प्रवर्तन के लिए अनेक आदेश (रिट) जारी कर सकता है। हमारे संविधान का यह विशेष लक्षण है कि कोई व्यक्ति अपने मूल अधिकारों के उल्लघन के मामले में सीधे ही सर्वोच्च न्यायालय के द्वार खटखटा सकता है।

उच्चतम न्यायालय की अपीलीय अधिकारिता दीवानी, फौजदारी तथा संवैधानिक मामलों पर लागू होती है। दीवानी मामले मे उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री अथवा अंतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है, यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 क के अधीन प्रमाणित कर देता है कि इस मामले में संविधान के निर्वचन के बारे में सार्वजनिक महत्व का कोई सारवान प्रश्न अंतर्ग्रस्त है और उस प्रश्न का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा आवश्यक है (अनुच्छेद 133)।

फौजदारी मामलो में अपील उच्चतम न्यायालय मे हो सकेगी, यदि (क) उच्च न्यायालय ने किसी अभियुक्त की दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है और उसको मृत्युदंड का आदेश दे दिया है, या (ख) अपने अधिकार के अधीन किसी न्यायालय से किसी मामले को विचारण के लिए अपने पास मगा लिया है और ऐसे विचारण मे अभियुक्त को सिद्धदोष ठहराया है और उसे मृत्युदड का आदेश दे दिया है (अनुच्छेद 134; *रामकुमार बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1975 एस सी 1026; *पट्टा नारायण बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1975 एस सी 1252)।

अनुच्छेद 134 (1) (ग) के अधीन किसी उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील उच्चतम न्यायालय मे की जा सकती है, यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 क के अधीन प्रमाणित कर देता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने योग्य है। लेकिन उपखड (ग) के परंतुक में कहा गया है कि ऐसी अपीले उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों तथा ऐसी अन्य शर्तो के अधीन होंगी जिन्हे उच्च न्यायालय नियत करे। फौजदारी मामलों के बारे में उच्चतम न्यायलय में अपीलों के उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणपत्र का दिया जाना इस मूल्यांकन पर निर्भर करता है कि क्या मामले में विधि तथा

उसके निर्वचन का सारवान प्रश्न अतर्ग्रस्त है और क्या उस पर उच्चतम न्यायालय के लिए तुरंत अपनी राय का दिया जाना अपेक्षित है और क्या इसके फलस्वरूप अभियुक्त के प्रति गभीर अन्याय हो जाएगा, यदि उसे उच्चतम न्यायालय में अपील के अवसर से वंचित किया जाता है?

अनुच्छेद 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय अपने विवेकानुसार भारत के राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या मामले में पारित किए गए या दिए गए किसी निर्णय, डिक्री, अवधारण, दडादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकेगा। अनुच्छेद 134 के अधीन उच्चतम न्यायालय मे अपील के लिए प्रमाणपत्र देने की जो शक्ति उच्च न्यायालय को प्राप्त है, उससे कहीं अधिक व्यापक उच्चतम न्यायालय की ये शक्तियां अपील की विशेष इजाजत देने के बारे में है। सैनिक न्यायालयों के अलावा राज्य क्षेत्र के किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण के निर्णयों के खिलाफ या दीवानी, फौजदारी या राजस्व सबधी किसी भी प्रकार के मामलो में अपील की विशेष इजाजत उच्चतम न्यायालय दे सकता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने स्वयं कहा है कि वह केवल उन्हीं मामलो मे अपील की विशेष इजाजत देगा जिनमें घोर अन्याय हुआ है *(हरिपद डे बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य,* ए आई आर 1965 एस सी 757; *मरतू बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1971 एस सी 1050, *रानी सरन बनाम सी टी ओ,* ए आई आर 1962 एस सी 1326)।

संविधान का अनुच्छेद 143 उच्चतम न्यायालय को परामर्श की अधिकारिता प्रदान करता है। सार्वजनिक महत्व की विधि या तथ्य के किसी ऐसे प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय की राय राष्ट्रपति माग सकता है जिसके बारे में उसका विचार हो कि ऐसी राय प्राप्त करना समीचीन है। राष्ट्रपति से प्राप्त ऐसे निर्देश के बाद उच्चतम न्यायालय, ऐसी सुनवाई के बाद जो वह ठीक समझे, राष्ट्रपति को उस पर अपनी राय के बारे में रिपोर्ट देगा। राय केवल सलाह के रूप में होती है। राष्ट्रपति को छूट है कि वह उसे माने या न माने। ऐसा प्रथम निर्देश दिल्ली लाज केस (1951) एस सी आर 747 मे किया गया था।

राष्ट्रपति ऐसे ही निर्देश द्वारा किसी ऐसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबंध, सनद या वैसी ही अन्य लिखत के बारे मे जो इस संविधान के प्रारंभ से पहले की गई थी या निष्पादित की गई थी और उसके पश्चात भी लागू है, उच्चतम न्यायालय की राय माग सकता है।

अनुच्छेद 138 के अधीन, उच्चतम न्यायालय को सघ सूची के विषयो में से किसी के संबंध मे ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियां होंगी जिन्हें संसद विधि द्वारा प्रदान करे। यदि संसद विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय द्वारा ऐसी अधिकारिता और शक्तियों का प्रयोग किए जाने का उपबंध करती है तो उच्चतम न्यायालय को किसी विषय के संबंध में ऐसी अतिरिक्त अधिकारिता और शक्तियां होंगी जो भारत सरकार और किसी राज्य

की सरकार विशेष करार द्वारा प्रदान करे। इससे उच्चतम न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बढ़ जाता है और उसे इस बारे में अति विशेष अधिकारिता प्रदान करता है कि वह शीघ्र निपटारे के लिऐ सीधे ही तथा अपनी आरंभिक अधिकारिता में अति तात्कालिक प्रकृति के मामलों की सुनवाई कर सके।

उच्चतम न्यायालय के निर्देशों तथा निर्णयों को प्रभावी बनाने के प्रयोजनों के लिए भारत के राज्य क्षेत्र के सभी सिविल तथा न्यायिक प्राधिकारियों को उच्चतम न्यायालय के प्राधिकार के अधीन कर दिया गया है, क्योंकि इन सभी से अपेक्षा की जाती है कि वे उच्चतम न्यायालय की सहायता करें (अनुच्छेद 144)। उच्चतम न्यायालय समय समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की पद्धति और प्रक्रिया के सामान्य विनियमन के लिए नियम बना सकेगा। उच्चतम न्यायालय के अधिकारियों तथा सेवकों की नियुक्तिया भारत का मुख्य न्यायमूर्ति या उस न्यायालय का ऐसा अन्य न्यायाधीश अथवा अधिकारी करता है जिसे वह निर्दिष्ट करे (अनुच्छेद 145-146)।

न्यायिक पुनर्विलोकन[1] : न्यायिक पुनर्विलोकन का विकास जिस रूप में अमरीका में हुआ है, उसके अंतर्गत देश के सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार है कि वह इस बारे में विधायी कार्य की वैधता या अवैधता के संबंध में अंतिम निर्णय सुना सकता है कि वह कहां तक मूल विधि यानी देश के संविधान के उपबधों के अनुरूप है या नहीं है। इस संबध में हमारा संविधान बहुत कुछ अमरीकी प्रथा का अनुसरण करता है। संविधान देश की मूल विधि है अतः हर विधायी अधिनियम को, चाहे वह सघ का हो या राज्यो का, इस मूल विधि के अनुरूप होना ही चाहिए। भारत मे केवल अपवाद यह है कि जब विधि को सवैधानिक घोषित कर दिया जाता तो उसके बाद अधिकाश मामलों में संविधान मे सशोधन किया जा सकता है ताकि न्यायिक निर्वचन की रक्षा की जा सके और विधि को अनुज्ञेय बनाया जा सके।

प्रायः राज्य सरकार अथवा प्रभावित निजी व्यक्ति अथवा पक्ष उच्चतम न्यायालय के समक्ष वाद दायर करते हैं और दावा करते हैं कि विधि विशेष को अधिनियमित करते समय सबद्ध सरकार ने सातवीं अनुसूची के अधीन शक्तियों के विभाजन के संबध में अपनी अधिकारिता की सीमा का उल्लंघन किया है। ऐसे कानून का पुनर्विलोकन करते समय उच्चतम न्यायालय जांच करेगा कि अधिकारिता की सीमाओ का उल्लंघन हुआ है या नहीं। संविधान में मूल अधिकारों संबंधी अध्याय का समावेश न्यायिक पुनर्विलोकन को विशेष संगतता प्रदान करता है। अनुच्छेद 12 मूल अधिकारों के बारे में यह गारंटी देता है कि राज्य की किसी भी प्रकार की कार्रवाई उसका अपहरण नहीं करेगी। और इस अनुच्छेद के अधीन 'राज्य' की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि उसमें भारत की सरकार और

---

1. न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial Review)

संसद तथा राज्यों में से प्रत्येक राज्य की सरकार और विधानमंडल तथा भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण के अधीन सभी स्थानीय और अन्य प्राधिकारी आ जाते हैं।

अनुच्छेद 13 घोषणा करता है कि मूल अधिकारों से असंगत या उन्हें न्यून करने वाली सभी विधियां उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे असंगत हैं। 1967 तक उच्चतम न्यायालय भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता था कि संविधान-संशोधन-अधिनियम अनुच्छेद 13 (2) की परिभाषा के अधीन 'विधि' नहीं है। लेकिन गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से निर्णय किया कि इस परिभाषा के अधीन संविधान-संशोधन-अधिनियम भी 'विधि' है और इसलिए उसका न्यायिक पुनर्विलोकन किया जा सकता है। संविधान (24वां संशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा संविधान में खंड 13 (4) जोड़ा गया। उसमें कहा गया है कि संविधान का संशोधन अनुच्छेद 13 (2) की परिभाषा के अधीन 'विधि' नहीं है। केशवानन्द भारती के मामले में उच्चतम न्यायालय ने इस दृष्टिकोण को उचित ठहराया।

मूल अधिकारो संबंधी अध्याय में अनुच्छेद 32 में उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति विशेष रूप से प्रदान की गई है। इस अनुच्छेद के अधीन हर नागरिक को अधिकार है कि वह अध्याय 3 में दिए गए अधिकारों का प्रवर्तन कराने के लिए समुचित कार्रवाई द्वारा उच्चतम न्यायालय का द्वार खटखटा सके। उच्चतम न्यायालय अपनी आरंभिक अधिकारिता में याचिका की सुनवाई कर सकता है। उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति दी गई है कि वह प्रदत्त अधिकारों मे से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए, ऐसे निदेश या आदेश या रिट जिनके अतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट हैं, जो भी समुचित हो, जारी कर सके।

अनुच्छेद 226 के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालयों को ऐसी ही शक्तियां दी गई हैं। वे इन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए अपने राज्य क्षेत्र के भीतर किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को ऐसे निदेश, आदेश, या रिट जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट शामिल हैं, या उनमें से किसी को जारी कर सकते हैं (रिटो के विवरण के लिए देखिए उच्च न्यायालयों के अधीन)।

विधि की सम्यक प्रक्रिया बनाम विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार[1] : अमरीकी संविधान के अनुसार केवल विधि की सम्यक प्रक्रिया के अनुसार ही किसी व्यक्ति को स्वातंत्र्य तथा संपत्ति के उसके अधिकार से वंचित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन भारतीय संविधान का प्रावधान है कि केवल विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही किसी व्यक्ति

1. विधि की सम्यक प्रक्रिया बनाम विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार (Due Process of Law vs. According to Procedure Established by Law)

को स्वातंत्र्य तथा संपत्ति के उसके अधिकार से वंचित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

सम्यक प्रक्रिया उच्चतम न्यायालय को इस बारे मे भारी गुंजाइश प्रदान करती है कि वह अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा कर सके। वह इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाले कानूनों को न केवल गैर कानूनी होने के सारभूत आधारों पर बल्कि अनुचित होने के प्रक्रियात्मक आधारो पर भी शून्य घोषित कर सकती है। लेकिन किसी विधि की सवैधानिकता का निश्चय करते समय उच्च न्यायालय को केवल इस मूल प्रश्न पर विचार करना होता है कि कानून संबद्ध प्राधिकार की शक्तियों के भीतर है या नहीं। उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह उसकी युक्तियुक्तता, अनुकूलता अथवा नीति संबंधी जटिलताओं पर विचार करे।

उच्चतम न्यायालय विनिर्दिष्ट याचिका द्वारा विनिर्दिष्ट मामले में अपना निर्णय देता है। वह सामान्य निर्देश पर राय या सलाह नही देता। कोई व्यथित व्यक्ति होना चाहिए जो अपने अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले कानून की संवैधानिकता को चुनौती देने के लिए याचिका दायर करे। उसे दिखाना पड़ेगा कि कानून को लागू किए जाने के कारण उसे कोई सीधी क्षति पहुची है या तत्काल पहुंचने का खतरा है और जिस क्षति के बारे में शिकायत की गई है, वह वाद-योग्य है।

लोकहित संबंधी मुकदमे : न्यायाधीशो के स्थानातरण के मामले मे अपने ऐतिहासिक निर्णय मे उच्चतम न्यायालय की सात न्यायाधीशों वाली सविधान पीठ ने निर्णय दिया कि जनता का कोई भी व्यक्ति, भले ही उसका वाद से सीधा संबध न हो पर उसमे उसकी 'पर्याप्त रुचि' हो, अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय मे गुहार कर सकता है अथवा मूल अधिकारो के उल्लघन के मामले में उन व्यक्तियो की शिकायतो को दूर कराने के लिए जो 'गरीबी, लाचारी या असमर्थता या सामाजिक एव आर्थिक विपन्नता' के कारण न्यायालय का द्वार नही खटखटा सकने, उच्चतम न्यायालय मे फरियाद कर सकता है। ऐसे मामले मे एक पत्र के द्वारा भी न्यायालय के द्वार तक पहुचा जा सकता है (*एस.पी. गुप्ता बनाम भारत का राष्ट्रपति* ए आई आर 1982 एस सी 149)। इस निर्णय से लोकसेवी व्यक्ति/नागरिक को या समाजसेवी संगठनों को छूट मिल गई है कि वे आम जनता के हित में न्यायिक राहत की मांग कर सकें।

बधुआ-मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ (ए आई आर 1984 ए सी 803) में बधुआ-मुक्ति के ध्येय के प्रति समर्पित एक संगठन ने एक पत्र द्वारा उच्चतम न्यायालय को सूचित किया कि उन्होंने हरियाणा के फरीदाबाद जिले मे स्थित पत्थर खदानों का सर्वेक्षण किया और पाया कि वहां ऐसी खदानों में भारी संख्या में मजदूर 'अमानवीय तथा असह्य परिस्थितियों' में काम कर रहे हैं और उनमें से अनेक बधुआ मजदूर हैं। याचिकादाताओं ने याचना की कि संविधान के विभिन्न उपबधों तथा कानूनों के समुचित परिपालन के लिए रिट जारी

की जाए ताकि उन मजूरों का दु.ख, कष्ट एवं लाचारी दूर हो सके। न्यायालय ने पत्र को रिट याचिका माना और एक आयोग नियुक्त किया। उसमें दो अधिवक्ता थे। उनसे कहा गया कि वे इन पत्थर खदानो मे जाएं, वहां जांच करें और उस बारे में न्यायालय को रिपोर्ट दें।

लक्ष्मीकान्त पांडे बनाम भारत संघ में एक याचिका दायर की गई थी। उसका आधार एक पत्र था। उसमे शिकायत की गई थी कि विदेशियो को भारतीय बच्चे गोद देने के काम मे रत समाज-सगठन तथा स्वयंसेवी एजेंसियां कदाचार कर रही हैं। आरोप था कि सुकुमार वय के बच्चों को गोद लेने की आड़ में उन पर अत्याचार किया जा रहा है। उन्हें सुदूर देशो की लबी भयावह यात्रा तो करनी ही पड़ती है पर साथ ही उनकी जान को भारी जोखिम रहता है और उनका आश्रय तथा भविष्य भी अधर में लटक जाता है। मुख्य न्यायमूर्ति श्री पी.एन भगवती ने बच्चों का कल्याण सुनिश्चित करने के लिए कतिपय सिद्धात तथा मापदड निर्धारित किए। उन्होंने सरकार तथा मामले से सबद्ध एजेंसियों को निर्देश दिए कि वे सिद्धातो का पालन करे।

संवैधानिकता के पक्ष में उपधारणा[1] उपधारणा सदैव कानून की संवैधानिकता के पक्ष मे रहती है। संवैधानिकता के विरुद्ध सभी तथ्य तथा प्रमाण जुटाने का भार याचिकादाताओं पर होता है।

पृथक्ककरणीयता का सिद्धांत[2] कानून का निर्वचन करते समय न्यायालय को निर्णय करना होता है कि समूचा कानून संविधान के विरुद्ध है या केवल उसका कोई भाग। यदि तथ्यो की अपेक्षा हो तो न्यायालय आंशिक रूप से भी विधि को शून्य घोषित कर सकता है।

प्रगतिशीलतापरक निर्वचन का सिद्धांत[3] - उच्चतम न्यायालय ने संविधान का निर्वचन करते समय प्रगतिशीलतापरक निर्वचन के सिद्धात से मार्गदर्शन ग्रहण किया है। इसका अर्थ है कि उसने संविधान का निर्वचन करते समय सतत परिवर्तनशील सामाजिक एव कानूनी सदर्भ को ध्यान मे रखा है।

संविधान-विरुद्ध घोषित की गई विधि का प्रभाव : अनुच्छेद 141 के अधीन, उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के राज्य क्षेत्र के भीतर सभी न्यायालयों के लिये बाध्यकारी होगी। अत यदि उच्चतम न्यायालय किसी विधि को संविधान-विरुद्ध घोषित करता है तो चाहे उसका आधार विधायी सक्षमता हो या मूल अधिकारों का उल्लंघन, उस बात को भारत के राज्य क्षेत्र के सभी न्यायालय मानने के लिए बाध्य होंगे। ऐसी विधि की पूर्ण

---

1 संवैधानिकता के पक्ष मे उपधारणा (Presumption in favour of Constitutionality)

2 पृथक्ककरणीयता का सिद्धांत (Doctrine of Severability)

3 प्रगतिशीलतापरक निर्वचन का सिद्धात (Doctrine of Progressive Interpretation)

उपेक्षा की जाएगी और उत्तरवर्ती कार्यवाहियों में उसे लागू नहीं किया जाएगा [*स्टार कंपनी बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1987 एस सी 179; *असिस्टेंट कलक्टर बनाम डनलप* (1985) 1 एस सी सी 260, *गौर्या बनाम ठाकुर,* ए आई आर 1986 एस सी 1440]।

न्यायपालिका की स्वाधीनता : प्रतिनिधिक लोकतंत्र में न्याय प्रशासन का विशेष महत्व होता है क्योंकि वहां व्यक्तियों के अधिकारों का प्रश्न होता है और इस बात की जरूरत होती है कि कार्यपालिका या विधायिका के हस्तक्षेप से उनकी रक्षा की जाए। न्यायपालिका को सरकार के अन्य दो अंगो से स्वाधीन तथा सर्वोच्च बना दिया गया है। संघात्मक राज्य व्यवस्था में स्वाधीन तथा सर्वोच्च न्यायपालिका एक अनिवार्य अपेक्षा है विशेषकर सघात्मक सरकार तथा उसके संघटक एककों की सरकारों के बीच सवैधानिक विभाजन है, और कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का कार्यात्मक विभाजन है। मानव अधिकारों को सुनिश्चित करने तथा लोकतंत्र की सुरक्षा करने के लिए भी स्वाधीन तथा निष्पक्ष न्यायपालिका एक अनिवार्य अपेक्षा है। केवल एक स्वाधीन न्यायपालिका ही व्यक्ति तथा संविधान के अधिकारों के अभिभावक के रूप में प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकती है। न्यायालयो की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने के लिए भारत के संविधान में अनेक युक्तिया है जैसे, न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उन्हें हटाए जाने के बारे में, कार्यकाल की सुरक्षा के बारे में, न्यायाधीशो के वेतन तथा सेवा की शर्तो और उनके वेतन तथा भर्ती को संचित निधि पर प्रभारित करने के बारे मे, उच्चतम न्यायालय द्वारा अपने निजी कर्मचारियो की भर्ती तथा नियुक्ति के बारे मे, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो पर सेवानिवृत्ति के बाद भारत के किसी भी न्यायालय में प्रैक्टिस करने पर प्रतिबंध लगाने तथा मानहानि के लिए दंडित करने आदि के बारे में सवैधानिक उपबंध।

उच्च न्यायालय

संविधान में कहा गया है कि हर राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा। लेकिन ससद विधि द्वारा दो या अधिक राज्यो के लिए या दो या अधिक राज्यों और किसी सघ राज्य क्षेत्र के लिए साझे उच्च न्यायालय की स्थापना कर सकती है (अनुच्छेद 214 तथा 231)।

उच्चतम न्यायालय की भांति प्रत्येक उच्च न्यायालय भी अभिलेख और आरभिक तथा अपीली अधिकारिता वाला न्यायालय होगा और उसको अपने अवमान के लिए दंड देने की शक्ति सहित ऐसे न्यायालय की सभी शक्तिया प्राप्त होंगी (अनुच्छेद 215)। अनुच्छेद 217 मे कहा गया है कि भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से, उस राज्य के राज्यपाल से और मुख्य न्यायमूर्ति से इतर सभी न्यायाधीशो की नियुक्ति की दशा मे, उस उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के वाद, राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो की नियुक्ति करेगा। *एस.सी. गुप्ता बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1982 एस सी आर 149)

मे यह निर्णय दिया गया था कि इस परामर्श की प्रक्रिया मे तीनों कृत्यकारियों को समान महत्व देना होगा। किंतु 1993 के ताजा निर्णय के द्वारा उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति का परामर्श निर्णायक और प्रायः पूर्णतया बाध्य होगा (*एडवोकेट्स-ऑन-रिकार्ड एशोसिएशन तथा अन्य बनाम भारत संघ* ए आई आर 1994 एस सी 268)। उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अनिवार्य है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो, कम-से-कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण कर चुका हो या दस वर्ष तक उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा हो। नियुक्त हो जाने पर हर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के लिए पद की शपथ लेना अनिवार्य है। उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक वह बासठ वर्ष की आयु प्राप्त नही कर लेता है। उसे अपने पद से केवल उसी रीति से हटाया जा सकता है जिसकी व्यवस्था उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए की गई है। इसके अलावा, उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद की स्वाधीनता को सुनिश्चित करने के लिए व्यवस्था की गई है कि कोई व्यक्ति, उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश पद को धारण करने के बाद उच्चतम न्यायालय और अन्य उच्च न्यायालयो के सिवाय भारत के किसी न्यायालय मे वकालत नहीं करेगा। उच्च न्यायालय का हर न्यायाधीश ऐसे वेतन तथा भत्तो का हकदार होगा जिन्हे संसद विधि द्वारा निर्धारित करे अथवा जिनका विनिर्देश संविधान की दूसरी अनुसूची मे हो। फिलहाल उच्च न्यायालय (सेवा की शर्ते) अधिनियम के अधीन उच्च न्यायालय का हर न्यायाधीश वेतन के रूप मे 8000 रुपये प्रति मास प्राप्त करता है और राज्य का मुख्य न्यायमूर्ति वेतन के रूप मे 9000 रुपये प्रति मास प्राप्त करता है। इसके अलावा, वे नि:शुल्क सरकारी आवास तथा व्यय-भत्ते के हकदार है।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श करने के बाद न्यायाधीशो को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित कर सकता है। लेकिन उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को उसकी सहमति के बिना स्थानातरित नही किया जा सकता (*भारत सघ बनाम साकलचन्द,* ए आई आर 1977 एस सी 2328)। एडवोकेट्स वाले मामले मे उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया है कि न्यायाधीशो के स्थानातरण के मामले मे भी उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के परामर्श को प्रमुखता और मान्यता दी जाएगी (ए आई आर 1994 एस सी 268)। राष्ट्रपति किसी उच्च न्यायालय के लिए कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति कर सकता है। जरूरत पडने पर राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के लिए अतिरिक्त तथा कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है। पर उनका कार्यकाल दो वर्ष से अधिक का नहीं होगा। किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति राष्ट्रपति की सहमति से किसी सेवानिवृत्त न्यायाधीश की नियुक्ति न्यायाधीश के रूप मे उपस्थित होने और कार्य करने के लिए कर सकता है

(अनुच्छेद 215, 217-224 क)।

प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायमूर्ति और ऐसे अन्य न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे (अनुच्छेद 216)। प्रत्येक उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता वाले क्षेत्र में, सशस्त्र बलों से संबंधित किसी विधि के अधीन गठित न्यायालयों तथा अधिकरणों को छोड़कर, अन्य सभी न्यायालयों तथा अधिकरणों का अधीक्षण करेगा (अनुच्छेद 227)।

यदि किसी उच्च न्यायालय का यह समाधान हो जाए कि किसी निम्नतर न्यायालय में लंबित किसी मामले में संविधान के निर्वचन से संबंधित कोई सारवान प्रश्न अंतर्ग्रस्त है तो वह मामले को अपने पास मंगा सकता है और या तो वह मामले को स्वयं निपटा सकेगा या उक्त विधि के प्रश्न का अवधारण कर सकेगा और मामले को अवधारण के लिए न्यायालय को लौटा सकेगा (अनुच्छेद 228)।

प्रत्येक उच्च न्यायालय का अपने कर्मचारीवृंद पर पूर्ण नियत्रण होता है। न्यायाधीशो तथा उच्च न्यायालय के कर्मचारीवृंद के वेतनों तथा भत्तों को पूर्णतया राज्य की संचित निधि पर प्रभारित किया जाता है। उच्च न्यायालय के अधिकारियों तथा कर्मचारीवृंद की नियुक्तियां न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति अथवा न्यायालय का ऐसा अन्य न्यायाधीश अथवा अधिकारी करता है जिसके बारे में वह विनिश्चय करे। अपेक्षा की जाती है कि न्यायालय के कर्मचारीवृद तथा अधिकारियो की सेवा की शर्ते ऐसे नियमो द्वारा समुचित रूप से तय की जाएं जिन्हे मुख्य न्यायमूर्ति बनाएं और जिनका अनुमोदन राष्ट्रपति करे (अनुच्छेद 229)। किसी संघ राज्य क्षेत्र को एक उच्च न्यायालय की अधिकारिता के अतर्गत लाया जा सकता है अथवा उसकी परिधि से निकाला जा सकता है (अनुच्छेद 230)।

अनुच्छेद 226 के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय अपनी अधिकारिता वाले समूचे राज्य क्षेत्र में मूल अधिकारो को लागू कराने के लिए या किसी अन्य प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को ऐसे निदेश, आदेश या रिट जैसे, बंदी प्रत्यक्षीकरण[1], परमादेश[2], प्रतिषेध[3], अधिकार-पृच्छा[4] और उत्प्रेषण रिट[5] या उनमे से किसी को जारी कर सकेगा। अत. जहां उच्चतम न्यायालय की रिट अधिकारिता का विस्तार केवल मूल अधिकारों के उल्लघन के मामलो पर है, वहां उच्च न्यायालयो को अनुच्छेद 226 के अधीन कही अधिक व्यापक शक्तियां प्राप्त हैं और वे किसी भी अधिकार के उल्लघन के मामलो मे रिट जारी

1 बदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)
2. परमादेश (Mandamus)
3. प्रतिषेध (Prohibition)
4. अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto)
5. उत्प्रेषण रिट (Cortioreri)

कर सकते हैं। 'किसी अन्य प्रयोजन के लिए' पद इस बात को स्पष्ट कर देता है। उच्च न्यायालय किसी अवैध आदेश को रद्द कर सकता है, किसी कानून या अधिकार की घोषणा कर सकता है और अवैध कर आदि की वापसी के रूप में राहत का आदेश दे सकता है। जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के सभी न्यायालयों के लिए वेदवाक्य है, ठीक उसी प्रकार उच्च न्यायालय द्वारा घोषित विधि राज्य के भीतर या उच्च न्यायालय की अधिकारिता में आने वाले राज्य क्षेत्र के भीतर के सभी अधीनस्थ न्यायालयों के लिए वेदवाक्य है (*उडीसा राज्य बनाम मदन गोपाल* (1952) एस सी आर 28, *रामभट्रैया बनाम सचिव,* एस आई आर 1981 एस सी 1653; *देसाई बनाम रोशन,* ए आई आर 1976 एस सी 578; *मध्य प्रदेश राज्य बनाम भाईलाल,* ए आई आर 1964 एस सी 1006)।

लेकिन यह याद रखना चाहिए कि मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामलों के अलावा अन्य मामलों में रिट के द्वारा उपचार सामान्य उपचार नहीं है और उसे नित्यचर्या के रूप में प्रदान करने की आशा नहीं की जाती। यह एक असाधारण उपचार है जिसकी अपेक्षा विशेष परिस्थितियो में और न्यायालय के विवेकाधिकार के अधीन ही की जा सकती है (*हिम्मतलाल शाह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1954 एस सी 403, *अब्राहम बनाम आई. टी. ओ.,* ए आई आर 1961 एस सी 609; *भोपाल शुगर इडस्ट्री बनाम आई. टी ओ.,* ए आई आर 1967 एस सी 549, *राजस्थान गज्य बनाम करमचन्द,* ए आई आर 1965 एस सी 913)।

रिट जारी करने की शक्ति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो मे निहित की गई है। इसका उद्देश्य उन व्यक्तियो के लिए त्वरित न्याय तथा त्वरित राहत सुनिश्चित कराना है जिनके अधिकारो का उल्लघन बिना किसी दडभय के किया गया है और यदि परिहार्य तकनीकी बातो की उपेक्षा करके तत्काल फलदायी तथा त्वरित उपचार उपलब्ध नही कगया जाता तो उन्हें अपूरणीय क्षति होगी। पाच प्रकार की जानी मानी रिटें हैं.
बंदी प्रत्यक्षीकरण · इसका अर्थ है व्यक्ति को सशरीर उपस्थित करने की मांग। यह उस मामले मे लागू होती है जहां किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसे अवैध रूप से निरुद्ध किया गया है। रिट को जारी करने का अर्थ है कि निरुद्ध कराने वाले प्राधिकारी या व्यक्ति को आदेश दिया जाता है कि वह निरुद्ध व्यक्ति को सशरीर न्यायालय के सामने प्रस्तुत करे और निरोध का कारण बताए ताकि न्यायालय उसकी वैधता या अवैधता का निर्धारण कर सके। यदि निरोध को अवैध पाया जाता है तो निरुद्ध व्यक्ति को तत्क्षण आजाद कर दिया जाता है। चूंकि अब 44वें संशोधन के बाद अनुच्छेद 21 का आपात की घोषणा के काल में भी निलबन नहीं किया जा सकता, अतः व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की सुरक्षा के लिए यह एक अति महत्वूपर्ण रिट हो गई है।

जहां उच्चतम न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट को केवल मूल अधिकारों के उल्लंघन की दशा में राज्य के विरुद्ध जारी कर सकता है, वहां उच्च न्यायालय उसे उन व्यक्तियों के खिलाफ भी जारी कर सकता है जो अवैध या मनमाने ढंग से किसी अन्य व्यक्ति को निरुद्ध करते हैं।

परमादेश वैध रूप से कार्य करने का आदेश है। इसके अधीन अवैध कार्य को रोका जाता है। जहां 'क' को ऐसा कानूनी अधिकार है जो 'ख' पर कतिपय कानूनी दायित्व डालता है, वहां 'क' इस आशय के परमादेश की मांग कर सकता है कि 'ख' को उसका कानूनी कर्तव्य-पालन करने का निर्देश दिया जाए। परमादेश की मांग ऐसे किसी भी प्राधिकारी, अधिकारी, सरकार या न्यायिक निकायो के भी विरुद्ध की जा सकती है जो लोक कर्तव्य या कानूनी दायित्व के पालन में चूक या इंकार करते हैं। किसी व्यक्ति के मूल अधिकार को प्रवर्तित करने के लिए उच्चतम न्यायालय 'परमादेश' जारी कर सकता है, यदि कहा जाता है कि किसी सरकारी आदेश या कार्य से उसका उल्लंघन हुआ है। इस रिट को जारी करके उच्च न्यायालय किसी अधिकारी को उसके संवैधानिक तथा कानूनी अधिकारो के प्रयोग के बारे में निर्देश दे सकते हैं। वे किसी व्यक्ति को विवश कर सकते हैं कि वह संविधान या कानून द्वारा उसे सौंपे गए कर्तव्यों का पालन करे, वे किसी न्यायिक प्राधिकारी को उसकी अधिकारिता के प्रयोग के लिए विवश कर सकते हैं और वे सरकार को किसी संविधान-विरुद्ध कानून को लागू न करने का आदेश दे सकते हैं।

प्रतिषेध कोई उच्चतर न्यायालय किसी अवर न्यायालय या न्यायाधिकरण को जारी करता है और उसका उद्देश्य होता है कि उसे उसकी अधिकारिता का उल्लघन करने से मना किया जाए। 'प्रतिषेध' की रिट प्रशासनिक एजेंसियों के खिलाफ जारी नहीं की जाती। वह केवल न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक निकायों के विरुद्ध जारी की जाती है।

अधिकार-पृच्छा की रिट प्रश्न करती है 'किस प्राधिकार या अधिकार से' ? रिट में मांग की जा सकती है कि लोक पद को धारण करने के किसी व्यक्ति के दावे के बारे में लोक हित में कानूनी स्थिति को स्पष्ट किया जाए। ऐसी रिट की मांग करने का आवेदन कोई भी व्यक्ति कर सकता है बशर्ते प्रश्नगत पद संविधान या विधि द्वारा सर्जित स्थायी स्वरूप का अधिष्ठायी लोक पद हो और व्यक्ति की नियुक्ति बिना किसी कानूनी प्राधिकार के तथा संविधान या कानूनों का उल्लंघन करके की गई हो।

उत्प्रेषण रिट भी न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक प्राधिकारियों, न्यायालयों एवं न्यायाधिकरणों के खिलाफ जारी की जाती है और उसका अर्थ है 'सूचनार्थ प्रेषण'। यथा, जब कोई न्यायाधिकरण बिना अधिकारिता के या उसका उल्लंघन करके कार्य करता है और कोई अवैध आदेश जारी करता है तो 'उत्प्रेषण' की रिट द्वारा उसे रद्द किया जा सकता है।

रिटों के अलावा, उच्च न्यायालय अनुच्छेद 226 के अधीन लोगों को न्याय के हित में अन्य निर्देश तथा आदेश जारी कर सकते हैं (*टी.सी. बासप्पा बनाम नागप्पा*, ए आई आर 1954 एस सी 440)।

(लोक हित संबंधी वाद के लिए देखिए 'उच्चतम न्यायालय' के अधीन)

अधीनस्थ न्यायालय

जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्यपाल करता है। वह व्यक्ति जो सरकारी सेवा में पहले से ही नहीं है, उसके पास जिला न्यायाधीश के पद का पात्र होने के लिए 'बार' का कम-से-कम सात वर्ष का अनुभव होना चाहिए (अनुच्छेद 2 33)।

20वें संशोधन अधिनियम द्वारा जोडा गया अनुच्छेद 233 क कतिपय जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति को तथा उनके द्वारा दिए गए निर्णयों आदि को वैध ठहराता है (अनुच्छेद 233 क)।

किसी राज्य की न्यायिक सेवा मे जिला न्यायाधीशो से इतर व्यक्तियो की नियुक्ति इस निमित्त बनाए गए नियमों के अनुसार राज्यपाल ही करेगा। ऐसी नियुक्तियों के मामले में राज्य लोक सेवा आयोग के अलावा उच्च न्यायालय से भी सलाह लेनी होगी (अनुच्छेद 234)।

जिला न्यायालयो तथा उनके अधीनस्थ अन्य न्यायालयों पर उच्च न्यायालय का पूर्ण प्रशासनिक नियत्रण होगा। यहां तक कि राज्य की न्यायिक सेवा के किसी व्यक्ति और जिला न्यायाधीश के पद से अवर किसी पद को धारण करने वाले व्यक्ति की तैनाती, प्रोन्नति और उसकी छुट्टी की व्यवस्था भी वही करेगा [(अनुच्छेद 235) *तेजपाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* (1985) 3 एस सी सी 604; *असम राज्य बनाम रंगा मोहम्मद*, ए आई आर एस सी 903)]। अनुच्छेद 236 निर्वचन-खड है और वह जिला न्यायाधीश, न्यायिक सेवा आदि पदों की व्याख्या करता है।

14

राज्य तथा संघ-राज्य क्षेत्र

भाग 6, अनुच्छेद 152-213 : भाग 8, अनुच्छेद 239-240

भारत के संविधान में न केवल सघ का संविधान है बल्कि उसमे राज्यों का संविधान भी है। वस्तुतया कुछ विशिष्ट राज्यों के लिए विशेष उपबंध है। अत. कहा जा सकता है कि भारत के संविधान के भीतर अनेक राज्य-संविधान हैं। आमतौर पर, राज्यों के लिए उपबध संघ-शैली का अनुसरण करते है। राज्य-स्तर पर भी वैसी ही ससदीय शासन प्रणाली है जिसमें एक सवैधानिक अध्यक्ष होता है और मंत्रिगण विधानमडल के जन-निर्वाचित सदन के प्रति उत्तरदायी होते है। यथार्थ कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग मत्री करते हैं। राज्यपाल के 'समाधान' का अर्थ है मंत्रिपरिषद का समाधान (*रामजवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1955 एस सी 549; *शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य,* ए आई आर 1974 एस सी 2193)।

जम्मू-कश्मीर राज्य वैसे तो भारत का अभिन्न अग है पर वह एकमात्र राज्य है जिसका अपना अलग राज्य-संविधान है। लेकिन अन्य अनेक राज्यों को भी विशेष दर्जा प्राप्त है और उनके संबंध में कतिपय विशेष उपबंध हैं और वे केवल उनमे से प्रत्येक पर अलग अलग लागू होते हैं यथा, महाराष्ट्र तथा गुजरात के राज्य (अनुच्छेद 371), नागालैड (371 क), असम (371 ख), मणिपुर (371 ग), आंध्र प्रदेश (371 घ तथा 371 ङ), सिक्किम (371 च), मिजोरम (371 छ), अरुणाचल प्रदेश (371 ज) तथा गोवा (371 झ)।

राज्य-कार्यपालिका

राज्यपाल की नियुक्ति तथा उसके पद के लिए शर्तें : अनुच्छेद 153 के अनुसार हर राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा। एक ही व्यक्ति को कभी कभी दो या दो से अधिक राज्यो का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है (अनुच्छेद 155)। राज्यपाल के लिए विहित पदावधि पांच वर्ष की है लेकिन वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करता है (अनुच्छेद 156)। राष्ट्रपति का प्रसाद वाद-योग्य नहीं

है। राज्यपाल के कार्यकाल की कोई गारटी नही है। राष्ट्रपति उसे किसी भी समय पद से हटा सकता है (*सूर्य नारायण बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1982 राज. 1)।

किसी व्यक्ति को राज्यपाल के रूप मे तभी नियुक्त किया जा सकता है जब वह भारत का नागरिक हो और 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो (अनुच्छेद 157)। इसके अलावा, राज्यपाल ससद या किसी राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं हो सकता। यदि किसी सदस्य को राज्यपाल के रूप मे नियुक्त किया जाता है तो उसके बारे में समझा जाएगा कि उसने राज्यपाल का पदभार ग्रहण करने की तारीख से विधानमंडल का अपना स्थान रिक्त कर दिया है। राज्यपाल लाभ का कोई अन्य पद धारण नहीं कर सकता। हर राज्यपाल बिना किराया दिए सरकारी आवास का तथा ऐसी अन्य उपलब्धियो आदि का हकदार होगा, जिनका निर्धारण ससद द्वारा विधि के जरिए अथवा संविधान की दूसरी अनुसूची के अधीन किया जाए। 1987 के अधिनियम के अधीन राज्यपाल की उपलब्धिया 11,000 रुपये प्रति मास निश्चित की गई हैं (अनुच्छेद 158)। *हरगोविन्द बनाम रघुकुल* (ए आई आर 1979 एस सी 1109) मे उच्च्तम न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्यपाल का पद सरकार के अधीन लाभ का पद नहीं है।

राज्यपाल तथा राज्यपाल के कृत्यो का निर्वाह करने वाला हर व्यक्ति यह शपथ लेगा कि वह श्रद्धापूर्वक पद का कार्यपालन करेगा और सविधान एव विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा (अनुच्छेद 159)।

राज्यपाल की शक्तियां एवं कृत्य : संविधान के अनुसार राज्यपाल कतिपय मामलो में कुछ अपवादो को छोड़कर, अपने सभी कृत्यो का निर्वाह मत्रिपरिषद की सहायता तथा सलाह से करेगा (अनुच्छेद 163)।

जहा गणराज्य का राष्ट्रपति तथा राज्य का राज्यपाल दोनो ही सवैधानिक अध्यक्ष हैं, वहा दोनो की स्थिति मे कुछ बुनियादी अतर है, अर्थात (1) जहा राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है, वहां राज्यपाल नामनिर्देशित किया जाता है, (2) जहां राष्ट्रपति को केवल महाभियोग की कठिन प्रक्रिया द्वारा ही पद से हटाया जा सकता है, वहा राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत पद धारण करता है, (3) जहां राष्ट्रपति अपने सभी कृत्यों के निर्वाह में मंत्रिपरिषद की सलाह से बधा हुआ है, वहा राज्यपालों के मामले में सहायता और सलाह का उपबंध, जहा तक कि राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है वह अपने विवेकानुसार कार्य करेगा, उसके सिवाय लागू होगा (अनुच्छेद 163)। 42वे संशोधन द्वारा अनुच्छेद 74 में संशोधन करके यह उपबंध कर दिया गया है कि राष्ट्रपति सलाह के अनुसार कार्य करेगा ही। लेकिन राज्यपालों पर लागू तदनुरूप अनुच्छेद 163 में ऐसा कोई संशोधन नहीं किया गया है। यह निर्णय दिया गया है कि सामान्यतया राज्यपाल 'अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार ही कार्य कर सकता है, अन्यथा नहीं।' (*संजीवी बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1970 एस सी 1102; यू.

पी लोक सेवा आयोग बनाम सुरेश, ए आई आर 1987 एस सी 1953; *सुनीत कुमार बनाम पश्चिमी बगाल सरकार,* ए आई आर 1950 कलकत्ता 274)।

कतिपय ऐसे क्षेत्र है जहां राज्यपाल को अपनी बुद्धि तथा विवेक का इस्तेमाल करना पड़ सकता है यथा, (क) जहा किसी एक पार्टी या नेता को बहुमत का समर्थन प्राप्त न हो, उस स्थिति मे नये मुख्यमत्री की नियुक्ति; (ख) उस स्थिति में मंत्रिमडल की बर्खास्तगी जहा सदन में बहुमत का समर्थन गवा देने पर भी या अविश्वास-प्रस्ताव पर हार जाने पर भी वह मंत्रिमंडल इस्तीफा देने से इकार कर दे, (ग) बहुमत का समर्थन गंवाने वाले मुख्यमत्री की सलाह पर विधान सभा का विघटन, (घ) छठी अनुसूची के अधीन असम के जनजातीय क्षेत्रों की दशा में जिला परिषदों के लिए खनिज लाइसेंसों की रायल्टी का निर्धारण, (ड) राष्ट्रपति को इस बारे मे सलाह कि संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है और राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया जाए; तथा (च) विधेयकों पर अनुमति। कुछ राज्यपालो को अनुच्छेद 371 से 371 (झ) के अधीन कतिपय विशेष दायित्वों का निर्वाह भी करना पड़ सकता है।

कार्यपालिका-शक्तियां : राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित होती है और इसका प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है (अनुच्छेद 154)। राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का सह-विस्तार उसकी विधायी शक्ति के अनुसार होता है। जहा कोई मद समवर्ती सूची में होती है, वहा राज्य की कार्यपालिका शक्ति उन शक्तियो के अधीन होगी जो सघ का संविधान या विधियां प्रदान करती हैं (अनुच्छेद 246 तथा 162, *मध्य प्रदेश राज्य बनाम जैन,* ए आई आर 1981 एस सी 2045)।

राज्य के महाधिवक्ता की, राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की एवं अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशो की नियुक्ति राज्यपाल करता है (अनुच्छेद 165, 316, 283 तथा 284)।

मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति वह मुख्यमत्री की सलाह पर करता है। सभी मंत्री अपना पद राज्यपाल के प्रसादपर्यंत धारण करते हैं लेकिन मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवहार मे, इसका अर्थ है कि केवल विधान सभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति को ही मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाएगा और मंत्रिपरिषद तभी तक पद धारण करती है जब तक उसे विधान सभा का विश्वास प्राप्त होता है (अनुच्छेद 164)।

कार्यपालन संबंधी समूचा कार्य राज्यपाल के नाम से किया जाता है। राज्यपाल राज्य के और सुविधाजनक कार्य-निष्पादन तथा मंत्रियों के बीच काम के आवंटन के बारे में नियम बना सकता है। मंत्रिपरिषद का कोई निर्णय सरकारी आदेश के रूप में तब तक

लागू नहीं होता जब तक उसे राज्यपाल के नाम से अभिव्यक्त न किया जाए और उसका विधिवत अधिप्रमाणन[1] न हो (अनुच्छेद 166; *केरल राज्य बनाम लक्ष्मी कुट्टी,* ए आई आर 1987 एस सी 331, *बी.एल. काटन मिल्स बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य,* ए आई आर 1967 एस सी 1145)।

विधायी शक्तियां : जिन राज्यो मे विधान परिषदें हैं, वहां अनुच्छेद 171 (3) (ड) तथा (5) के अधीन राज्यपाल राज्य की विधान परिषद के लिए सदस्यो के छठवे भाग को नामजद कर सकता है। ये सदस्य उन लोगो मे से होगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आंदोलन एवं समाजसेवा का विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव होगा। वह विधान सभा के लिए आंग्ल-भारतीय समुदाय के एक व्यक्ति को भी नामजद कर सकता है, यदि उसकी राय में वहा समुदाय का प्रतिनिधित्व जरूरी हो और विधान सभा मे उसे पर्याप्त प्रतिनिधित्व न मिला हो (अनुच्छेद 333)।

अनुच्छेद 168 के अनुसार, राज्यपाल राज्य विधानमंडल का अंग है (अनुच्छेद 168)। जहा दो सदनो वाले विधानमंडल है, वहा वह विधानमंडल के दोनो सदनो की बैठके बुलाता है और उनका सत्रावसान करता है। वह राज्य विधान सभा का विघटन कर सकता है (अनुच्छेद 174)। वह विधानमडल के सदस्यो को सबोधित करता है और संदेश भेज सकता है (अनुच्छेद 175-176)। राज्यपाल की अनुमति के बिना कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता, भले ही उसे दोनों सदन पारित कर दें (अनुच्छेद 200)।

जब किसी विधेयक को विधान सभा और विधान परिषद (यदि कोई हो) पारित कर देती है तो उसे, मंत्रिपरिषद की सलाह से, राज्यपाल के समक्ष इसलिए प्रस्तुत किया जाता है कि वह यथापारित विधेयक को अपनी अनुमति प्रदान कर दे। राज्यपाल (i) विधेयक को अनुमति दे सकता है, (ii) अनुमति रोक सकता है, (iii) विधेयक को राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रख सकता है, या (iv) धन विधेयक के सिवाय, अन्य विधेयक को यथाशीघ्र अपने संदेश के साथ पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है (अनुच्छेद 200)। एक पांचवीं संभावना भी है जिसका प्रायः उल्लेख नहीं किया जाता। वह यह है कि विधेयक के संबध में कतिपय स्पष्टीकरण या सूचना मांगी जाए और विधेयक सरकार के पास लौटा दिया जाए और वस्तुतया सुझाव दिया जाए कि विधेयक पर अनुमति के लिए मंत्रिपरिषद ने पहले जो सलाह दी है, उस पर पुनर्विचार किया जाए (अनुच्छेद 167)।

यदि राज्यपाल किसी विधेयक को संदेश के साथ विधानमंडल को लौटा देता है, तो उस पर तदनुसार विचार किया जाएगा और यदि उसे पुनः संशोधनों सहित या उनके बिना पारित कर दिया जाता है तो उस पर अनुमति दे दी जाएगी। सिवाय उस स्थिति के जब विधेयक सरकार को लौटा दिया जाता है, राज्यपाल के बारे में कहा जा सकता है कि

1. **अधिप्रमाणन** (Authentication)

वह चारों विकल्पों में मंत्रिपरिषद की सलाह पर कार्य करता है।

अनुच्छेद 213 के अनुसार राज्यपाल उस अवधि के दौरान अध्यादेश जारी कर सकता है जब विधान सभा अथवा दोनो सदनों का (जहां विधानमडल के दोनो सदन हों) सत्र न चल रहा हो। यह शक्ति वैसी ही है जैसी कि राष्ट्रपति को अनुच्छेद 123 के अधीन प्राप्त है। अध्यादेशों का वैसा ही बल तथा प्रभाव होता है जैसा कि विधानमडल द्वारा पारित तथा राज्यपाल द्वारा अनुमति-प्राप्त विधियो का होता है। इसके अलावा, उन पर भी विधानमडल द्वारा पारित विधियो जैसे प्रतिबंध होते हैं। अत राज्यपाल राष्ट्रपति के अनुदेशों के बिना कोई अध्यादेश जारी नही कर सकता, यदि (i) वैसे ही उपबध वाले विधेयक के पुरःस्थापन के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मजूरी की अपेक्षा होती, यदि (ii) वैसे ही उपबंध वाले विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपनि के विचार के लिए आरक्षित रखना आवश्यक समझता, अथवा यदि (iii) वैसे ही उपबंध वाला कोई राज्य-अधिनियम राष्ट्रपति की अनुमति के अभाव में अवैध हो जाता।

राज्यपाल द्वारा जारी किए गए हर अध्यादेश को राज्य विधान सभा के समक्ष (दो सदनों वाले राज्य विधानमडल की दशा मे दोनो सदनो के समक्ष) रखना होगा तथा वह विधानमंडल के पुनः समवेत होने से छह सप्ताह की समाप्ति पर या उसस पूर्व भी लागू नहीं रहेगा यदि उसके निरनुमोदन का सकल्प पारित कर दिया जाता है। अध्यादेश को राज्यपाल किसी भी समय वापस ले सकता है (अनुच्छेद 213)। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्तियो के कुख्यात दुरुपयोग को *डी.सी. वधवा बनाम बिहार राज्य* (1987) 1 एस सी सी 378 मे उजागर किया गया था। 1967-1981 के दौरान बिहार के राज्यपाल ने 256 अध्यादेश जारी किए थे। इन सभी को पुनः पुन. जारी करके बनाए रखा गया। न्यायालय का निर्णय था कि यह कार्य 'लोकतांत्रिक प्रक्रिया का उन्मूलन' था और 'सविधान के प्रति धोखाधडी' था। इस शक्ति का उपयोग तो असाधारण परिस्थितियो का सामना करने के लिए यदाकदा ही किया जाना चाहिए। राजनीतिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए उसके दुरुपयोग की अनुमति नहीं दी जा सकती।

वित्तीय शक्तियां : अनुच्छेद 202 के अधीन, राज्यपाल से अपेक्षा की जाती है कि वह विधानमडल के सदन अथवा सदनो के समक्ष बजट या वार्षिक वित्तीय विवरण रखवाए। राज्यपाल की सिफारिश के बिना न तो धन विधेयक का पुरःस्थापन किया जा सकता है और न ही अनुदान की माग को प्रस्तुत किया जा सकता है। सशोधनों के लिए भी राज्यपाल की सिफारिश चाहिए।

क्षमा आदि की शक्तियां : राज्यपाल को क्षमा आदि प्रदान करने की शक्ति दी गई है। वह उस विषय के सबध मे, जिस विषय पर उस राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है, किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए सिद्धदोष ठहराए गए किसी व्यक्ति के

दंडादेश का निलबन, परिहार या लघुकरण कर सकता है (अनुच्छेद 161)। *के.एम. नानावती बनाम बंबई राज्य* (ए आई आर 1961 एस सी 99) में उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि राज्यपाल को छूट है कि वह किसी भी समय, यहा तक कि उस समय भी जब मामला उच्चतम न्यायालय में लंबित हो, पूर्ण क्षमा प्रदान कर सकता है लेकिन जब मामला उच्चतम न्यायालय के विचाराधीन हो, उस अवधि के लिए राज्यपाल दडादेश के निलबन की अपनी शक्ति का ऐसा प्रयोग नही कर सकता। यह कहा गया कि राज्यपाल की निलबन की शक्ति उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अधीन होगी।

राज्य विधानमंडल

किसी राज्य का विधानमडल राज्यपाल तथा विधान सभा से मिलकर बनेगा, सिवाय उन कुछ राज्यो के जहां विधान सभा और विधान परिषद के रूप मे दो सदन है। फिलहाल केवल बिहार, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु और कर्नाटक में विधान परिषदे हैं (अनुच्छेद 168)।

इस प्रश्न का निर्णय हर राज्य की विधान सभा पर छोड़ दिया गया है कि वह चाहे तो ससद से सिफारिश करे कि जहा विधान परिषद है, वहा उसका उत्सादन कर दिया जाए और जहा विधान परिषद नही है, वहा उसकी स्थापना कर दी जाए (अनुच्छेद 169)।

किसी राज्य की विधान सभा मे पाच सौ से अधिक तथा साठ से कम सदस्य नहीं होगे। उन्हे प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रो से प्रत्यक्ष निवाचन द्वारा चुना जाएगा। विधान परिषद की सदस्य सख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यो की कुल सख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी, लेकिन किसी भी दशा मे चालीस से कम नही होगी। उसके एक तिहाई सदस्यो का निवाचन नगरपालिकाए, जिला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय प्राधिकारी ससद द्वारा विधि के जरिए विनिर्दिष्ट रूप मे करेगे। उसके बारहवें भाग का निर्वाचन स्नातक-निर्वाचन-क्षेत्र करेगा। उसके एक तिहाई भाग का निर्वाचन विधान सभा के सदस्य करेगे और शेष यानी छठे भाग का नामनिर्देशन राज्यपाल करेगा। परिषद के निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल सक्रमणीय मत द्वारा होंगे (अनुच्छेद 170-171)।

विधान सभा की अवधि पांच वर्ष होगी। विधान परिषद शाश्वत सदन होगा। उसका विघटन नही होगा, लेकिन उसके एक तिहाई सदस्य हर दो वर्ष के बाद निवृत्त हो जाएगे (अनुच्छेद 172)।

विधानमंडल की सदस्यता का पात्र होने के लिए अनिवार्य है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो, वह सविधान के प्रति शपथ ले, नामाकन की तिथि को विधान सभा

के लिये कम-से-कम 25 वर्ष की आयु का हो और विधान परिषद के लिए कम-से-कम 30 वर्ष की आयु का हो (अनुच्छेद 173)। (*हुसैन बनाम नजालिंगप्पा*, ए आई आर 1969 एस सी 1034)।

राज्य सूची की मदों पर विधान बनाने के बारे में राज्य विधानमंडल की अनन्य अधिकारिता है और तीसरी अनुसूची की मदों के बारे में उसकी समवर्ती अधिकारिता है (अनुच्छेद 245-246)। (देखिए 'संघ और राज्यों के बीच संबंध के अधीन)।

राज्य में विधान परिषद की स्थिति संघ स्तर पर राज्य सभा जैसी ही है। अन्य बातों के अलावा, यही स्थिति विधानमंडलों की उन्मुक्तियो एवं उनके विशेषाधिकारों, सदस्यों की अनर्हता, दोनों सदनों के आपसी संबंधों, विधायी प्रक्रिया, धन विधेयकों के उद्गम आदि के बारे में है।

विधान सभा का एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होता है। उनका निर्वाचन विधान सभा करती है और उनका पद तथा उनके कृत्य लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष जैसे ही होते हैं। लेकिन विधान परिषद का भी एक सभापति तथा उपसभापति होता है और उनका निर्वाचन परिषद करती है (अनुच्छेद 178-187)। (देखिए, "सघ की विधायिका" के अधीन)।

संघ-राज्य क्षेत्र

संघ-राज्य क्षेत्रों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वे ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनका सीधा प्रशासन संघ के हाथ मे होता है। संप्रति सात संघ-राज्य क्षेत्र है अर्थात दिल्ली, अंदमान और निकोबार द्वीप, लक्षद्वीप, दादरा और नागर हवेली, दमन और दीव, पांडिचेरी तथा चंडीगढ़ (प्रथम अनुसूची)। हाल तक जो महानगर परिषद तथा कार्यकारी पार्षदो वाला दिल्ली संघ-राज्य क्षेत्र कहलाता था, अब वह विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद वाला राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र बन गया है (अनुच्छेद 239 क क तथा 239 क ख)।

ससद विधि द्वारा संघ-राज्य क्षेत्रों के प्रशासन की व्यवस्था कर सकती है। उसके अधीन संघ-राज्य क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त प्रशासक के माध्यम से करेगा। प्रशासक को सामान्यतया उपराज्यपाल कहा जाता है। राष्ट्रपति किसी पड़ोसी राज्य के राज्यपाल को भी किसी संघ-राज्य क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर सकता है। इस प्रकार नियुक्त राज्यपाल प्रशासक के कृत्यों का निर्वाह राज्य की मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना स्वतंत्र रूप से करेगा (अनुच्छेद 239)। ससद विधि द्वारा किसी संघ-राज्य क्षेत्र के लिए विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद का सृजन कर सकती है। ऐसा विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद पांडिचेरी संघ-राज्य क्षेत्र एवं दिल्ली के राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के लिए बन चुका है। अंदमान और निकोबार द्वीपों के संघ-राज्य क्षेत्र के लिए विधानमंडल के स्थान पर एक नामनिर्देशित

निकाय है (अनुच्छेद 239 क)। संघ-राज्य क्षेत्र का प्रशासक राज्यों के राज्यपालों की भांति अध्यादेश जारी कर सकता है (अनुच्छेद 239 ख)। सिवाय उन संघ-राज्य क्षेत्रों के जहां विधानमंडल कार्य कर रहा हो, अन्य सभी ऐसे राज्य क्षेत्रों की शांति, प्रगति तथा सुशासन के लिए राष्ट्रपति को विनियम बनाने की शक्ति प्राप्त है (अनुच्छेद 239 क तथा 240)। संसद विधि द्वारा किसी सघ-राज्य क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय का गठन कर.सकेगी या उसके प्रयोजनों के लिए किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी (अनुच्छेद 241)।

15

संघ और राज्यों के बीच संबंध

भाग 11, अनुच्छेद 245-263

हमारे संविधान के अनुच्छेद 1 में भारत को 'राज्यों का संघ' कहा गया है। जब भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई तो उस समय उसका रूप अति केंद्रप्रधान तथा एकात्मक था। भारत को अपने साम्राज्यवादी शिकंजे में रखने के लिए अंग्रेजों को उसका नियंत्रण केंद्र से करना था और यह सुनिश्चित करना था कि सत्ता उनके हाथों में रहे। साम्राज्य तथा प्रशासन, दोनो ही दृष्टियो से अंग्रेजों के लिए एक सशक्त केंद्रीय प्राधिकार आवश्यक था। 1833 के चार्टर अधिनियम में तो भारत में केंद्रीकरण की प्रक्रिया की अति ही कर दी गई। मद्रास तथा बंबई की सरकारो को सभी विधायी शक्तियों से वंचित कर दिया गया और उनका सकेंद्रण कलकत्ता स्थित गवर्नर जनरल-इन-काउंसिल में कर दिया गया। इस अधिनियम में स्पष्टतया यह भी कहा गया कि भारत के समूचे सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण गवर्नर जनरल-इन-काउंसिल के हाथ में रहेगा।

भारत शासन अधिनियम, 1919 में उपबंध किया गया कि काफी हद तक प्राधिकार का अंतरण प्रांतो को कर दिया जाए। 1934 में संविधान सुधार संबंधी समिति ने कहा :

> 1919 के अधिनियम के फलस्वरूप प्रांतों को दिए गए प्राधिकार की मात्रा के बावजूद, भारत सरकार एक एकात्मक तथा केंद्रप्रधान सरकार है और मूलतया वैसी बनी रहेगी और गवर्नर जनरल-इन-काउंसिल समूचे संवैधानिक सांचे-ढांचे का प्रमुख स्तंभ होगा।

जब ब्रिटिश हाउस आफ कामस में कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल पर चर्चा हुई तो सरकारी प्रवक्ता मैल्कम हेली ने और बातों के अलावा, इस बात पर जोर दिया कि किसी-न-किसी प्रकार का फेडरेशन अनिवार्य है और उसे अंतिम लक्ष्य के रूप में ध्यान में रखा जाना चाहिए। देसी रियासतों तथा ब्रिटेन के वाणिज्यिक हितों के मसलों को भी उठाया

गया और उन्हें ब्रिटिश आकाओं के सीधे नियंत्रण में एक सशक्त केंद्रीय प्राधिकार का आधार बाताया गया। साइमन कमीशन (1927-29) तथा बटलर कमेटी (1927-30) दोनों ने ही समूचे भारत के लिए एक फेडरल संघ का सपना संजोया, भले ही वह सुदूर आदर्श के रूप में रहा हो।

भारत शासन अधिनियम, 1935 में प्रस्ताव किया गया कि भारत में फेडरल (परिसंघीय) राज्य व्यवस्था हो, एक केंद्रीय सरकार हो और प्रांत अपनी अधिकारिता तथा शक्तियां क्राउन से सीधे अंतरण द्वारा प्राप्त करें। 1935 के अधिनियम का प्रांतीय स्वायत्तता वाला भाग लागू किया गया। चूंकि केवल प्रांतीय स्तर पर सीमित दायित्व वाली सरकार की स्थापना की गई, अतः स्वाभाविक था कि राष्ट्रवादियों ने प्रांतीय विधानमडलों के लिए और अधिक शक्तियों की मांग की। लेकिन यह प्रयोग अधिक समय तक नहीं चला। बहरहाल 1919 के अधिनियम के अधीन समूचे देश पर केवल केंद्रीय प्राधिकार का शासन चलता रहा।

जब पहले-पहल 1946 में तथा 1947 के प्रारंभ में संविधान सभा की बैठक हुई तो उस समय विचार यह था कि सीमित शक्तियों वाले केंद्र सहित फेडरेशन (परिसंघ) हो। इससे पूर्व कि संघीय संविधान समिति कोई सार्थक कार्यवाही कर पाती, 3 जून, 1947 की माउंटबेटन योजना की घोषणा कर दी गई। राष्ट्र की अखंडता को बनाए रखने की सभी आशाएं धूल में मिल गईं और साप्रदायिक आधार पर देश का विभाजन एक दृढ़ निश्चय बन गया। आशा के अनुरूप एक सशक्त केंद्र का पलड़ा भारी हो गया। संघीय संविधान समिति तथा प्रातीय संविधान सगिति ने 5 जून को एक संयुक्त बैठक में निश्चय किया कि 3 जून की घोषणा को देखते हुए संविधान के स्वरूप के बारे में कैबिनेट मिशन की योजना द्वारा थोपी गई सीमाएं समाप्त हो गई थीं। जब विभाजन एक वास्तविकता बन ही गया तो इस वात की कोई जरूरत नहीं रह गई कि मुस्लिम लीग की तुष्टि की जाए और सघ सरकार की शक्तियों को सीमित किया जाए। 6 जून, 1947 की बैठक में संघीय संविधान समिति ने अस्थायी रूप से निश्चय किया कि एक सशक्त केंद्र सहित संविधान का एक सशक्त सांचा-ढाचा हो और तीन सर्वागपूर्ण सूचियां हों और अवशिष्ट शक्तियां केंद्र मे निहित हों।

5 जुलाई, 1947 को संघीय शक्तियां समिति ने संविधान सभा के अध्यक्ष के सामने एक दूसरी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसमें इस बात पर जोर दिया गया कि संविधान के लिए सर्वाधिक ठोस सरचना है सशक्त केंद्र वाला संघ। रिपोर्ट में कहा गया कि कैबिनेट मिशन की योजना में केंद्रीय प्राधिकार क्षेत्र पर जो कठोर अंकुश लगाया गया था, उसे संविधान सभा ने देश की प्रशासनिक जरूरतों के अपने आकलन की घोर उपेक्षा करके समझौते के रूप में इसलिए स्वीकार किया था कि मुस्लिम लीग की भी बात रह जाए। संघीय शक्तियां

समिति ने सर्वसम्मति से यह दृष्टिकोण अपनाया कि यह देश के लिए हितकर नही होगा कि एक अशक्त केंद्रीय प्राधिकार की व्यवस्था की जाए क्योंकि ऐसा प्राधिकार न तो शाति की एवं सामूहिक हित संबंधी महत्वपूर्ण मामलों में समन्वय की व्यवस्था कर सकेगा और न ही अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समूचे देश के लिए प्रभावशाली ढग से आवाज उठा सकेगा। इस बीच 600 से भी अधिक देसी रियासतों को उभरते भारतीय संघ मे लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय सघ में राज्य की इकाइयों की संख्या घटकर नियंत्रण-योग्य हो गई।

इन घटनाओ के संदर्भ मे प्रारूपण समिति ने निश्चय किया कि भारत को एक सघ कहा जाए, भले ही उसके संविधान का स्वरूप परिसघात्मक हो। भारत के संघ होने पर जोर देने के पीछे आशय यह था कि यह संघटक इकाइयों के बीच किसी सविदा या समझौते की उपज नही है बल्कि उस संविधान सभा की घोषणा है जिसने अपना प्राधिकार भारत के लोगों से प्राप्त किया है। इसके अलावा, संकल्पना का स्पष्ट उद्देश्य था कि राज्य व्यवस्था के संघात्मक स्वरूप को दर्शाया जाए पर उसमे राज्यो की स्थिति गौण हो और सरचना एव सचालन का सतुलन सघ की सर्वोच्चता के पक्ष मे हो। इस बात को उच्चतम न्यायालय ने *पश्चिमी बंगाल बनाम भारत सघ* (ए आई आर 1963 एस सी 1241) में उचित ठहराया था।

चाहे सविधान निर्माता हो या राज्यो के पुनर्गठन एव सघ तथा राज्यो के आपसी सबधों पर विचार के लिए आजादी के बाद नियुक्त विभिन्न आयोग तथा समितिया हो यथा जे. वी. पी समिति, दर आयोग, राज्य पुनर्गठन आयोग, राजमन्नार समिति, सरकारिया आयोग आदि, सभी की सर्वोपरि चिता का विषय भारत की एकता तथा अखडता रहा है। राज्य पुनर्गठन समिति की रिपोर्ट का निष्कर्ष था :

> भारत का सघ ही हमारी राष्ट्रिकता का आधार है—राज्य तो केवल सघ के अग है और जहा हम यह मानते है कि अगो को स्वस्थ एव सशक्त होना ही चाहिए वहा सघ की सशक्तता तथा स्थिरता तथा विकास एव सवर्धन की उसकी क्षमता ही वह तत्व है जिसे देश के सभी परिवर्तनो का नियामक आधार माना जाए।

विधायी संबंध

अनुच्छेद 245-255 मे सघ तथा राज्यों के बीच विधायी शक्तियो के वितरण का घोषणा पत्र है। संसद भारत के समूचे राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधियां बना सकती है। किसी राज्य का विधानमडल समूचे राज्य या उसके किसी भाग के लिए विधियां बना सकता है। राज्य की कोई विधि शून्य[1] हो जाएगी, यदि उसका राज्य

1. शून्य (Void)

क्षेत्रातीत प्रवर्तन[1] होता है (*कोचुनी बनाम मद्रास राज्य,* ए आई आर 1960 एस सी 1080) और जब तक कि उद्देश्य तथा राज्य के बीच पर्याप्त संबंध नहीं दर्शाया जा सकता (*बंबई राज्य बनाम आर. एम. डी. सी.*, ए आई बार 1957 एस सी 699; *टाटा आइरन एंड स्टील कंपनी बनाम बिहार राज्य,* ए आई आर 1958 एस सी 452)। लेकिन संसद द्वारा बनाए गए कानूनो के बारे में राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन के आधार पर आपत्ति नहीं की जा सकती (अनुच्छेद 245)। संविधान की सातवी अनुसूची मे तीन सूचियां हैं अर्थात संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची जिनमें क्रमशः 97, 66 तथा 47 मदे हैं। अनुच्छेद 246 में व्यवस्था है कि सघ सूची की मदों के बारें मे ससद को विधियां बनाने की अनन्य अधिकारिता होगी, राज्य सूची की मदो के बारे मे राज्य के विधानमंडल को विधिया बनाने की अन्नय शक्ति होगी और समवर्ती सूची मे शामिल मदों के बारे मे संघ तथा राज्यों के विधानमंडल, दोनों ही विधान बना सकते है। यदि समवर्ती सूची की मदों के बारे में संसद तथा राज्यों के विधानमडलो द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संघ की विधियां प्रभावी होगी और राज्य की विधि उस विसंगति की मात्रा तक शून्य होगी, सिवाय उस स्थिति के जहा राज्य की विधि राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित रखी गई हो और उस पर उसकी अनुमति मिल गई हो (अनुच्छेद 245)। विधायी शक्तियों के त्रिविध वितरण मे, विधान की अवशिष्ट शक्तिया सघ को सौंपी गई है (अनुच्छेद 248)। साथ ही, संसद को यह शक्ति दी गई है कि वह किसी अंतर्राष्ट्रीय सधि, करार, अभिसमय अथवा विनिश्चय को कार्यरूप देने के लिए समूचे देश या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बना सके (अनुच्छेद 253)।

संघ सूची मे ऐसे विषय शामिल है जिनका सबध सघ के सामान्य हित से है और जिनके बारे मे समूचे सघ के भीतर विधान की एकरूपता अनिवार्य है। राज्य सूची मे ऐसे विषय शामिल है जो हित तथा व्यवहार की विविधता की छूट देते हैं। समवर्ती सूची में ऐसे विषय शामिल है जिनके बारे मे समूचे संघ के भीतर विधान की एकरूपता वांछनीय तो है पर अनिवार्य नही है। भले ही राज्य सूची मे शामिल विषयों के बारे मे राज्यो को अनन्य शक्तिया प्रदान की गई है पर इस सामान्य नियम के दो अपवाद हैं। अनुच्छेद 249 के अधीन यदि राज्य सभा के उपस्थित तथा मत देने वाले दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित सकल्प के जरिए यह घोषणा कर दी जाए कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि राज्य सूची में शामिल किसी विषय के बारे मे ससद विधिया बनाए तो समूचे भारत या उसके किसी भाग के लिए उस विषय के बारे मे ससद विधियां बनाने के वास्ते सक्षम होगी। ऐसा सकल्प एक वर्ष तक वैध रहता है। उसकी अवधि को और एक वर्ष के लिए बाद के संकल्प द्वारा बढ़ाया जा सकता है। ऐसे संकल्प के अधीन बनाई गई विधि संकल्प

1. क्षेत्रातीत प्रवर्तन (Extra-territorial Operation)

की अवधि बीत जाने के बाद 6 मास की समाप्ति पर प्रभावी नहीं रहेगी। पुनः अनुच्छेद 250 के अधीन, जब आपात की घोषणा लागू हो तो संसद को अधिकार दिया गया है कि वह समूचे भारत या उसके किसी भाग के वास्ते राज्य सूची में शामिल किसी मद के लिए विधियां बना सकती है। ऐसी विधियों की वैधता की अधिकतम अवधि आपात की समाप्ति के बाद छह मास की होगी।

यदि अनुच्छेद 249 तथा 250 के अधीन संसद द्वारा बनाई गई विधियों तथा राज्यों के विधानमंडलों द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संसद द्वारा बनाई गई विधि अभिभावी होगी और राज्य की विधि विरोध की मात्रा तक अप्रवर्तनीय होगी और संसद द्वारा बनाई गई विधि प्रभावी रहेगी (अनुच्छेद 251)।

अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो अधिक राज्यों के विधानमंडल एक संकल्प पारित करके संसद से अनुरोध कर सकते हैं कि वह राज्य सूची के किसी विषय के बारे में विधियां बनाए। ऐसी विधियों का विस्तार अन्य राज्यों पर किया जा सकता हैं बशर्ते कि संबद्ध राज्यों के विधानमंडल उस आशय के संकल्प पारित करें।

प्रशासनिक संबंध

अनुच्छेद 256 से 265 तक संघ तथा राज्यों के बीच प्रशासनिक सबधो के विनियमन की व्यवस्था करते हैं। संघात्मक प्रणालियों में सामान्यतया ऐसा होता है कि संघ तथा राज्यों के आपसी प्रशासनिक संबंध झमेलों से ग्रस्त रहते हैं। भारत के संविधान का उद्देश्य है कि दोनों स्तरों के बीच संबंधों का निर्वाह सहज रूप से होता रहे। वह उपबंध करता है कि राज्य सरकार की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि संसद द्वारा बनाई गई विधियों का पालन सुनिश्चित हो सके। संघ की कार्यपालिका को राज्यों को ऐसे निर्देश देने का भी अधिकार प्राप्त है जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों।

इसी प्रकार, अनुच्छेद 257 का उपबंध है कि हर राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि वह संघ की कार्यपालिका-शक्ति के प्रयोग में बाधक न हो। संघ इस संबंध में तथा रेलों के संरक्षण एवं राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार-साधनों को बनाए रखने के बारे में आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है। केंद्रीय निर्देशों के पालन में जो अतिरिक्त व्यय राज्य करेगा, केंद्र उसकी भरपाई राज्य को करेगा। अनुच्छेद 261 का उपबंध निर्देश देता है कि भारतीय राज्य क्षेत्र के सभी भागों में संघ तथा राज्यों के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास एवं पूरी मान्यता दी जाएगी। यह बात संघ एवं राज्यों के आपसी संबंधों के सुचारु निर्वाह में अति सहायक होती है। अंतर्राज्यिक नदियों पर संसदीय नियंत्रण तथा अंतर्राज्यिक जल-विवादों के

न्याय-निर्णयन संबंधी उपबंधों के कारण संघ तथा राज्यों के बीच तथा स्वयं राज्यों के बीच संघर्ष की ढेर सारी संभावनाएं समाप्त हो गई हैं (अनुच्छेद 262)। वास्तविकता तो यह है कि संविधान-निर्माता किसी बात की सभावना नहीं छोडना चाहते थे। अतः उन्होंने अतर्राज्यिक परिषदों की व्यवस्था की। अनुच्छेद 263 राष्ट्रपति को अतर्राज्यिक परिषद की स्थापना का अधिकार प्रदान करता है। इन परिषदों का उद्देश्य है कि वे राज्यों के आपसी विवादो तथा राज्यो के या सघ एवं राज्यो के सामान्य हित के आपसी मामलों के बारे म जाच करे और उन्हें सलाह दे और नीति एवं कार्रवाई के बेहतर समन्वय के बारे मे सिफारिशे करे।

अनुच्छेद 258 के अधीन राष्ट्रपति किसी राज्य सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियो को ऐसे किसी विषय से सबधित कृत्य सौप सकेगा जिन पर सघ की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है। इसी प्रकार, अनुच्छेद 258 क के अधीन किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियो को ऐसे किसी विषय मे सबधित कृत्य सौप सकेगा जिन पर उस राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है।

वित्तीय संबंध

सघ तथा राज्यो के बीच वित्तीय सबधो के बारे मे भी हम केंद्रीय प्रधानता वाली भारतीय सघवाद की सामान्य प्रवृत्ति के दर्शन कर सकते है। यह कहा जा सकता है कि वित्तीय दृष्टि से सघ अधिक सशक्त है। सुनियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से देश की उन्नति की तत्परता के स्वरूप को देखते हुए यह स्थिति न केवल वाछनीय बल्कि नितात आवश्यक हो सकती है। लेकिन राज्यो के अपने समाधन है। सहायता-अनुदानो, कतिपय करो के अंश-आगमो आदि के रूप मे सघ राज्यो के लिए सारवान राशियो की व्यवस्था करता है। सविधान का उपबध है कि हर पाचवे वर्ष की समाप्ति पर वित्त आयोग का गठन किया जाए और वह सघ तथा राज्यो के बीच कर-आगमो के वितरण की जांच करे एव सहायता-अनुदान का नियमन करने वाले सिद्धांतों का निर्धारण करे। यह भारतीय संविधान की एक नयी देन है। इसने सघ तथा राज्यो के बीच सामान्यतया सुचारु संबंधों को और भी सहज बनाया है (वित्तीय प्रावधानों के लिए देखिए, अध्याय 16)।

सघ-राज्य संबधो के क्षेत्र मे इस बात पर विषेश बल दिया जाना चाहिए कि संघ-राज्य[1] के स्थान पर 'केंद्र-राज्य'[2] शब्द के गलत प्रयोग के कारण भारी नुकसान हुआ है और व्यापक गलतफहमी फैली है। संविधान में 'केंद्र' शब्द का इस्तेमाल नहीं किया गया।

1. सघ-राज्य (Union-State)
2. केंद्र-राज्य (Centre-State)

वास्तविकता यह है कि 'केंद्रीय सरकार', 'केंद्रीय विधानमंडल', केंद्रीय विधियां' आदि शब्द औपनिवेशिक शासन के केंद्रप्रधान शासन काल की अशुभ थाती के रूप में चले आ रहे हैं। 'केंद्र' तथा 'संघ' शब्द नितांत भिन्न छवियां प्रस्तुत करते हैं और अति भिन्न संकल्पनाओं को दर्शाते हैं। 'केंद्र' किसी परिधि के मध्य का बिंदु हैं और 'संघ' पूर्ण परिधि है। संघ तथा राज्यों का आपसी संबंध वैसा ही है जैसा कि समग्र देह का अपने अंगों से होता है, न कि प्राधिकार के केंद्र और उसकी परिधियों जैसा।

16

वित्तीय उपबंध एवं व्यापार आदि

भाग 5, अध्याय 5 तथा भाग 12 और 13
अनुच्छेद 148-151, 264-307

भारत का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक [1]

प्रशासन का वित्तीय नियंत्रण संसदीय लोकतंत्र का कवच है और वित्तीय नियंत्रण के लिए एक स्वतंत्र लेखापरीक्षा एजेंसी अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। संविधान भारत के एक नियंत्रक-महालेखापरीक्षक का उपबंध करता है। उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। प्रवर्तमान कार्यपालिका शासन से इस पद की स्वतंत्रता को सुनिश्चित किया जा सके, इसके लिए उपबंध किया गया है कि नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को उसके पद से तभी हटाया जा सकेगा जब सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर संसद के प्रत्येक सदन द्वारा, उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष उसी रीति से प्रस्तुत किया जाए जो अनुच्छेद 124(4) के अधीन उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों पर लागू होती है। इसके अलावा, नियंत्रक-महालेखापरीक्षक भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी और पद का पात्र नहीं होगा। उसका वेतन आदि संसद विधि द्वारा निर्धारित करेगी। संशोधित रूप में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (कर्तव्य, शक्तियां एवं सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 तत्संबंधी स्थिति का विनियमन करता है। नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के वेतन आदि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन आदि के बराबर रखे गए हैं। लेखापरीक्षक तथा लेखा विभाग में सेवा करने वाले व्यक्तियों की सेवा की शर्तें और नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की प्रशासनिक शक्तियां ऐसी होंगी जो नियंत्रक-महालेखापरीक्षक से परामर्श करने के बाद राष्ट्रपति द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार निर्धारित की जाएं। नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कार्यालय के प्रशासनिक व्यय भारत की संचित निधि पर

---

1. भारत का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (Comptroller Auditor General of India)

भारित होगे (अनुच्छेद 148)।

सघ तथा राज्यों के लेखाओ को किस रूप में रखा जाए, इसका निर्धारण राष्ट्रपति नियंत्रक-महालेखापरीक्षक की सलाह से करेगा। संघ तथा राज्यों के लेखाओ के बारे में नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कर्तव्यों एवं शक्तियों के निर्धारण का भार संविधान ने संसद पर छोड़ दिया है (अनुच्छेद 149 तथा 150)। लेकिन अनुच्छेद 151 में विनिर्दिष्ट रूप से उपबध किया गया है कि संघ के लेखाओं से संबंधित प्रतिवेदनो को नियत्रक-महालेखापरीक्षक राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करेगा और राष्ट्रपति उन्हें संसद के दोनों सदनो के समक्ष रखवाएगा। इसी प्रकार राज्यो के लेखाओं से संबंधित प्रतिवेदिनो को संबद्ध राज्यों के राज्यपालो के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा और वे संबद्ध विधामंडलों के सदन/सदनों के समक्ष रखे जाएंगे।

वित्त, संपत्ति, संविदाएं और वाद

अनुच्छेद 265 'प्रतिनिधान बिना कराधान नहीं'[1] के स्वस्थ लोकतत्रात्मक सिद्धात का प्रनिपादन करता है और स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि केवल विधि के प्राधिकार से ही करों को लगाया जा सकता है।

संचित निधि[2] : 'आकस्मिकता निधि' तथा राज्यो के लिए आवंटनों के लिए आवश्यक धन के अतिरिक्त, भारत सरकार को राजस्वों या उसके द्वारा लिए गए करों आदि से भारत को जो भी धन मिलेगा उससे भारत की संचित निधि बनेगी। इसी प्रकार, सभी राज्यों के लिए अन्य सभी धनराशिया संघ या संबद्ध राज्य के लोक खातो मे जमा की जाएंगी। विधि के प्राधिकार के बिना संचित निधि से कोई राशि नहीं निकाली जाएगी। लोक खातों[3] पर यह प्रतिबंध लागू नहीं होता (अनुच्छेद 266)।

आकस्मिकता निधि[4] : ऐसी आकस्मिक परिस्थितियों का सामना करने के लिए जिनके अधीन अकस्मात कुछ व्यय करना जरूरी हो जाए, अनुच्छेद 267 संसद तथा राज्यो के विधानमंडलों को अपनी अपनी 'आकस्मिक निधियां' स्थापित करने का प्राधिकार देता है। आकस्मिकता निधि संघ या राज्य सरकार (राष्ट्रपति या राज्यपाल) के हाथ मे रखी जाती है ताकि वे अप्रत्याशित व्यय की पूर्ति के वास्ते तब तक के लिए अग्रिम धन दे सके जब तक कि विधानमंडल उसे प्राधिकृत नहीं कर देते।

संघ और राज्यों के बीच राजस्वों का वितरण : संघ एव राज्यों के बीच राजस्वों

1. 'प्रतिनिधान बिना कराधान नहीं' (No Taxation without Representation)
2. संचित निधि (Consolidated Fund)
3. लोक खाते (Public Accounts)
4. आकस्मिकता निधि (Contingency Fund)

के वितरण की एक योजना का उपबंध अनुच्छेद 258-273 में किया गया है। उसके अनुसार राज्य द्वारा उद्गृहीत सभी करो के आगम संबद्ध राज्य पूर्णतया स्वयं अपने पास रखेंगे जबकि सघ सूची में शामिल कर अंशतया राज्यों को आवंटित किए जा सकते हैं।

जिन करो पर सघ का अनन्य अधिकर है, उनमें सीमा शुल्क,[1] निगम-कर[2] आस्तियो के पूंजीगत मूल्य पर कर,[3] आयकर पर अधिभार[4] आदि एवं सूची के विषयो से संबंधित कर शामिल हैं।

जिन करो पर राज्य का अनन्य अधिकार है, उनमें ये मदें शामिल हैं यथा भू-राजस्व, राज्य सूची में शामिल मदो पर स्टाप शुल्क, अतर्देशीय जलमार्गो से ढोए जाने वाले यात्रियो एव माल पर कर, भूमि एव भवन, खनिज अधिकार, पशु एव नौकाए, सडक पर चलने वाले वाहन, विज्ञापन, बिजली की खपत, विलास सामग्री मनोरजन आदि, स्थानीय क्षेत्र मे माल के प्रवेश पर कर, राज्य चुगी कर, राज्य-सूची के मामलों से सबंधित शुल्क और 2500 रुपये प्रति वर्ष से अनधिक व्यवसाय, व्यापार आदि पर कर (अनुच्छेद 276 तथा सातवीं अनुसूची की सूची 2, प्रविष्टि 60)। विनिमय पत्रों आदि पर स्टांप शुल्क तथा संघ सूची मे वर्णित औषधीय और प्रसाधन-निर्मितियों पर उत्पादन-शुल्कों का उद्ग्रहण तो संघ करेगा लेकिन उनका सग्रह एव विनियोजन राज्य करेगे और सघ-राज्य क्षेत्रों के अलावा वे उनके आगमों के अश होगे (अनुच्छेद 268)। वे सब शुल्क तथा कर जो विधि द्वारा संसद के विनिश्चय के अनुसार सबद्ध राज्यो को सौपे जाएगे और उनके बीच वितरित किए जाएगे, इस प्रकार हैं : कृषि-भूमि से इतर सपत्ति के सबध मे सपदा शुल्क, रेल, समुद्र या वायु मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले भाडों पर कर, स्टाक-एक्सचेजो और वायदा-बाजारो के सौदो पर कर, समाचार पत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनो पर कर; समाचार पत्रो से इतर माल के अतर्राज्य-क्रय-विक्रय पर कर; माल के अतर्राज्य-पारेषण पर कर। लेकिन सघ-राज्य क्षेत्रों को संदेय आगम भारत की संचित निधि के अश होंगे (अनुच्छेद 269)।

संघ सूची में शामिल आयकर तथा उत्पादन-शुल्क जैसे कुछ करों का उद्ग्रहण तथा संग्रह तो संघ करता है लेकिन उनके आगमों का वितरण सघ एवं राज्यों के बीच किया जाता है। वित्त आयोग के गठन के बाद आयोग की सिफारिशो पर विचार करके आयकर से प्राप्त आगमों के वितरण के संबंध में राष्ट्रपति का आदेश जारी किया जाएगा।

---

1. सीमा शुल्क, (Customs Duty)
2. निगम-कर (Corporation Tax)
3. आस्तियों के पूजीगत मूल्य पर कर (Taxes on Capital Values of Assets)
4. आयकर पर अधिभार (Su rchrage on Income Tax)

उत्पादन-शुल्क के मामले मे आगमों के वितरण का निर्धारण संसद विधि द्वारा करेगी (अनुच्छेद 270-272)।

अनुच्छेद 273, 275 तथा 282 में तीन प्रकार के सहायता-अनुदानो तथा उन परिस्थितियो का उपबंध है जिनमे सघ यह अनुदान राज्यों को दे सकता है। जैसे, जूट पर तथा जूट उत्पादो पर निर्यात शुल्क के बदले में असम, बिहार, उड़ीसा, तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों को संघ अनुदान दे सकता है (अनुच्छेद 273)। किसी भी जरूरतमंद राज्य को जैसा आवश्यक समझा जाए, अनुदान दिए जा सकते हैं (अनुच्छेद 275)। अनुच्छेद 282 के अधीन सघ अथवा राज्य किसी लोक प्रयोजन के लिए अनुदान दे सकता है, भले ही वह प्रयोजन संघ अथवा संबद्ध राज्य की विधायी अधिकारिता से परे हो।

अनुच्छेद 274 अपेक्षा करता है कि ऐसे कराधान पर प्रभाव डालने वाले विधेयको के बारे में, जिनसे राज्यो का हित जुड़ा हो, राष्ट्रपति की पूर्व सिफारिश आवश्यक होगी।

राज्यो के विधानमंडल विधि द्वारा व्यवसायो, व्यापारो, धधो अथवा रोजगार पर कर लगा सकते है। लेकिन किसी व्यक्ति द्वारा देय इन करो की राशि 2500 रुपये प्रति वर्ष से अधिक नहीं होगी। व्यवसायो आदि से होने वाली आय के बारे मे विधि बनाने की ससद की शक्ति पर उपबंध का प्रभाव नहीं पड़ेगा (अनुच्छेद 276)।

वित्त आयोग[1] : अनुच्छेद 280 का उपबध है कि हर पाचवे वर्ष की समाप्ति पर राष्ट्रपति एक वित्त आयोग का गठन करेगा जिसमें एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होंगे। आयोग राष्ट्रपति को इस बारे मे सिफारिशें करेगा कि संघ तथा राज्यो के बीच आगमों का वितरण किस प्रकार किया जाए। वह इस बारे में भी सुझाव देगा कि भारत की संचित निधि से राज्यों को सहायता अनुदान किन सिद्धातों के आधार पर दिए जाए। राष्ट्रपति आयोग की सिफारिशो को तथा उन पर की गई कार्यवाही को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाएगा (अनुच्छेद 280-281)।

प्रकीर्ण वित्तीय उपबंध

संचित निधियों, आकस्मिकता निधियो तथा लोक खातो में जमा धनराशियों की अभिरक्षा आदि का विनियमन संसद तथा प्रत्येक सबद्ध राज्य विधानमंडल करेगा (अनुच्छेद 283)।

लोक सेवकों तथा न्यायालयों द्वारा प्राप्त वादकताओं की जमा राशियों तथा अन्य राशियों को, यथास्थिति, सघ अथवा राज्यो के लोक खातों मे जमा किया जाएगा (अनुच्छेद 284)।

संघ की संपत्ति को राज्यों के करों से छूट होगी तथा उसी प्रकार, राज्यों की संपत्ति को संघ के करों से छूट होगी (अनुच्छेद 285 तथा 289)।

---

1. वित्त आयोग (Finance Commission)

अनुच्छेद 286-288 में प्रावधान है कि राज्य के बाहर बिजली या जल की खपत या बिक्री पर, माल के क्रय-विक्रय पर अथवा निर्यात एव आयात पर राज्य कर नहीं लगाएंगे।

अनुच्छेद 290 में बताया गया है कि किसी न्यायालय या आयोग के कतिपय व्ययो की तथा संविधान के प्रारंभ से पूर्व सेवारत व्यक्तियों की पेशनो की अदायगी के बारे में संघ एवं राज्य सरकारों के बीच समायोजन किस प्रकार किया जाए। अनुच्छेद 290 क का उपबंध है कि तिरुवाकुर तथा तमिलनाडु की देवस्वम् निधियों को इन राज्यो की संचित निधियो मे से कुछ धनराशिया दी जाएगी।

उधार लेना : सघ की कार्यपालिका-शक्ति के अनुसार ससद द्वारा विधि के अधीन नियत सीमाओ के भीतर भारत की संचित निधि से उधार लिया जा सकता है (अनुच्छेद 292)। कोई राज्य भी राज्य विधानमडल द्वारा नियत सीमाओ के भीतर इसी प्रकार उधार ले सकता है। भारत सरकार उधार सबंधी अपनी शक्तियो के भीतर किसी राज्य को उधार दे सकती है या राज्य द्वारा लिए गए उधार के बारे में गारटी दे सकती है। जब तक ऐसा कोई उधार बकाया रहता है तब तक राज्य सरकार भारत सरकार की सहमति के बिना कोई उधार नही ले सकती (अनुच्छेद 293)।

संपत्ति, संविदाएं, अधिकार, दायित्व, बाध्यताएं और वाद : अनुच्छेद 294, 295 और 296 का उपबध है कि संविधान के प्रारंभ से पूर्व जो सपत्ति, आस्तिया, अधिकार, दायित्व एव बाध्यताए डोमिनियन की सरकार में या किसी प्रात मे या किसी देसी रियासत मे निहित या प्रोद्भावी थीं, वे सघ अथवा सबद्ध राज्य में निहित होंगी।

राज्य क्षेत्रीय सागर-खड[1] या महाद्वीपीय मग्नतट भूमि[2] की मूल्यवान चीजे या अनन्य आर्थिक क्षेत्र के संसाधन सघ मे निहित होगे (अनुच्छेद 297)।

सघ की तथा प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार व्यापार या कारोबार करने और सपत्ति का अर्जन, धारण और व्ययन तथा संविदा करने पर भी होगा परंतु वह सबद्ध राज्य विधानमंडल द्वारा बनाई गई विधि के अधीन होगा (अनुच्छेद 298)। जाहिर है कि यह अनुच्छेद, अनुच्छेद 245 के अलावा कार्यपालिका-शक्ति का स्वतंत्र अथवा अतिरिक्त स्रोत है। उच्चतम न्यायालय ने *खजानसिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* (ए आई आर 1974 एस सी 669) में निर्णय दिया कि अनुच्छेद 298 के अधीन राज्य की शक्ति का अर्थ है कि दूसरे राज्यो में भी व्यापार किया जा सकता है (*अनराज बनाम महाराष्ट्र राज्य* ए आई आर 1984, एस सी 781 भी देखिए)।

संघ या राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग करते हुए जो भी संविदाए की जाएंगी, वे सभी (1) यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल के नाम से की जाएंगी और (2) ऐसे

---

1. राज्य क्षेत्रीय सागर-खंड (Territorial Waters)
2. महाद्वीपीय मग्नतट भूमि (Continental Shelf)

अधिकारियों द्वारा एवं (3) ऐसी रीति से की जाएंगी जिन्हे वह निर्दिष्ट करे। राष्ट्रपति या राज्यपाल या संविदा आदि करने वाले व्यक्तियों का कोई व्यक्तिगत दायित्व नही होगा (अनुच्छेद 299)। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अनुच्छेद 299 आदेशात्मक है और कोई **संविदाए** आदि तभी वैध होगी जब वे इस प्रावधान की अपेक्षाओं के अनुसार की जाएगी (*बिहार एफ. जी. एफ. कोआपरेटिव सोसाइटी बनाम सिपाही सिंह* ए आई आर 1977 **एस सी** 2149 , *मूलनचन्द बनाम मध्य प्रदेश राज्य,* ए आई आर 1968 एस सी 1818, *पश्चिमी बंगाल राज्य बनाम बी.के. मोडल,* ए आई आर 1962 एस सी 779; *करमशी बनाम बंबई राज्य,* ए आई आर 1964 एस सी 1714)।

भारत सरकार अथवा कोई राज्य सरकार अपने नाम से कोई वाद ला सकेगी या उस पर वाद लाया जा सकेगा लेकिन ऐसा वाद ससद या राज्य विधानमडल द्वारा बनाई गई विधि के अधीन होगा। यदि भारत डोमिनियन किसी वाद मे एक पक्षकार थी तो उसके स्थान पर भारत संघ को प्रतिस्थापित किया जाएगा और यदि कोइ प्रात या देसी रियासत एक पक्षकार थी तो उसके स्थान पर तत्स्थानी राज्य को प्रतिस्थापित किया जाएगा (अनुच्छेद 300)।

संपत्ति का अधिकार : मूलतया सविधान म अनुच्छेद 19 (च) तथा 31 के अधीन संपत्ति का समावेश मूल अधिकार के रूप मे किया गया था। 44वे सविधान सशोधन के द्वारा 20 जून, 1979 से अनुच्छेद 19(च) तथा 31 का विलोपन कर दिया गया। इसके साथ ही एक नया अनुच्छेद 300 क जोड़ा गया। उसमे कहा गया कि किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से विधि क प्राधिकार मे ही वचित किया जाएगा अन्यथा नही। अत संपत्ति का अधिकार मूल अधिकार तो नही रहा लेकिन सवैधानिक एव कानूनी अधिकार बना रहा। अनुच्छेद 300 क के अधीन अधिकार के उल्लघन की दशा मे, जहा अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की रिट-अधिकारिता का अवलब नही किया जा सकता, वहा निश्चय ही अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय का द्वार खटखटाया जा सकता है। अनुच्छेद 300 क के अधीन पारित किसी विधि की वैधता को चुनौती इस आधार पर दी जा सकती है कि किसी नागरिक को उसकी सपत्ति से वचित करने क लिए मुआवजे के भुगतान के बारे म कोई व्यवस्था नही की गई है (*विशबर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य* ए आई आर 1982 एस सी 33; *मेनका गांधी बनाम भारत संघ,* ए आई आर 1978 एस सी 597) ("मूल अधिकार" के अधीन भी देखिए)।

व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 301 में उपबंध किया गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र मे व्यापार और समागम सर्वत्र अबाध रूप से होगा। लेकिन संसद विधि द्वारा राज्यों के बीच आपसी व्यापार, वाणिज्य

तथा समागम पर लोकहित में प्रतिबंध लगा सकती है (अनुच्छेद 301 और 302)। न तो संसद और न ही राज्य विधानमडल द्वारा ऐसी विधि बनाई जा सकती है जो व्यापार एव वाणिज्य के मामले मे एक राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान देती हो, लेकिन संसद विधि द्वारा ऐसे विभेद को प्राधिकृत कर सकती है जो भारत के किसी भाग में माल की कमी की स्थिति से निपटने के लिए आवश्यक हो जाए (अनुच्छेद 303)।

व्यापार की स्वतंत्रता आदि पर ऐसा प्रतिबंध नही लगना चाहिए जो व्यापारिक गतिविधि के अबाध प्रवाह में सीधी या तत्काल बाधा डालता हो। व्यापार की सुविधा के लिए विनियामक विधेयको या कर लगाने वाले प्रतिकरात्मक विधान को व्यापार की स्वतत्रता का हरण करने वाला नही माना जा सकता। व्यापार की स्वतत्रता सबधी उपबध मे राज्यो के बीच व्यापार तथा राज्य के भीतर व्यापार दोनो ही शामिल है। व्यापार, वाणिज्य तथा समागम मे माल और व्यक्तियो का आना जाना शामिल है। (*अतियाबाड़ी टी कंपनी बनाम असम राज्य*, ए आइ आर 1961 एस सी 237; *आटोमोबाइल ट्रासपोर्ट बनाम राजस्थान राज्य*, ए आई आर 1962 एस सी 506, *बिहार राज्य बनाम हरिहर प्रसाद देबुका* (1989) 3 एस सी सी)।

अनुच्छेद 301 के अधीन व्यापार की स्वतत्रता आदि पर अनुच्छेद 302 और 303 के अधीन लगाए गए प्रतिबधो का अकुश है। इसके अलावा अनुच्छेद 304 के अधीन कोई राज्य किसी दूसरे राज्य से आने वाले माल पर कर लगा सकता है, यदि राज्य के भीतर बनने वाले वैसे ही माल पर वैसा ही कर लगता है ताकि सुनिश्चय किया जा सके कि दूसरे राज्य से आने वाले माल तथा राज्य के भीतर निर्मित माल के बीच कोई विभेद न हो। राज्य विधि द्वारा लोकहित मे भी प्रतिबध लगा सकता है लेकिन इस प्रयोजन के लिए विधेयक, केवल राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से ही पुरःस्थापित किया जा सकता है। वर्तमान कानूनो एव राज्यो के एकाधिकार वाले कानूनो पर अनुच्छेद 301 और 303 की किसी बात का कोई प्रभाव नही पड़ेगा (अनुच्छेद 305)।

अनुच्छेद 307 का उपबध है कि अनुच्छेद 301-304 के उपबंधों को कार्यरूप देने के लिए संसद उपयुक्त प्राधिकारी की नियुक्ति करे।

17

आपात उपबंध

भाग 18, अनुच्छेद 352-360

'आपात' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह 'ऐसी कठिन स्थिति है जो अचानक पैदा हो गई है और जिसका तकाजा है कि लोक प्राधिकारी ऐसी संकट की स्थिति का सामना करने के लिए सविधान द्वारा या अन्यथा उन्हें विशेष रूप से प्रदत्त शक्तियों के अधीन तुरत कार्रवाई करें।'

हमारे संविधान निर्माताओं का विचार था कि असाधारण परिस्थितिया पैदा हो सकती हैं और उनमें संविधान की सामान्य योजना नहीं चल सकेगी और संविधान के कतिपय भागो या उपबंधो के प्रवर्तन का निलबन जरूरी हो जाएगा ताकि राष्ट्र की स्वाधीनता एव सुरक्षा तथा संविधान एव लोकतत्र-प्रणाली का सरक्षण किया जा सके।

डा अंबेडकर का दावा था कि भारतीय संघ अनोखा है क्योंकि किसी अन्य सघ के विपरीत, आपातकाल मे वह अपना रूपांतर पूर्णतया एकात्मक राज्य के रूप में कर सकता है। इस दृष्टिकोण को उच्चतम न्यायालय ने *गुलाम सरवर बनाम भारत सघ* (ए आई आर 1967 एस सी 1335) मे उचित ठहराया।

संक्षेप में, संविधान के आपात उपबंधो में दो प्रकार की आपात स्थितियों की परिकल्पना की गई है अर्थात (1) युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण अनुच्छेद 352 के अधीन राष्ट्रीय आपात और (2) अनुच्छेद 360 के अधीन वित्तीय आपात। तीसरे प्रकार की स्थिति वह स्थिति है जो अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य विशेष में संवैधानिक तत्र के विफल हो जाने से पैदा होती है और वहां राष्ट्रपति का शासन आवश्यक हो जाता है। भले ही इस स्थिति का समावेश 'आपात उपबध' संबंधी भाग के अधीन किया गया है पर वस्तुतया उसे आपात स्थिति नहीं माना जा सकता।

राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा

अनुच्छेद 352 उपबंध करता है कि यदि मंत्रिमंडल के निर्णय की लिखित संसूचना प्राप्त

होने के बाद राष्ट्रपति का समाधान हो जाता है कि ऐसा गंभीर आपात विद्यमान है जिससे युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत अथवा उसके किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह समूचे भारत या उसके किसी भाग के बारे में आपात की उद्घोषणा कर सकेगा। वह विभिन्न आधारों पर विभिन्न उद्घोषणाएं जारी कर सकता है। यह अपेक्षा की जाती है कि आपात की हर उद्घोषणा को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा और राष्ट्रपति द्वारा उसे जारी किए जाने की तिथि से एक मास की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि इस बीच दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन न कर दिया गया हो। लेकिन एक बार संसद द्वारा अनुमोदित कर दिए जाने पर उद्घोषणा एक बार में 6 मास के लिए प्रवर्तन में बनी रह सकती है, यदि उससे पहले किसी उत्तरवर्ती उद्घोषणा द्वारा उसे राष्ट्रपति रद्द न कर दे। आपात की उद्घोषणा को या उसे जारी रखने का अनुमोदन करने वाले संकल्पो को ससद के प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उस सदन के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के कम-से-कम दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित करना होगा। यदि लोक सभा उद्घोषणा का या उसे जारी रखने का अनुमोदन करने वाला सकल्प पारित कर दे तो वह तत्काल रद्द हो जाएगी। यदि लोक सभा की कुल सदस्य संख्या के कम-से-कम दसवें भाग द्वारा हस्ताक्षर करके किसी संकल्प की सूचना राष्ट्रपति/अध्यक्ष को दी जाती है तो उस पर विचार करने के लिए 14 दिन के भीतर लोक सभा की विशेष बैठक की जाएगी।

संविधान (44वा संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा 1978-79 मे अनुच्छेद 352 के उपबधों को और कठोर बना दिया गया। उक्त अधिनियम 20 जून, 1979 से लागू हुआ। आतरिक अव्यवस्था के आधार पर 25 जून, 1975 को घोषित आपात के कटु अनुभव के बाद ऐसा किया गया। आपात उपबंधो के दुरुपयोग को रोकने के लिए 'आतरिक अव्यवस्था' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द रखे गए। राष्ट्रपति द्वारा उद्घोषणा जारी किए जाने के लिए सघीय मंत्रिमंडल के निर्णय की लिखित संसूचना को अनिवार्य पूर्व-शर्त बना दिया गया। आपात उपबधो की समूची प्रक्रिया को सुव्यवस्थित कर दिया गया ताकि ससद के विशेषतया लोक सभा के अनुमोदन पर निर्भरता को सुनिश्चित किया जा सके।

अनुच्छेद 365 के साथ पठित अनुच्छेद 353 का उपबध है कि एक बार जब आपात की उद्घोषणा कर दी जाती है तो संघ की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार राज्य की कार्यपालिका-शक्तियो के प्रयोग के संबंध में किसी राज्य को निदेश दिए जाने पर हो जाता है और निदेशो का पालन करने में असफलता को अनुच्छेद 365 के अधीन राष्ट्रपति का शासन लागू किए जाने के लिए पर्याप्त औचित्य माना जाएगा।

आपात के प्रवर्तन के दौरान संसद को यह विधायी शक्ति भी मिल जाती है कि वह उन मामलों के बारे में जिनका अन्यथा समावेश संघ सूची में नहीं है, संघ के प्राधिकारियों

को विधि द्वारा शक्तिया प्रदान करे और उन्हें कर्तव्य सौंपे।

अनुच्छेद 354 के अधीन, आपात के प्रवर्तन के दौरान (अनुच्छेद 268-279) राजस्वों के वितरण के संबंध में उपबंधों की प्रयुक्ति मे समुचित उपांतरण किए जा सकते हैं। अनुच्छेद 358 आपात की स्थितियों के दौरान अनुच्छेद 19 के उपबधो के निलबन का उपबंध करता है जबकि अनुच्छेद 359 राष्ट्रपति को प्राधिकार देता है कि वह संविधान के भाग 3 के प्रत्याभूत सभी मूल अधिकारों के प्रवर्तन को आदेश द्वारा निलबित कर दे, पर अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन अपराधो की दोषसिद्धि के सरक्षण तथा जीवन एव स्वातत्र्य के संरक्षण से संबंधित अधिकार इसके अपवाद होगे।

अनुच्छेद 358 और 359 के अधीन शक्तियो के प्रयोग का प्रभाव यह है कि न केवल विधायिका बल्कि कार्यपालिका भी व्यक्तियो के मूल अधिकारो मे हस्तक्षेप कर सकती है, सिवाय उन अधिकारो के जो अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन दिए गए है।

अनुच्छेद 358 और 359 के अधीन पारित किसी विधि की वैधता के लिए अनिवार्य है कि उसमे इस आशय का कथन होगा कि उसका सबध प्रवर्तमान आपात की उद्घोषणा से है। यह भी कि जैसे ही आपात समाप्त हो जाता है या राष्ट्रपति के आदेश का प्रभाव समाप्त हो जाता है वैसे ही मूल अधिकारो के अधीन अक्षमता की मात्रा तक ऐसी सभी विधिया प्रभावहीन हो जाएगी।

भारत मे राष्ट्रीय आपात की तीन उद्घोषणाए की गई है। एक अक्तूबर 1962 मे चीनी आक्रमण के समय की गई, दूसरी दिसबर, 1971 मे पाकिस्तान से युद्ध के समय की गई और तीसरी जून, 1975 मे आतरिक अव्यवस्था के आधार पर की गई। आपात की अवधियो के दौरान अनेक विधियो के अधीन सरकार ने असाधारण शक्तिया ग्रहण कर लीं और ससद ने सविधान-सशोधन पारित किए।

विशेषतया आतरिक आपात की अवधि के दौरान शक्तियो के दुरुपयोग की व्यापक आलोचना की गई। उसके बाद हुए आम चुनावो मे इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली सत्तारूढ कांग्रेस (आई) हार गई और जनता दल की सरकार बनी। सविधान (44वा सशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा अनुच्छेद 19 के निलबन को युद्ध या बाह्य आक्रमण की स्थिति तक सीमित कर दिया गया यानी उन अवस्थाओं मे जहा आपात की उद्घोषणा 'सशस्त्र विद्रोह' के आतरिक आधार पर की जाए, वहा अनुच्छेद 19 के अधीन स्वतत्रता के अधिकार को छीना नहीं जा सकता। उसी सशोधन मे यह भी उपबध किया गया कि किसी भी परिस्थिति मे, यहां तक कि आपात मे भी, अनुच्छेद 20 और 21 के अधीन अधिकारों के प्रवर्तन को रोका नही जा सकता।

1978 के सशोधन से पूर्व उच्चतम न्यायालय ने आपात उपबंधों से संबंधित अनेक मामलों का फैसला किया। इनका संबंध उन मामलो से था जो 1962 और 1971 में उद्घोषित

पहले और दूसरे आपातों के दौरान पैदा हुए। न्यायालय ने राष्ट्रपति के उस आदेश को वैध ठहराया जिसमे अनुच्छेद 21 और 22 के उपबधों के प्रवर्तन के लिए न्यायालय में जाने के नागरिक के अधिकार को निलंबित कर दिया गया था (*मोहन चौधरी बनाम मुख्य आयुक्त*, ए आई आर 1964 एस सी 173)। *माखनसिंह बनाम पंजाब राज्य* (ए आई आर 1964 एस सी 381) में न्यायालय ने प्रयास किया कि नागरिकों के मूल अधिकारो का सतुलन आपात के उपबंधो तथा राज्य की सुरक्षा सबधी जरूरतो से किया जाए। जहां उसने यह स्वीकार किया कि यदि राष्ट्र की सुरक्षा खतरे में हो तो व्यक्तिगत अधिकारों को राज्य के लिए मार्ग छोड़ना ही होगा, वहां न्यायालय ने कहा :

> आपात की उद्घोषणा कब तक जारी रहे और आपात के दौरान नागरिकों के मूल अधिकारो पर क्या प्रतिबध लगाए जाए, ये ऐसे मामले है जिनका भार अनिवार्यतया कार्यपालिका पर ही छोडना होगा, क्योंकि कार्यपालिका स्थिति की जरूरतो को जानती है। वही जानती है कि गभीर सकटो के दौरान बाध्यकारी कारणो का प्रभाव क्या होगा।

लेकिन न्यायालय ने यह भी कहा कि उसे उस आपात विधान की वैधता को निरखने एव परखने का अधिकार है, जिसके अधीन व्यक्तियो को दुर्भावना से या कार्यपालिका को अत्यधिक अधिकार दिए जाने के कारण निरुद्ध किया गया है। एक अन्य मामले में न्यायालय ने उस कानून की वैधता को उचित ठहराया जिसके अधीन कार्यपालिका को कठोर शक्तिया दी गई और विचार प्रकट किया कि मुकदमा चलाए बिना निरुद्ध करने की शक्ति मूलतया कार्यपालिका का कार्य है और उसकी न्यायिक पुनरीक्षा नहीं की जा सकती (*साधू सिंह बनाम दिल्ली प्रशासन* ए आई आर 1966 एस सी 91)। *महाराष्ट्र राज्य बनाम प्रभाकर पाडुरंग साङ्गगिरि* (ए आई आर 1966 एस सी 424) मे न्यायालय ने निरुद्ध शक्ति की स्वतत्रता को उचित ठहराया और कहा कि वह अपनी पुस्तक को प्रकाशन के लिए जेल से बाहर भेज सकता है, क्योंकि इसे रोकने के सरकारी आदेश और आपात नियमों को लागू करने के प्रयोजन के बीच कोइ सबध नहीं है। इस दृष्टिकोण को *के. आनंद नम्बियार बनाम मुख्य सचिव* (ए आई आर 1966 एस सी 657) मे दोहराया गया। वहा न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने इस बात पर बल दिया कि आपात के प्रवर्तन के दौरान भी, मूल अधिकारो के प्रवर्तन को निलबित करने वाले राष्ट्रपति के आदेश के प्रभाव पर विचार करते समय, आदेश को कठोरता से नागरिक के मूल अधिकारों के पक्ष में होना चाहिए। *राम मनोहर लोहिया बनाम बिहार राज्य* (ए आई आर 1966 एस सी 740) में यह निर्णय दिया गया कि निरोध का आदेश अनिवार्यतया प्रथम दृष्ट्या उचित होना चाहिए; 'विधि एव व्यवस्था बनाए रखने' को 'लोक व्यवस्था बनाए रखने' के बराबर नहीं माना जा सकता और भारत सुरक्षा नियमों के अधीन की गई कार्रवाई तभी वैध होगी जब उसे 'लोक व्यवस्था के हित में' किया जाए, न कि केवल 'विधि एवं व्यवस्था की सहायता में' किया जाए। आपात

के दौरान राज्य-सुरक्षा के सर्वोच्च हित का संरक्षण करते समय स्वतंत्रता संबंधी नागरिक के अधिकारों को छीना नहीं जा सकता। उसके लिए भारत सुरक्षा नियमों में विनिर्दिष्ट औचित्यपूर्ण आवश्यकता होनी ही चाहिए। इस आधार पर न्यायालय ने कहा कि निरोध 'स्पष्टतया तथा प्रत्यक्षतया दुर्भावनापूर्ण है' (*जी. सदानन्दन बनाम केरल राज्य,* 1966 एस सी 1925)। *पी.एल. लखनपाल बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1967 एस सी 1507) में, साधूसिंह के मामले में निर्णय को अनुचित ठहराया और कहा कि निरोध के आदेश की पुनरीक्षा के लिए दिए जाने वाले निर्णय पर नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत लागू किए जाने चाहिए। *मध्य प्रदेश राज्य बनाम भरतसिंह* (ए आई आर 1967 एस सी 1170) में न्यायालय ने और आगे बढ़कर कहा :

> कार्यपालिका की कोई भी कार्रवाई जो किसी व्यक्ति के प्रतिकूल पड़ती हो, निश्चय ही विधि के प्राधिकार से समर्थित होनी चाहिए। अनुच्छेद 358 की शर्तें इस नियम के प्रभाव को कम नहीं करतीं। अनुच्छेद 358 का आशय यह नहीं है कि नागरिक तथा अन्य लोगों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए राज्य को मनमाना प्राधिकार दे दिया जाए, वह केवल यह उपबंध करता है कि जब तक आपात की उद्घोषणा जारी रहती है, विधियां बनाई जाएं और वैध प्राधिकार के अनुसार कार्यपालिका की कार्रवाई की जाए जो यदि अनुच्छेद 19 के उपबंध लागू होते तो अवैध होती।

मोहम्मद याकूब बनाम जम्मू-कश्मीर राज्य (ए आई आर 1968 एस सी 765) में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्टतया कहा कि इस बात को देखते हुए कि राष्ट्रपति ने राज्य-सुरक्षा के हित में मूल अधिकारों के प्रवर्तन का निलंबन कर दिया है, अनुच्छेद 359 के अधीन शक्ति के प्रयोग तथा भारत की सुरक्षा के बीच कोई संबंध खोजने के लिए नागरिक पुनरीक्षा की कोई गुंजाइश नहीं है। *भूतनाथ बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य* (ए आई आर 1974 एस सी 806) में भी न्यायालय ने कहा कि आपात को जारी रखना अवैध नहीं है। न्यायमूर्ति अय्यर ने कहा कि यह तर्क कि वास्तव में कोई आपात नहीं है, न्यायिक नियंत्रण की परिधि से बाहर है। इस दृष्टिकोण को *हैदराबाद के कलक्टर बनाम इब्राहीम एंड कंपनी* (ए आई आर 1970 एस सी 1275) में दोहराया गया। न्यायालय ने कहा :

> केवल उसी कार्यपालिका आदेश की आलोचना नहीं की जा सकती जिसे, अनुच्छेद 19 में निहित उपबंधों के अलावा, राज्य देने के लिए सक्षम है। कार्यपालिका का कोई काम जो अन्यथा अवैध हो, आलोचना से केवल इसलिए नहीं बच सकता कि वह उस समय किया गया जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में थी।

अनुच्छेद 358 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आपात के दौरान की गई या न की गई कार्रवाइयों को आपात की समाप्ति के बाद भी इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा

सकती कि संबद्ध आपात-विधि ने अनुच्छेद 19 का उल्लंघन किया (*माखनसिंह का मामला*, पूर्व उद्धृत; *बेनेट कोलमैन एंड कंपनी लिमिटेड बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1973 एस सी 106; *ए. कोआपरेटिव एग्रीकल्चरल एंड इंडस्ट्रियल सोसाइटी लिमिटेड बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1976 एस सी 958)।

आंतरिक आपात (1975-77) की उद्घोषणा के दौरान आपात उपबंधों के संदर्भ में उठने वाले मूल अधिकारों के उल्लंघन के मामलों के प्रति उच्चतम न्यायालय के दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन दीख पड़ता है। 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' की दशा में, न्यायालय ने व्यक्तियों के निरोध के मामलों में हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया, क्योंकि उसके विचार में स्पष्ट मंतव्य यह था कि निवारक निरोध पर कार्यपालिका का अनन्य नियंत्रण रहे। निरुद्ध व्यक्ति 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' की रिट के लिए किसी न्यायालय में नहीं जा सकते, यदि प्रथम दृष्ट्या[1] वैध निरोध आदेश विद्यमान था (*अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट बनाम शिवकान्त शुक्ल*, ए आई आर 1976 एस सी 1207)।

भारत संघ बनाम भानुदास (ए आई आर 1977 एस सी 1027) में पुनः न्यायालय ने निर्णय दिया कि अनुच्छेद 359 के अधीन राष्ट्रपति के आदेशों के कारण राष्ट्रीय आपात के दौरान अनुच्छेद 19, 21 और 22 के अधीन व्यक्तिगत आजादी के सभी अधिकारों का निलंबन किया जा सकता है। न्यायालय के इन निर्णयों में से अधिकांश की वैधता समाप्त हो गई जब 44वें संशोधन द्वारा अन्य बातों के अलावा अनुच्छेद 352, 358 और 359 का संशोधन कर दिया गया।

मिनर्वा मिल्स के मामले में यह निर्णय दिया गया कि न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है, यदि यह सिद्ध कर दिया जाए कि संघ सरकार ने दुर्भावना से या संबद्ध तथ्यों के अभाव मे कार्रवाई की। अन्यथा, उपचार केवल राजनीतिक हो सकता है। राष्ट्रपति के समाधान जैसा मामला न्यायालय की परिधि से परे है। शक्ति का प्रयोग केवल तभी संविधान के विरुद्ध होगा जब यह दर्शा दिया जाए कि वस्तुतया कोई समाधान था ही नहीं अथवा समाधान बेतुका, विकृत अथवा दुर्भावनापूर्ण था। निश्चय ही ऐसे मामले में न्यायालय, समिति न्यायिक पुनरीक्षा कर सकते हैं। (*मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ*, ए आई आर 1980 एस सी 1789)।

राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा

संघ का यह संवैधानिक कर्तव्य है कि वह बाह्य आक्रमण तथा आंतरिक अव्यवस्था से अपने राज्यों की रक्षा करे और सुनिश्चित करे कि हर राज्य की सरकार संविधान के अनुसार चलाई जाए (अनुच्छेद 355)। यदि किसी राज्यपाल से रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति

1. प्रथम दृष्ट्या (Prima Facie)

का समाधान हो जाता है कि उस राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता या संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है तो वह उद्घोषणा जारी करके राज्य सरकार के कोई भी कृत्य तथा शक्तियां अपने हाथ में ले सकता है। उनमें राज्यपाल तथा राज्य के अन्य प्राधिकारियों की शक्तियां भी शामिल होगी। निश्चय ही, राष्ट्रपति के समाधान का अर्थ है संघ सरकार का समाधान और राष्ट्रपति का शासन वस्तुतया संघ सरकार का शासन है। यदि कोई राज्य अनुच्छेद 256, 257 या 353 के अधीन संघ सरकार द्वारा जारी किए गए निदेशों का पालन नहीं करता तो राष्ट्रपति यह धारणा बना सकता है कि उस राज्य मे संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है और अनुच्छेद 356 के अधीन राज्य का शासन अपने हाथ में ले सकता है।

उद्घोषणा के अधीन राज्य विधानमडल की शक्तियो का प्रयाग ससद या ससद द्वारा प्राधिकृत व्यक्ति कर सकता है। राज्य विधान सभा का विघटन किया जा सकता है या उसे निलंबित अवस्था में रखा जा सकता है। राष्ट्रपति अन्य सभी आवश्यक उपाय कर सकता है। उसमे उच्च न्यायालयों के सिवाय राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबद्ध किन्हीं संवैधानिक उपबंधो का निलबन भी शामिल है। निश्चय ही, दो मास की समाप्ति पर हर उद्घोषणा समाप्त हो जाएगी, यदि उसका अनुमोदन दोनो सदनो के सकल्पो द्वारा न कर दिया जाए। संसद के अनुमोदन के बाद भी कोई उद्घोषणा एक बार मे 6 मास से अधिक समय तक और कुल मिलाकर तीन वर्ष से अधिक समय तक जारी नहीं रह सकती। इसका एक अपवाद वह उद्घोषणा है जो पंजाब के संबंध मे मई, 1987 मे संविधान (68वां संशोधन) अधिनियम, 1991 के अधीन पाच वर्ष के लिए जारी की गई थी (अनुच्छेद 356)।

अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन के प्रवर्तन के दौरान संसद, राज्य की विधायी शक्तिया राष्ट्रपति को सौंप सकती है और उसे अधिकार दे सकती है कि वह इन शक्तियों को अन्य प्राधिकारियो को दे दे (अनुच्छेद 357)।

अनुच्छेद 356, जिसके अधीन संघ, राज्यो पर राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता है, संविधान का सर्वाधिक आलोचित एवं विवादग्रस्त उपबध रहा है। इस उपबध के अधीन विगत 45 वर्षों में संघ ने राज्यो का शासन कोई 100 बार अपने हाथ मे लिया है। विरोध पक्ष के सदस्यों तथा आलोचकों ने कहा है कि संघ-स्तर पर सत्तारूढ दल ने बहुधा इस अनुच्छेद का प्रयोग राजनीतिक तथा दलगत प्रयोजनों के लिए किया है और सामान्यतया विरोध पक्ष के दलों की राज्य सरकारों को बर्खास्त किया है। संविधान सभा मे इस प्रावधान के आलोचकों का उत्तर देते समय डा. अंबेडकर ने आशा व्यक्त की थी कि हो सकता है कि कभी उसका प्रयोग ही न किया जाए, सिवाय अंतिम चारे के रूप में जब हर अन्य उपाय विफल हो जाए। *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1977 एस सी

1361) में उच्चतम न्यायालय का निर्णय था कि अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा का आधार है राष्ट्रपति का आत्मपरक समाधान और न्यायालय न तो राष्ट्रपति के समाधान के स्थान पर अपना समाधान रख सकता है और न ही वह अनुच्छेद 74 (2) को दृष्टि में रखते हुए मंत्रिपरिषद द्वारा राष्ट्रपति को दी गई सलाह के बारे में जांच-पड़ताल कर सकता है। लेकिन न्यायालय ने एक महत्वूपर्ण बात कही कि यदि राष्ट्रपति का समाधान दुर्भावनापूर्ण हो, विषयेतर या असंगत आधारों पर टिका हो या समाधान का नितांत अभाव हो तो वह हस्तक्षेप कर सकता है। इस प्रकार, अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति की शक्ति के प्रयोग को उस हद तक न्यायिक पुनरीक्षा के अधीन लाया गया।

उच्चतम न्यायालय ने *एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ* (1994 एस सी सी) के निर्णय में 11 मार्च, 1994 को कहा कि राष्ट्रपति शासन केवल ऐसी स्थिति में लागू किया जाना चाहिए जब और कोई इलाज न बचे, हालत असाध्य हो जाए और राज्य का शासन संविधान के अनुसार चल सकना असंभव हो जाए। न्यायालय ने स्पष्टतया निर्णय दिया है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के राष्ट्रपतीय निर्णय की न्यायिक पुनरीक्षा की जा सकती है और यह देखा जा सकता है कि निर्णय सचमुच किसी सामग्री पर आधारित था, और क्या यह सामग्री मामले से संबद्ध थी। एक और महत्वपूर्ण बात यह कही गई कि राज्य की विधान सभा का विघटन तब तक नही किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रपतीय उद्घोषणा का संसद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाए। न्यायालय के अनुसार, यदि विधान सभा भंग कर दी गई हो और सरकार भी बर्खास्त कर दी गई हो और बाद में राष्ट्रपतीय उद्घोषणा को अवैध घोषित किया जाए तो न्यायालय विधान सभा को पुनर्जीवित कर सकता है तथा बर्खास्त की हुई सरकार को बहाल कर सकता है। ऐसा करते समय न्यायालय कह सकता है कि उद्घोषणा के लागू रहते जो निर्णय लिए जा चुके हो या जो काम किए जा चुके हों, वे सब वैध और प्रभावी रहेंगे। निर्णय मे आगे कहा गया है कि मंत्रिपरिषद को सदन के बहुमत का समर्थन प्राप्त है या नहीं, इसका निर्णय सदन मे ही किया जा सकता है। यह मामला किसी के भी–भले ही वह राज्यपाल हो या राष्ट्रपति–व्यक्तिगत अथवा निजी मत का नहीं है।

न्यायालय ने हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान की भारतीय जनता पार्टी की सरकारों की बर्खास्तगी को वैध ठहराया क्योंकि पंथनिरपेक्षता संविधान के मूलभूत ढांचे का अंग है और इन सरकारों के इस सिद्धांत में विश्वास पर गहरा सदेह उत्पन्न हो गया था।

वित्तीय आपात

संविधान के अनुच्छेद 360 में राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि वह उद्घोषणा द्वारा

वित्तीय आपात की घोषणा कर सकता है, यदि उसका समाधान हो जाए कि भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में है। बाद की उद्घोषणा द्वारा इस उद्घोषणा को वापस लिया जा सकता है या उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। इसे संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखना होगा। वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में नहीं रहेगी, यदि इस बीच दोनो सदनों के संकल्पों द्वारा उसका अनुमोदन न कर दिया जाए। एक बार यदि संसद उसका अनुमोदन कर दे तो अनुच्छेद 352 के अधीन की गई उद्घोषणाओं के विपरीत उसे अनिश्चित काल तक जारी रखा जा सकता है, जब तक कि उसे वापस न ले लिया जाए या उसमें परिवर्तन न कर दिया जाए।

वित्तीय आपात के प्रवर्तन के दौरान संघ की कार्यपालिका का प्राधिकार इस बारे में भी होगा कि वह राज्य को वित्तीय औचित्य संबंधी कतिपय विनिर्दिष्ट सिद्धातों का पालन करने के लिए निदेश दे सके और ऐसे अन्य निदेश दे सके जिन्हें राष्ट्रपति जरूरी और उचित समझे। ये निदेश इस बारे में भी हो सकते है कि राज्य की सेवा करने वाले सभी व्यक्तियों के वेतनो तथा भत्तो मे कटौती कर दी जाएं और अनुच्छेद 207 के अधीन धन-विधेयकों तथा अन्य विधेयको को राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित रखा जाए जब वे राज्य विधानमंडलों द्वारा पारित कर दिए जाएं। राष्ट्रपति संघ के कार्यकलापो के संबंध में सेवा करने वाले सभी व्यक्तियों के वेतनों तथा भत्तों मे कमी करने का निदेश भी दे सकता है और उनमे उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीश भी शामिल होंगे।

सौभाग्य से, अभी तक सविधान के प्रवर्तन के विगत लगभग 45 वर्षो (1950-1993) के दौरान वित्तीय आपात लागू करने का एक भी अवसर नहीं आया है।

18

संघ और राज्यों के अधीन सेवाएं

भाग 14-14 क, अनुच्छेद 308-323 ख

सेवाएं

वर्तमान लोकतंत्रात्मक राज्य व्यवस्था में सिविल सेवाए सरकारी तंत्र के अनिवार्य अंग हैं। वस्तुतया ये अराजनीतिक तथा अनिर्वाचित कृत्यकारी ही हैं जो जन-निर्वाचित प्रतिनिधियो के निदेश एव नियत्रण के अधीन एव नियमो तथा सिद्धातो के अनुसार प्रशासन चलाने के लिए उत्तरदायी होते है।

आजादी के समय हमे विरासत मे अखिल भारतीय सेवाओ का एक सुसंगठित साचा-ढाचा प्राप्त हुआ। इसके अलावा केद्रीय, प्रातीय तथा अधीनस्थ सेवाओ की एक सुगठित शृखला भी थी।

भले ही सरकारी सेवाओं सबधी मामलों का विनियमन सामान्यतया विधियो द्वारा किया जा सकता था और सघ एवं राज्यो के कर्मचारियो की भरती तथा सेवा की शर्तो के बारे में ब्यौरेवार नियम-निर्धारण की शक्ति संबद्ध विधानमडलों को सौंप दी गई थी (देखिए, सूची 1 की प्रविष्टि 70 और सूची 2 की प्रविष्टि 41), फिर भी संविधान निर्माताओं ने इसे अति विवेकोचित समझा कि सेवाओं को कुछ आश्वासन दिए जाएं। इसके लिए उन्होंने भरती, पदावधि की सुरक्षा, अनुशासन संबंधी कार्यवाही आदि के मामले मे कतिपय संवैधानिक गारंटियों एवं रक्षा के उपायों की व्यवस्था की। इस सिलसिले में संविधान में एक स्वतंत्र लोक सेवा आयोग के गठन की भी व्यवस्था की गई। संघ तथा राज्यों की सेवाओं के उपबध जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर, समूचे भारत पर लागू होते है (अनुच्छेद 308)।

अनुच्छेद 309 का उपबंध है कि संबद्ध विधानमंडल संविधान के उपबंधों के अधीन संघ तथा राज्यों की सेवाओं की भरती एवं सेवा शर्तों का विनियमन करेंगे। जब तक ऐसी विधियां नहीं बनाई जातीं, तब तक सेवाओं का विनियमन ऐसे नियमो द्वारा किया जाएगा जिन्हें, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल बनाए।

अनुच्छेद 310 में इस सिद्धांत का प्रतिपादन है कि हर सरकारी कर्मचारी, चाहे वह रक्षा सेवा का हो या सिविल सेवा का, अपना पद राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसादपर्यंत धारण करेगा। लेकिन यह संभव है कि संविदा के अधीन, विशेष मामलो में, सेवा को करार से पूर्व समाप्त करने के लिए प्रतिकर का उपबंध किया जाए। इसके अलावा, कतिपय उच्च कृत्यकारियों के लिए विशेष सवैधानिक रक्षोपाय हैं। उनमें उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, मुख्य निर्वाचन आयुक्त, नियंत्रक-महालेखापरीक्षक, लोक सेवा आयोग के सदस्य आदि शामिल हैं। संबद्ध अनुच्छेदों (124, 217, 317, 324 आदि) मे निर्धारित रीति के अलावा उन्हें उनके पदो से नहीं हटाया जा सकता। इसके अलावा, कतिपय श्रेणियों के लोक सेवकों की भरती तथा सेवा की शर्तों के विनियमन के लिए पृथक उपबंध हैं। ये हैं विधानमडल सचिवालयो के अधिकारी एवं कर्मचारी (अनुच्छेद 98 तथा 187); उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के कर्मचारी (अनुच्छेद 146 तथा 299) और भारतीय लेखापरीक्षा तथा लेखा विभाग में सेवा करने वाले व्यक्ति (अनुच्छेद 148)। अनुच्छेद 309 उन पर लागू नहीं होता।

अनुच्छेद 311 का उद्देश्य है कि सिविल सेवकों संबंधी 'प्रसादपर्यत' सिद्धांत के प्रयोग पर कुछ अंकुश रखा जाए। अतः किसी भी सिविल सेवक को उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ कोई प्राधिकारी न तो पदच्युत कर सकता है और न ही हटा सकता है। किसी सिविल सेवक को तभी पदच्युत किया जा सकता है या पद से हटाया जा सकता है या पंक्ति में अवनत किया जा सकता है, जब ऐसी जाच कर ली जाए जिसमे उसे उसके विरुद्ध आरोपों की सूचना दी जाए और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिया जाए। यह सरक्षण रक्षा कर्मचारियों को प्राप्त नहीं है और सिविल कर्मचारियो की दशा में भी यह लागू नहीं होता, यदि दंड पदच्युति, पद से हटाए जाने या पंक्ति में अवनत किए जाने के अलावा कुछ और है। लेकिन अनुच्छेद अस्थायी पदधारी और स्थायी पदधारी के बीच कोई विभेद नहीं करता (*नरसिम्हाचार बनाम मैसूर राज्य,* ए आई आर 1960 एस सी 247; *पुरुषोत्तम बनाम भारत सघ,* ए आई आर 1958 एस सी 36)।

यह माना गया है कि अनुच्छेद 311 के अधीन दिए गए सरक्षण का स्वरूप केवल प्रक्रियात्मक है, वह स्वतत्र सत्ता नहीं रखता। कोई उपचार नहीं रहेगा, यदि प्रक्रिया संबंधी सभी अपेक्षाओं को अच्छी तरह से पूरा कर लिया गया हो। मुख्यतया ये अपेक्षाए इस प्रकार हैं कि (क) जिस सिविल सेवक के विरुद्ध कार्रवाई किए जाने का प्रस्ताव हो, उसके विरुद्ध विनिर्दिष्ट आरोप लगाने ही होंगे; (ख) आरोपों की सूचना औपचारिक रूप से दी ही जाएगी; (ग) आरोपों का उत्तर देने के लिए उसे युक्तियुक्त अवसर दिया ही जाएगा; (घ) उसे इस बात का अवसर दिया ही जाएगा कि वह अपने बचाव के लिए गवाहों से जिरह कर सके और अपने भरोसे के सभी साक्ष्य प्रस्तुत कर सके; और (ङ) मामले में निर्णय का आधार

अनिवार्यतया वे तथ्य तथा सामग्रियां हों जो जांच करने वाले प्राधिकारी के समक्ष प्रस्तुत की जाएं और किसी सामग्री पर तभी विश्वास किया जाए जब संबद्ध सिविल सेवक को उसकी जांच और उसके स्पष्टीकरण का अवसर दे दिया जाए। बुनियादी सिद्धांत यह है कि जांच में नैसर्गिक न्याय के नियमों का पालन किया जाए (*भारत संघ बनाम वर्मा,* ए आई आर 1957 एस सी 882)।

यह निर्णय दिया गया है कि यदि सिविल सेवक के विरुद्ध की गई कार्रवाई के साथ वेतन, भत्तों अथवा पेंशन की हानि जैसे कोई दंडात्मक प्रभाव नहीं हैं तो अनुच्छेद 311 लागू नहीं होगा। शब्द जो भी हों, यदि उनका अर्थ होता है पदच्युति या पद से हटाया जाना तो अनुच्छेद लागू होगा। यदि सेवाएं संविदा की शर्तों या सेवानिवृत्ति के अनुसार या विहित प्रक्रिया के अनुसार अनिवार्य सेवानिवृत्ति के आधार पर समाप्त की जाएं तो अनुच्छेद 311 कोई सरक्षण प्रदान नहीं करेगा। पंक्ति में अवनति की दशा में भी कसौटी यह है कि क्या कोई दंडात्मक प्रभाव अंतर्ग्रस्त है? मूल पद धारण करने वाले किसी व्यक्ति को किसी निम्नतर पद पर तभी लाया जा सकता है जब अनुच्छेद 311 के अधीन जांच आदि की प्रक्रिया का पालन कर लिया जाए। लेकिन यदि स्थानापन्न पद से मूल पद पर प्रतिवर्तन हो तो जब तक कि कोई दंडात्मक प्रभाव न हो, वह अनुच्छेद 311 के प्रयोजनों के लिए पंक्ति में अवनति नहीं माना जाएगा (*पुरुषोत्तम बनाम भारत संघ*)।

लेकिन अनुच्छेद 311 में वर्णित जांच कतिपय दशाओं में नहीं की जाएगी यथा, (क) जब किसी आपराधिक आरोप पर व्यक्ति का दोष सिद्ध हो गया हो; (ख) जहां समुचित प्राधिकारी ने जांच के व्यावहारिक न होने के कारणों को लेखबद्ध कर दिया हो, और (ग) जब, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल का समाधान हो जाए तो राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जाच की जाए।

अखिल भारतीय सेवाएं केंद्र तथा राज्यों की सेवाओं से इस अर्थ में भिन्न हैं कि जहां केंद्रीय सेवाओं के सदस्यों का संबंध केवल संघ के कार्यकलापों से होता है और राज्यों की सेवाओं के सदस्यों का संबंध केवल राज्यों के मामलों से, वहां अखिल भारतीय सेवाओं के सदस्यों का संबंध संघ एवं राज्यों से सम्मिलित रूप से होता है और वे बारी बारी से संघ तथा राज्यों की सरकारों की सेवा करते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा नामक दो सेवाओं का उल्लेख स्वयं संविधान में किया गया है। अनुच्छेद 312 का उपबंध है कि यदि राज्य सभा दो तिहाई बहुमत से यह संकल्प पारित कर दे कि राष्ट्र हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि अखिल भारतीय न्यायिक सेवा समेत एक या उससे अधिक अखिल भारतीय सेवाओं का सृजन किया जाए तो संसद विधि द्वारा ऐसी सेवाओं की व्यवस्था कर सकती है। संसद ने इस अनुच्छेद के अधीन अखिल भारतीय सेवाएं अधिनियम, 1951 बनाया है और उसके अधीन पहले से ही 1948 में गठित

आई.ए.एस. तथा आई.पी.एस. की अखिल भारतीय सेवाओं के अलावा कतिपय अन्य अखिल भारतीय सेवाओं का गठन किया है। अनुच्छेद 312 संसद को यह अधिकार भी देता है कि वह अखिल भारतीय सेवाओं के लिए नियुक्त व्यक्तियों की भरती एवं सेवा की शर्तो का विनियमन करे।

संविधान (28वां संशोधन) अधिनियम, 1972 द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 312 क संसद को अधिकार देता है कि वह संविधान के प्रारंभ से पूर्व भारत में क्राउन की सेवा में नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो में परिवर्तन कर दे या उन्हें रद्द कर दे। अनुच्छेद 313 में संक्रमणकालीन उपबंध है। उसमे कहा गया है कि जब तक अन्यथा उपबंधित न हो, किसी लोक सेवा पर लागू प्रवर्तमान सभी कानून जारी रहेंगे। अनुच्छेद 314 में कतिपय सेवाओं के विद्यमान अधिकारियों को संरक्षण देने का जो उपबध था, उसे 28वें संशोधन द्वारा निरस्त कर दिया गया है।

लोक सेवा आयोग

अनुच्छेद 315 का उपबंध है कि संघ के लिए एक लोक सेवा आयोग और प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक सेवा आयोग होगा। दो या उससे अधिक राज्य संयुक्त आयोग का वरण कर सकते हैं। अनुरोध किए जाने पर सघ लोक सेवा आयोग किसी राज्य की किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी सहमत हो सकता है।

लोक सेवा आयोगों के बारे मे समझा जाता है कि वे स्वतंत्र संवैधानिक संस्थान होते हैं। वे सरकारी या राजनीतिक हस्तक्षेप या नियंत्रण के अधीन नहीं होने। उन पर लोक सेवाओं की भरती एवं प्रबंध के दायित्व का भार होना है। संघ एव राज्यो के सेवा आयोगों के समूचे व्यय संघ की संचित निधि या संबद्ध राज्य की संचित निधि पर भारित होते हैं (अनुच्छेद 322)।

लोक सेवा आयोगो के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति, यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल करता है। यह अनिवार्य है कि उनके कम-से-कम आधे सदस्य संघ या राज्यों की सरकार में दस वर्ष तक सेवा कर चुके हों। सदस्य 6 वर्ष की नियत अवधि तक या संघ आयोग के मामले में पैंसठ वर्ष की आयु तक और राज्य आयोग के मामले में 62 वर्ष की आयु तक पद धारण करेंगे। आयोग के किसी सदस्य को उसके पद से तभी हटाया जा सकता है जब वह दिवालिया हो गया हो, तन या मन से शिथिल हो गया हो, किसी अन्य सवेतन रोजगार पर लग गया हो, सिद्ध कदाचार के आधार पर उच्चतम न्यायालय द्वारा दोषी पाया गया हो, सरकारी संविदा से हितबद्ध हो या ऐसी संविदा या समझौते के लाभों में हिस्सेदार हो। लोक सेवा आयोग का कोई सदस्य अपनी पदावधि समाप्त हो जाने पर पुनः उस पद पर नियुक्ति का पात्र नहीं होता [अनुच्छेद 316-317; *उत्तर प्रदेश लोक*

सेवा आयोग बनाम सुरेश, ए आई आर 1987 एस सी 1953, *हरगोविन्द बनाम रघुकुल,* ए आई आर 1979 एस सी 1109; 317 (1) के अंतर्गत, ए आई आर 1983 एस सी 996]।

अनुच्छेद 318 मे उपबध है कि लोक सेवा आयोग के सदस्य की सेवा की शर्तो में उसकी नियुक्ति के बाद उसके लिए अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल आयोग के सदस्यों एवं कर्मचारियों की संख्या का निर्धारण कर सकता है और उनकी सेवा की शर्तो का विनियमन कर सकता है।

आयोग के सदस्य सरकार के अधीन किसी अन्य नियुक्ति के पात्र नहीं होते, लेकिन किसी राज्य आयोग का अध्यक्ष सघ लोक सेवा आयोग का सदस्य या अध्यक्ष या किसी अन्य राज्य आयोग का अध्यक्ष बन सकता है। सघ लोक सेवा आयोग का सदस्य संघ लोक सेवा आयोग का या राज्य आयोग का अध्यक्ष बन सकता है और राज्य आयोग का सदस्य संघ लोक सेवा आयोग या किसी राज्य आयोग का अध्यक्ष बन सकता है (अनुच्छेद 319)।

संघ लोक सेवा आयोगों के कृत्य इस प्रकार हैं :

1 सघ/राज्य की सेवाओं में नियुक्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करना;
2. सघ/राज्य सरकार से उसकी सेवाओं में व्यक्तियों की नियुक्ति के बारे में सिफारिशें करना;
3. भरती की पद्धति, नियुक्ति संबंधी सिद्धांतों, प्रोन्नतियों, एक सेवा से दूसरी सेवा में अतरणो तथा सिविलियन कर्मचारियों के अनुशासन संबंधी मामलों के बारे में परामर्श देना;
4. ऐसे किसी अन्य मामले पर परामर्श देना जिसे राष्ट्रपति/राज्यपाल निर्देशित करे;
5. अनुरोध किए जाने पर, दो या उससे अधिक राज्यों को संयुक्त भरती की योजनाओं के बारे में मदद देना;
6. राष्ट्रपति/राज्यपाल को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना जो उसे संसद के सदनों/राज्य विधानमंडल के समक्ष रखवाएगा।
7. कोई अन्य कृत्य जिसे संसद/राज्य विधान सभा विधि द्वारा सौंपे।

उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि आयोग का काम केवल सलाह देना है और यदि परामर्श के लिए विनिर्दिष्ट किसी मामले पर सरकार उससे सलाह लेने में विफल रहती है तो उससे प्रभावित लोक सेवक अनुच्छेद 320 के अधीन न्यायालय में उपचार की आशा नहीं कर सकता। लेकिन जहां विधि या विनियम द्वारा सलाह का उपबंध है, वहां वह कानूनी दायित्व होगा (अनुच्छेद 320-321 और 323; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम श्रीवास्तव,* ए आई

आर 1957 एस सी 912; *उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजस्थान,* ए आई आर 1988 एस सी 162, *केशव बनाम उत्तर प्रदेश* एच ई एस सी (1985) आई एस सी सी 671; *नीलिमा बनाम हरियाणा राज्य,* ए आई आर 1987 एस सी 169)।

प्रशासनिक अधिकरण

संविधान (42वां संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा नया भाग-14 क तथा अनुच्छेद 323 क और 323 ख जोड़े गए। इसमें संसद तथा राज्य विधानमंडलों को शक्ति दी गई है कि वे विधि द्वारा प्रशासनिक अधिकरणों का गठन कर सकते हैं। ये अधिकरण लोक कर्मचारियों की भरती तथा सेवा की शर्तो से संबद्ध सेवा के सभी मामलों में विवादों तथा शिकायतों का अधिनिर्णयन कर सकते हैं। इस प्रकार के प्रशासनिक अधिकरणों का गठन किया गया है। उन पर सेवा संबंधी मामलों से उत्पन्न विवादों में उच्चतम न्यायालय के सिवाय अन्य किसी न्यायालय की अधिकारिता नही होगी।

19

निर्वाचन

भाग 15, अनुच्छेद 324-329 क

देश की आजादी के बाद सबसे बड़ी क्रांति यह थी कि लोक सभा तथा राज्यों की विधान सभाओ के निर्वाचन के लिए सार्वजनीन वयस्क मताधिकार को अपनाया गया। घोर पिछड़ेपन, घोर दरिद्रता, तथा घोर निरक्षरता वाले, नये नये स्वाधीन हुए देश में, हर नागरिक को जिसकी आयु 21 वर्ष से कम न हो (अब घटाकर 18 कर दी गई है) और जो किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्तविकृति, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचरण के आधार पर अन्यथा अयोग्य न हो, वोट का अधिकार देना संवि~न निर्माताओं के लिए एक बहुत बड़ी आस्था और जनसाधारण में विश्वास का काम था।

अनुच्छेद 324 कहता है कि एक निर्वाचन आयोग होगा। वह संसद और प्रत्येक राज्य विधानमंडल के वास्ते तथा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के पदो के वास्ते सभी निर्वाचनों का अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण करेगा। निर्वाचन आयोग में मुख्य निर्वाचन आयुक्त और उतने अन्य निर्वाचन आयुक्त होंगे, यदि कोई हों, जितने राष्ट्रपति समय समय पर नियत करे। जब कोई अन्य निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किए जाते है तब मुख्य निर्वाचन आयुक्त अध्यक्ष के रूप मे कार्य करेगा। अक्तूबर, 1993 में दो निर्वाचन आयुक्त नियुक्त किए गए और उन्हें एक अध्यादेश द्वारा मुख्य निर्वाचन आयुक्त जैसा ही दर्जा एवं हैसियत प्रदान की गई। साथ ही, आयोग से यह अपेक्षा की गई कि वह सर्वसम्मति या बहुमत से निर्णय लेने वाले निकाय के रूप में कार्य करे। अध्यादेश को मुख्य निर्वाचन आयुक्त ने चुनौती दी। अध्यादेश ने अधिनियम का रूप लिया और उच्चतम न्यायालय ने पहले यथास्थिति का आदेश देकर अंततः अधिनिदम को वैध ठहराया।

अनुच्छेद 324 का यह उपबंध भी है कि आम चुनावों के समय मुख्य निर्वाचन आयुक्त से परामर्श करने के बाद प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति की जाए। मुख्य निर्वाचन आयुक्त को उसके पद से उसी रीति तथा उन्हीं आधारों पर हटाया जा सकता है जिनका निर्देश

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए किया गया है। उसकी सेवा की शर्तों को उसकी नियुक्ति के पश्चात उसके लिए अलाभकारी रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अन्य निर्वाचन आयुक्तों को, यदि कोई हों, मुख्य निर्वाचन आयुक्त की सिफारिश पर उनके पद से हटाया जा सकता है।

अनुच्छेद 325 का उपबंध है कि संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र की एक साधारण निर्वाचक-नामावलि होगी। न तो कोई व्यक्ति धर्म, मूलवंश, जाति या लिंग के आधारों पर ऐसी नामावलि मे शामिल किए जाने के लिए अपात्र होगा और न ही कोई व्यक्ति किसी ऐसे आधार पर किसी ऐसे निर्वाचन क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचक-नामावलि में शामिल किए जाने का दावा कर सकेगा।

अनुच्छेद 327 ससद को विधायी शक्ति प्रदान करता है। उसके अनुसार वह संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमंडल के सदन या उसके प्रत्येक सदन के निर्वाचनों से संबंधित सभी मामलों के बारे में कानून बना सकेगी। इनमें निर्वाचक-नामावलियों की तैयारी, निर्वाचन क्षेत्रो का परिसीमन तथा "ऐसे सदन या सदनों का सम्यक गठन सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक" सभी अन्य मामले भी शामिल हैं।

अनुच्छेद 328 राज्य विधानमडलों को इस बारे मे शक्तिया प्रदान करता है कि वे राज्यों के किसी विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के निर्वाचनो के बारे में कानून बना सकते हैं।

अनुच्छेद 329 निर्वाचन संबंधी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप की वर्जना करता है। इनमें (1) अनुच्छेद 327 या 328 के अधीन निर्वाचन क्षेत्रों के परिसीमन या स्थानों के आवटन से संबद्ध कोई विधि और (2) संसद या राज्य विधानमंडल के प्रत्येक सदन के निर्वाचन की वैधता भी शामिल है। किसी निर्वाचन की वैधता के बारे में आपत्ति केवल निर्वाचन-याचिका द्वारा की जा सकती है। यह याचिका ऐसे प्राधिकारी को ऐसी रीति से प्रस्तुत की जाएगी जिसका प्रावधान संबद्ध विधानमडल विधि द्वारा करे। लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अधीन निर्वाचन-विवादों के निपटारे की शक्ति उच्च न्यायालयों में निहित है। तत्संबंधी अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। लेकिन राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सबंधी विवादों का निपटारा उच्चतम न्यायालय ही करेगा।

निर्वाचन संबंधी सुधार

अनुच्छेद 324 में प्रयुक्त 'अधीक्षण, निदेशन और नियंत्रण' शब्दों की परिभाषा या व्याख्या कितनी व्यापक या सीमित हो सकती है, विवाद का विषय है। प्रश्न उठता है कि क्या अनुच्छेद 324 के अतर्गत निर्वाचन आयोग को कोई ऐसा अधिकारी भी मिल जाता है जिसके

द्वारा वह यह निर्णय कर सके कि निर्वाचन कराए ही नहीं जाएंगे। जब जम्मू-कश्मीर राज्य में दिसंबर, 1995 में वहां की विधान सभा के लिए आम चुनाव कराए जाने का निर्णय सरकार द्वारा लिया गया और निर्वाचन आयोग ने अपनी जांच के आधार पर यह घोषणा कर दी कि स्थिति चुनावों के अनुकूल नहीं है अतः चुनाव नहीं कराए जा सकते, तब मामला उच्चतम न्यायालय के सामने पहुंचा और विचाराधीन है। इससे पहले पंजाब में भी निर्वाचन आयोग ऐसा ही निर्णय एक बार ले चुका था। मुख्य निर्वाचन आयुक्त ने चुनाव सुधारों के बारे में कतिपय आदेश भी दिए थे जिनमें मतदाताओं के लिए परिचय-पत्र दिया जाना शामिल था। सभी राज्य इसके लिए तैयार नहीं थे किंतु मुख्य निर्वाचन आयुक्त ने स्पष्ट चेतावनी दी थी कि यदि परिचय-पत्रों की व्यवस्था नहीं की गई तो वे संबद्ध राज्य में चुनाव की अधिसूचना जारी नहीं करेंगे और उस राज्य में चुनाव नहीं हो सकेंगे। आशा है उच्चतम न्यायालय के निर्णय से इस विषय मे निर्वाचन आयोग के अधिकार क्षेत्र का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

निर्वाचन आयोग द्वारा समय समय पर दिए गए अनेक सुधार प्रस्तावों के बारे में कोई अंतिम निर्णय नहीं लिया जा सकता है। आयोग ने निर्वाचनों के लिए आचार संहिता को कड़ाई के साथ लागू करने का प्रयास किया है। सरकार भी समय समय पर 'शीघ्र ही' इस विषय पर कानून बनाए जाने का वायदा करती रही है। एक विधेयक भी काफी समय से लंबित है किंतु लगता है सारा मामला राजनीतिक और दलगत मतभेदों में उलझकर रह गया है।

20

भाषा संबंधी उपबंध

भाग 3, अनुच्छेद 29-30; भाग 5, अनुच्छेद 120; भाग 6, अनुच्छेद 210; भाग 17, अनुच्छेद 343-351; भाग 22, अनुच्छेद 394 क तथा आठवीं अनुसूची

हालांकि 'राजभाषा' के सबध में एक पृथक भाग—भाग 17—है, फिर भी भाषा सबंधी उपबध संविधान के विभिन्न भागो तथा अध्यायों मे बिखरे हुए है।

भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण तथा धर्म के आधार पर विभेद का निषेध

अनुच्छेद 29 मे कहा गया है कि भारत मे कही भी रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को अपनी विशिष्ट भाषा, लिपि या सस्कृति को अक्षुण्ण रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था मे प्रवेश से किसी भी नागरिक को भाषा, धर्म आदि के आधार पर वंचित नही किया जा सकता। अनुच्छेद 30 का उद्देश्य है कि धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसख्यक वर्गो को अपनी रुचि की शिक्षा-सस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार मिले। राज्य को आदेश दिया गया है कि वह किसी शिक्षा सस्था के प्रति इस आधार पर विभेद नही करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसख्यक वर्ग के प्रबध में है (देखिए "मूल अधिकार" अध्याय के अधीन)।

सातवें सशोधन द्वारा जोडा गया अनुच्छेद 350 क आदेश देता है कि हर राज्य का स्थानीय प्राधिकारी भाषायी अल्पसख्यक वर्गो के बालको की शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा मे शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओ की व्यवस्था करने का प्रयास करे। यह भी कहा गया है कि इस विषय मे राष्ट्रपति किसी भी राज्य को आवश्यक निर्देश दे सकता है। 'भाषायी अल्पसंख्यक वर्ग' पद का निर्वाचन करते समय यह अर्थ लगाया गया है कि वह ऐसे लोगो का समूह है जो किसी क्षेत्र विशेष या उसके प्रदेश से भिन्न समूचे राज्य में अल्प

संख्या में हैं। (*केरल शिक्षा विधेयक के संबंध में,* ए आई आर 1958 एस सी 956)।

अनुच्छेद 350 ख का कहना है कि भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए राष्ट्रपति एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करे। उसका कर्तव्य होगा कि वह भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों की रक्षा के उपायों से संबंधित सभी मामलों की जांच पड़ताल करे और उनके बारे में ऐसे अंतरालों पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे जिनका निदेश राष्ट्रपति दे। ऐसी सभी रिपोर्टें संसद के समक्ष रखी जा सकती हैं और संबद्ध राज्य सरकारों के पास भेजी जा सकती हैं।

विधानमंडलों की भाषा

अनुच्छेद 120 में संसद की अधिकृत भाषा का उपबंध है। और बातों के अलावा, उसमें कहा गया है कि संसद का कार्य हिंदी अथवा अंग्रेजी में किया जाएगा। लेकिन प्रत्येक सदन का पीठासीन अधिकारी किसी सदस्य को, जो हिंदी या अंग्रेजी में पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता है, उसकी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। अतः संसद के दोनों सदनों में यह प्रबंध किया गया है कि प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं में किए गए भाषणों का साथ साथ भाषांतरण हिंदी और अंग्रेजी में किया जाए। लेकिन वास्तविक व्यवहार में, अधिकांश समय प्रत्येक सदन की समूची कार्यवाही हिंदी अथवा अंग्रेजी में की जाती है, पर इस बात की पूर्ण सुविधा दी जाती है कि हिंदी से अंग्रेजी में तथा अंग्रेजी से हिंदी में भाषांतरण होता रहे।

राज्य विधानमंडलों के लिए समानुरूप भाषायी उपबंध अनुच्छेद 210 में किया गया है। राज्य के विधानमंडल में कार्य राज्य की राजभाषा या राजभाषाओं में या हिंदी में या अंग्रेजी में किया जाएगा और किसी सदन का पीठासीन अधिकारी किसी सदस्य को, जो इन भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता है, उसकी मातृभाषा में सदन को संबोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा।

संघ की राजभाषा

हमारे सविधान निर्माताओ के सामने जो अनेक दुरूह समस्याए आई, उनमें से हमारी किसी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में अथवा संघ की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न सर्वाधिक जटिल प्रश्न सिद्ध हुआ। अंत में, अनुच्छेद 343 में शामिल किए गए एक मध्यमार्गी सूत्र के अधीन देवनागरी लिपि वाली हिंदी को संघ की राजभाषा के रूप मे स्वीकार किया गया और कहा गया कि अकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा। यह अनुमति दी गई कि 15 वर्ष की अवधि तक अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता रहेगा और उसके बाद भी, संसद विधि द्वारा अंग्रेजी भाषा के या अंकों के देवनागरी रूप के प्रयोग का उपबंध किन्हीं विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के लिए कर सकेगी।

अनुच्छेद 344 में उपबंध है कि राष्ट्रपति पांच वर्ष के बाद और उसके बाद हर दस वर्ष की समाप्ति पर एक आयोग का गठन करेगा। आयोग का कर्तव्य होगा कि वह इन मामलों के बारे में राष्ट्रपति को सिफारिश करे यथा, (1) शासकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी का अधिकाधिक प्रयोग; (2) शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी के प्रयोग पर निबंधन; (3) उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों में प्रयोग की जाने वाली भाषा; (4) प्रयोग किए जाने वाले अंकों का रूप, और (5) संघ की राजभाषा तथा संघ और किसी राज्य के बीच या एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच पत्रादि की भाषा। आयोग से यह अपेक्षा की गई कि वह भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और लोक सेवाओं के संबंध में अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लोगों के न्यायसंगत दावो और हितों का सम्यक ध्यान रखेगा।

अनुच्छेद 344 में उपबंध है कि संसद के दोनों सदनों की 30 सदस्यों वाली एक समिति का गठन होगा। वह आयोग की सिफारिशो पर विचार करेगी और अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देगी। राष्ट्रपति उस पर जरूरी निदेश जारी कर सकता है। अनुच्छेद 349 के अनुसार भाषा संबंधी किसी विधेयक या संशोधन की अनुमति तभी दी जाएगी जब इस समिति की रिपोर्ट पर राष्ट्रपति विचार कर ले। प्रथम राजभाषा आयोग की नियुक्ति 1955 में की गई थी। उसने अपनी रिपोर्ट 1956 में प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट पर ससद के दोनों सदनों के सदस्यों की समिति ने विचार किया और उसकी राय राष्ट्रपति के पास भेजी गई। राष्ट्रपति ने 27 अप्रैल, 1960 को एक आदेश जारी किया। उसमें कहा गया कि वैज्ञानिक, प्रशासनिक एवं कानूनी साहित्य संबंधी हिंदी शब्दावली तैयार करने के लिए तथा अंग्रेजी कृतियों का हिंदी में अनुवाद करने के लिए एक स्थायी आयोग का गठन किया जाए। वस्तुतया इस आदेश के अधीन दो आयोगों का गठन किया गया। हिंदी पर्याय तैयार करने के लिए एक का गठन तत्कालीन शिक्षा मत्रालय के अधीन तथा दूसरे का गठन विधि मंत्रालय के अधीन किया गया। और बातों के अलावा, आदेश में व्यवस्था की गई कि संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग चलता रहे और बाद में वैकल्पिक माध्यम के रूप में हिंदी का प्रचलन शुरू किया जाए। संसदीय विधान कार्य अंग्रेजी में चलता रहेगा पर उसके अधिकृत हिंदी अनुवाद की व्यवस्था करनी होगी।

प्रथम राजभाषा आयोग की रिपोर्ट के अनुसार तथा अनुच्छेद 343 के अधीन संसद ने राजभाषा अधिनियम, 1963 बनाया। अधिनियम में कहा गया कि 15 वर्ष की अवधि के बाद भी अंग्रेजी का प्रयोग हिंदी के साथ साथ सघ के सभी प्रयोजनो तथा संसद के कार्य-निष्पादन के लिए किया जा सकता है।

कतिपय विषयों में संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के लिए हिंदी का चलन वैकल्पिक माध्यम के रूप में शुरू किया गया। बाद में, उम्मीदवारों को यह छूट दी गई

कि वे 8वीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट किसी भी मान्यता प्राप्त भाषा में अपने उत्तर दे सकते हैं।

प्रादेशिक भाषाएं और संपर्क भाषा

अनुच्छेद 345 प्रत्येक राज्य के लिए राजभाषा के तथा सरकारी स्तर पर राज्यों के बीच पत्रादि की भाषा के प्रश्न के निपटारे का प्रयास करता है। किसी राज्य का विधानमंडल, विधि द्वारा, उस राज्य में इस्तेमाल होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिंदी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए अगीकार कर सकता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, अंग्रेजी का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता रहेगा जिस प्रकार उससे ठीक पहले किया जा रहा था। संघ की राजभाषा के रूप में प्रयोग के लिए प्राधिकृत भाषा राज्यों के बीच तथा राज्यो और सघ के बीच पत्रादि की राजभाषा होगी। लेकिन दो या दो से अधिक राज्यों को छूट होगी कि वे अपने बीच पत्रादि के लिए हिंदी के प्रयोग के बारे मे सहमत हो जाएं (अनुच्छेद 346)।

यदि किसी राज्य की जनसंख्या का पर्याप्त भाग मांग करे और राष्ट्रपति का समाधान हो जाए तो वह आदेश दे सकता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा को भी उस राज्य में सर्वत्र या उसके किसी भाग मे सरकारी मान्यता दी जाए।

1963 के राजभाषा अधिनियम मे उपबध है कि संघ तथा अहिंदीभाषी राज्यों के बीच पत्रादि के प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का ही प्रयोग होगा और यदि हिंदी तथा अहिंदीभाषी राज्य के बीच पत्रादि के लिए हिंदी का प्रयोग किया जाए तो ऐसे पत्रादि के साथ उसका अंग्रेजी अनुवाद भी होगा।

उच्चतर न्यायालयों की तथा विधियों के प्राधिकृत पाठकों आदि की भाषा

जब तक ससद विधि द्वारा अन्यथा उपबध न करे, तब तक उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयो मे सभी कार्यवाहिया अग्रेजी भाषा मे होंगी। इसके अलावा, संघ तथा राज्यों के स्तरों पर सभी विधेयको, सशोधनों, अधिनियमों, अध्यादेशों, आदेशों, नियमों, विनियमो तथा उपनियमो के प्राधिकृत पाठ भी केवल अंग्रेजी में ही होगे। लेकिन किसी राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से उस उच्च न्यायालय की कार्यवाहियो में हिंदी भाषा के प्रयोग को या उस राज्य के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किसी भाषा के प्रयोग को प्राधिकृत कर सकेगा, लेकिन अनिवार्य है कि निर्णय, डिक्रियां तथा आदेश अंग्रेजी में ही दिए जाते रहेगे (अनुच्छेद 348)।

1963 के राजभाषा अधिनियम में उपबध है कि राष्ट्रपति के प्राधिकार के अधीन प्रकाशित अधिनियमों आदि का हिंदी अनुवाद प्रामाणिक समझा जाएगा और हर विधेयक

या संशोधन के साथ उसका हिंदी अनुवाद अनिवार्य होगा।

1963 के अधिनियमों में यह भी कहा गया है कि कतिपय दशाओं में राज्य के अधिनियमों आदि का भी हिंदी अनुवाद दिया जाएगा। उच्च न्यायालय के निर्णयों आदि के बारे में अधिनियम का प्रावधान है कि हिंदी या किसी अन्य राजभाषा का वैकल्पिक प्रयोग किया जा सकता है, यदि राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व सहमति प्राप्त कर ले और निर्णय आदि के साथ उसका अंग्रेजी अनुवाद नत्थी हो।

लोक शिकायतों की भाषा

अनुच्छेद 350 का एक अति महत्वपूर्ण उपबंध है कि न केवल किसी नागरिक को अपितु हर व्यक्ति को अधिकार है कि वह किसी शिकायत को दूर कराने के लिए सघ या राज्य के किसी प्राधिकारी या अधिकारी को, यथास्थिति, संघ में या राज्य में प्रयुक्त किसी भाषा में अभ्यावेदन दे सके। अतः कोई भी सरकारी विभाग, एजेंसी या अधिकारी किसी अभ्यावेदन को लेने से इस आधार पर मना नहीं कर सकता कि वह राजभाषा में नही है।

हिंदी का विकास

अनुच्छेद 351 के अधीन सघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार करे, उसका विकास करे ताकि वह भारत की मिलीजुली सस्कृति के सभी तत्वो की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओ के प्रयुक्त रूप, शैली और पदो को आत्मसात करते हुए और जहां आवश्यक या वाछनीय हो, वहा उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतया सस्कृत से और गौणतया अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

भाषा सबधी उपबंधों, विशेषतया अनुच्छेद 343, 344 और 351 के समरस पठन से पता चलेगा कि अंतिम लक्ष्य यह है कि हिंदी का प्रचार प्रसार एवं विकास किया जाए और धीरे धीरे शासकीय प्रयोजनो के लिए और संपर्क भाषा के रूप में उसका प्रयोग किया जाए। अनुच्छेद 351 का कोई उल्लंघन नहीं होगा यदि 15 वर्ष की अवधि के बाद भी अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता है, लेकिन अनुच्छेद 343 के अधीन संसद को केवल यह शक्ति दी गई है कि वह राजभाषा के रूप मे हिंदी की प्रगति को देखते हुए उन विशेष प्रयोजनों को विनिर्दिष्ट करे जिनके लिए संघ अग्रेजी के प्रयोग को जारी रख सकता है (*भारत संघ बनाम मुरासौली,* ए आई आर 1977 एस सी 225)। *दलवी बनाम तमिलनाडु राज्य* (ए आई आर 1976 एस सी 1559) में उच्चतम न्यायालय ने राज्य सरकार के उस आदेश को रद्द कर दिया जिसके द्वारा हिंदी विरोधी आंदोलनकर्ताओं को पेंशन दी गई थी।

न्यायालय का विचार था कि आदेश से अनुच्छेद 351 का उल्लंघन होता है क्योंकि वह हिंदी के संवर्धन के स्थान पर हिंदी-विरोध की भावना को भडकाता है।

संविधान का प्राधिकृत हिंदी पाठ

56वें संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़े गए नये अनुच्छेद ३94 में हिंदी भाषा में संविधान के प्राधिकृत हिंदी पाठ का उपबंध है। उसके बाद संविधान का प्राधिकृत हिंदी पाठ प्रकाशित कर दिया गया है।

आठवीं अनुसूची

हिंदी के अलावा हमारा संविधान अन्य भाषाओं को तथा उनके विकास की आवश्यकता को मान्यता प्रदान करता है। आठवीं अनुसूची में शामिल भारत की 18 भाषाएं हैं : असमिया, बांग्ला, गुजराती, हिंदी, कन्नड़, कश्मीरी, कोंकणी, मलयालम, मणिपुरी, मराठी, नेपाली, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, सिंधी, तमिल, तेलुगू और उर्दू।

21

संविधान का संशोधन

भाग 20, अनुच्छेद 368

संविधान का अनुच्छेद 368 सविधान-संशोधन से सबंधित विनिर्दिष्ट उपबध है। उसके अनुसार ससद सघ की संविधायी शक्ति का भडार है। उसके अनुसार सविधान-सशोधन-प्रक्रिया के कतिपय विशिष्ट लक्षण है जो विधायिका के रूप मे ससद की सामान्य भूमिका से उसकी संविधायी क्षमता की अलग पहचान बनाते है। एक तो यह कि सविधान-सशोधन का सूत्रपात केवल ससद के दोनो सदनो मे से किसी मे विधेयक का पुर:स्थापन करके ही किया जा सकता है। अत संविधान-सशोधन के मामले मे पहला कदम केवल ससद ही उठा सकती है। दूसरा यह कि अधिकाशतया सविधान के उपबधो का सशोधन ससद एक विशेष बहुमत से ही कर सकती है। वह है प्रत्येक सदन के उपस्थित तथा मतदान करने वाले कम-से-कम दो तिहाई सदस्यो का बहुमत। केवल सीमित श्रेणी के सविधान उपबधो के बारे मे (यानी, सातवी अनुसूची की सूचियो से, ससद मे राज्यो के प्रतिनिधित्व से, अनुच्छेद 368 आदि से सबधित संविधान-उपबधो के बारे में) यह व्यवस्था है कि जब ससद का प्रत्येक सदन विहित विशेष बहुमत से सशोधन-विधेयक को पारित कर दे तो जरूरी है कि कम-से-कम आधे राज्यो के विधानमडल उसका अनुसमर्थन करे। तीसरा यह कि जब विधिवत पारित/अनुसमर्थित रूप मे सविधान-संशोधन विधेयक को अनुमति के लिए राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति को अनुमति देनी ही होगी और विधान सबधी साधारण विधेयको के विपरीत उसके पास कोई विकल्प नहीं होता कि वह अपनी अनुमति रोक ले या विधेयक को पुनर्विचार के लिए लोक सभा को लौटा दे। और अतिम यह है, और यह महत्वपूर्ण है, कि सविधान मे ऐसा कोई उपबध नही है जिसका सशोधन नही किया जा सकता क्योकि ससद हर प्रकार से सविधान के किसी भी उपबध का परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन कर सकती है और ऐसे सशोधनो पर किसी भी न्यायालय मे किसी भी आधार पर आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, जब तक

कि उनका उद्देश्य ऐसा परिवर्तन अथवा उल्लंघन न हो जिसे संविधान के मूलाधारो का उल्लघन समझा जाए।

1950-72 की अवधि के दौरान तीन अलग अलग मामलो मे उच्चतम न्यायालय के सामने यह प्रश्न आया कि मूल अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है या नहीं। वे तीन मामले थे—*शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ* (ए आई आर 1951 एस सी 458); *सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य* (ए आई आर 1965 एस सी 845) और *गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य* (ए आई आर 1967 एस सी 1643)। जब तक गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय नही दिया था, तब तक विधि की स्थिति इस प्रकार थी ·

1. संविधान-संशोधन अधिनियम साधारण विधियां नही है और उनका पारण ससद सामान्य विधायी शक्तियो से सर्वथा भिन्न अपनी संविधायी शक्ति के प्रयोग से करती है। सविधान-सशोधन प्रयोजनों के लिए कोई अलग सविधायी निकाय नही है और सविधायी शक्ति भी 'संसद' में निहित है।

   [बाद में, बहुत बाद मे 1981 मे—उच्चतम न्यायालय ने इस बात की पुष्टि की कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति एक संविधायी शक्ति है और सातवीं अनुसूची के अधीन विधायी शक्तियो के वितरण की योजना से उसका कोई वास्ता नही है *(शशाक बनाम भारत संघ*, ए आई आर, 1981 एस सी 522)]।

2. सशोधन करने की शक्ति पर कोई निबधन नहीं है यानी संविधान में ऐसा कोई उपबध नहीं है जिसका सशोधन नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 368 की शर्ते पूर्णतया सामान्य हैं और वे ससद को शक्ति प्रदान करती है कि ससद बिना किसी अपवाद के संविधान का सशोधन कर सकती है।

3. संविधान (भाग 3) के अधीन प्रत्याभूत मूल अधिकार सविधान-सशोधन की ससदीय शक्ति के अधीन हैं।

गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 6·5 के बहुमत द्वारा अपने पूर्ववर्ती निर्णयो को उलट दिया और कहा कि संविधान में प्रतिष्ठित मूल अधिकार अपरिवर्तनीय है, अनुच्छेद 368 में केवल सशोधन-प्रक्रिया का उपबंध है और उसमें ससद को सविधान-सशोधन की कोई मूल शक्ति या उसकी विधायी शक्ति से अलग थलग या अलग पहचान वाली कोई संविधायी शक्ति प्रदान नही की गई है, संविधान-संधोशन अधिनियम भी अनुच्छेद 13 के अर्थातर्गत विधि है, अत· अनुच्छेद 368 के अधीन पारित संविधान-सशोधन अधिनियम के द्वारा भी संसद न तो मूल अधिकारो को छीन सकती है और न ही उन्हें कम कर सकती है।

1973 मे *केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य* (ए आई आर 1973 एस सी 1461)

में उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ मामले के निर्णय की पुनरीक्षा की। 13 में से 10 न्यायाधीशों ने निर्णय दिया कि स्वयं अनुच्छेद 368 में संविधान-सशोधन की शक्ति निहित है और अनुच्छेद 13 (2) की विधि अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान-संशोधन को आत्मसात नहीं करती। तदनुसार गोलकनाथ के मामले में घोषित विधि को उलट दिया गया। इस प्रश्न के बारे में कि क्या अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति निरंकुश और असीम है, सात न्यायाधीशों ने बहुमत से निर्णय दिया कि अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति निहित अर्थ वाली सीमा के अधीन है; वह एक ऐसी सीमा है जो इस आवश्यक निहितार्थ से उत्पन्न हुई है कि वह'संविधान-संशोधन' की शक्ति है। 7:6 के बहुमत से न्यायालय ने निर्णय दिया कि 'अनुच्छेद 368 संसद को संविधान की 'मूल संरचना' या सांचे-ढांचे में परिवर्तन की शक्ति प्रदान नहीं करता। लेकिन मूल संरचना क्या है, इसे बहुमत ने स्पष्ट नहीं किया और प्रश्न विवादास्पद बना रहा।

केशवानन्द के मामले मे इस निर्णय के बाद संविधान (42वां सशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 368 में खंड 4 और 5 जोड़े गए और ससद की सशोधन करने की शक्तियो के 'मूल लक्षणो' के परिसीमन को कम कर दिया गया। इन खडों में कहा गया है कि (क) अनुच्छेद 368 (1) के अधीन संसद की सशोधन-शक्ति पर, अभिव्यक्त या निहित रूप में, कोई सीमाएं नहीं हैं, वह शक्ति 'संविधायी शक्ति' है, (ख) अत संविधान संशोधन अधिनियम की किसी आधार पर न्यायिक पुनरीक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन *मिनर्वा मिल्स बनाम भारत सघ* (ए आई आर 1980 एस सी 1789) मे उच्चतम न्यायालय ने मूल सरचना के सिद्धांत की प्रयुक्ति की पुन पुष्टि की और निर्णय दिया कि खंड 4 और 5 शून्य हैं। आधार यह बताया गया कि यह संशोधन चाहता है कि न्यायिक पुनरीक्षा की पूर्ण अपवर्जना कर दी जाए जबकि वह संविधान का एक 'मूल लक्षण' है।

'मूल लक्षणों' के सिद्धांत की वर्तमान स्थिति यह है कि जब तक केशवानन्द के मामले में दिए गए निर्णय को उच्चतम न्यायालय की कोई पूर्ण पीठ उलट नहीं देती, तब तक संविधान के किसी भी सशोधन के बारे मे न्यायालय इस आधार पर हस्तक्षेप कर सकता है कि वह संविधान के किसी एक या दूसरे मूल लक्षण पर प्रभाव डालता है।

केशवानन्द के मामले में न्यायमूर्ति सीकरी ने (पैरा 302 में) संविधान के मूल लक्षणों को इस प्रकार सारणीबद्ध करने का प्रयास किया :

1. संविधान की सर्वोच्चता,
2. गणतंत्रात्मक तथा लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली
3. संविधान का पंथनिरपेक्ष स्वरूप;
4. शक्तियों का पृथक्करण;
5. संविधान का संघात्मक स्वरूप।

इसी मामले में न्यायमूर्ति हेगड़े तथा न्यायमूर्ति मुखर्जी ने संविधान की मूल संरचना के तत्वों में भारत की संप्रभुता तथा एकता का, हमारी राज्य व्यवस्था के लोकतंत्रात्मक स्वरूप का तथा व्यक्तिगत स्वातत्र्य का समावेश किया। उनका विचार था कि संसद को कोई अधिकार नहीं है कि वह कल्याणकारी राज्य तथा समतावादी समाज के निर्माण के आदेश को रद्द कर दे (पैरा 682)। न्यायमूर्ति खन्ना ने भी कहा कि संसद हमारी लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को बदलकर उसे तानाशाही या वंशानुगत राजतंत्र का रूप नहीं दे सकती और न ही लोक सभा और राज्य सभा के उन्मूलन की अनुमति दी जा सकेगी। इसी प्रकार, राज्य के पंथनिरपेक्ष स्वरूप को भी समाप्त नहीं किया जा सकता (पैरा 1437)।

इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण (ए आई आर 1975 एस सी 2299, पैरा 55 एव 213) में न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने निम्नलिखित को संविधान की मूल संरचना का मूल तत्व बताया :

1. भारत का संपूर्ण प्रभुत्व सपन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य का स्वरूप;
2. प्रतिष्ठा तथा अवसर की समता;
3 पथनिरपेक्षता और अतःकरण की स्वतत्रता,
4 विधि का शासन।

इसी न्यायमूर्ति ने मिनर्वा मिल्स के मामले में संविधान के मूल तत्वो की सूची में 'संसद की सशोधन की शक्तियों' 'न्यायिक पुनरीक्षा' और 'मूल अधिकारो एव निदेशक तत्वों के बीच संतुलन' को भी जोड़ दिया।

कुछ मामलों के संबंध में, न्यायाधीशों के बीच इस बारे मे मतभेद है कि कोई तत्व विशेष मूल लक्षणो का तत्व है या नहीं। यथा, जहां मुख्य न्यायमूर्ति रे को लगा कि स्वतत्र तथा निष्पक्ष निर्वाचनो की सकल्पना मूल लक्षण नहीं हो सकती, वहां न्यायमूर्ति खन्ना को उसी मामले में लगा कि यह सिद्धांत संविधान के मूल लक्षणो का तत्व है (*इंदिरा नेहरू गांधी का मामला,* पैरा 55 और 213)। न्यायमूर्ति चन्द्रचूड ने यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं किया कि संविधान की उद्देशिका उसकी मूल संरचना की कुंजी है (पैरा 665)। दूसरी ओर, न्यायमूर्ति बेग को लगा कि न्यायालय संवैधानिक विधिमान्यता की कसौटी को संविधान की उद्देशिका में खोज सकता है। उनका विचार था कि उद्देशिका संविधान-सशोधनों पर प्रयुक्ति के लिए भी मापदंड प्रस्तुत करती है (पैरा 623)।

एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) एस सी सी में मध्य प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और राजस्थान की भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी के मामले को लेकर उच्चतम न्यायालय ने जो निर्णय दिया उसमें न्यायमूर्ति जीवन रेड्डी और रामास्वामी ने यह विचार दोहराया कि संघवाद संविधान के विशेष मूल लक्षणों में है। न्यायमूर्ति रामास्वामी के अनुसार लोकतांत्रिक

शासन व्यवस्था, सघीय ढांचा, राष्ट्र की एकता और अखंडता, पंथनिरपेक्षता, समाजवाद, सामाजिक न्याय तथा न्यायिक पुनरीक्षण संविधान के मूल लक्षणों में हैं।

यह स्पष्ट है कि इस सबध में अभी तक न्यायाधीशों के बीच न तो कोई मतैक्य हुआ है और न ही बहुमत का कोई निर्णय उपलब्ध है जिसके द्वारा सविधान के उन लक्षणों का निर्धारण किया गया हो जिन्हें 'मूल' माना जाए। न्यायालय ने अभी मूल लक्षणों की सूची पर पूर्ण विराम नही लगाया है जैसा कि विभिन्न मामलो में विभिन्न न्यायाधीशो के निर्णयो से पता चलता है। इंदिरा नेहरू गाधी के मामले में न्यायमूर्ति चन्द्रचूड़ ने कहा था, 'हर विशिष्ट मामले में, अमूर्त रूप मे नहीं बल्कि ठोस समस्या के संदर्भ में, मूल संरचना के सिद्धांत पर विचार किया जाना है।' (पैरा 2465)।

1950 में संविधान के प्रारभ से लेकर अब तक संविधान मे 78 संशोधन किए जा चुके हैं। यह सब ससद की सविधायी शक्ति का प्रयोग करके किया गया है।

इस बारे मे काफी मतभेद है कि संविधान-संशोधन शक्ति का बार बार बहुधा दुरुपयोग या सदुपयोग किया गया है। जैसा कि नेहरू ने कहा था, 'सविधान कितना भी बढिया हो, वह हर नजरिए से पूरा नहीं हो सकता है और इस बात की जरूरत पड़ सकती है कि उसे अमल मे लाने मे जो खामिया दीख पडे, उन्हे दूर करने के लिए उसमे फेरबदल किया जाए' (देखिए "संविधान की विशेषताएं" के अतर्गत भी)।

22

प्रकीर्ण, अस्थायी एवं विशेष उपबंध

भाग 16, 19, 21, 22
अनुच्छेद 330-342, 361-367, 369-392

कतिपय वर्गों के लिए विशेष प्रावधान

सभी को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय दिलाने एव आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के अपने उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए सविधान मे कतिपय उपबध किए गए हैं। उनका उद्देश्य है कि समाज के कमजोर वर्गो की मदद की जा सके और वे नागरिको के सामान्य समूह के स्तर पर आ सके। अत. अनुसूचित जातियों एव अनुसूचित जनजातियो को विशेष सरक्षण प्रदान किया गया है तथा उनके लिए विधानमडलो मे स्थानो और सेवाओ मे पदो का आरक्षण किया गया है।

संविधान मे अनुसूचित जातियों एव अनुसूचित जनजातियों की परिभाषा नहीं दी गई है। इन्हे किसी राज्य के राज्यपाल की सलाह से उस राज्य के संबध मे राष्ट्रपति द्वारा जारी की गई अधिसूचना से चीन्हा जाएगा। राष्ट्रपति ने अनेक आदेश जारी किए हैं और उनके द्वारा विभिन्न राज्यो मे अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियो का विनिर्देश किया गया है। अनुच्छेद 341-342 के अधीन दी गई शक्तियो के अनुसार संसद ने अधिनियमों द्वारा इन आदेशो मे सशोधन भी किए है।

समय समय पर यथासंशोधित अनुच्छेद 334 में उपबध है कि संविधान के प्रारभ से 50 वर्ष की अवधि तक लोक सभा मे और राज्यो की विधान सभाओं मे अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियो को स्थानो का आरक्षण और आंग्ल-भारतीय समुदाय को प्रतिनिधित्व मिलता रहेगा। आरक्षित स्थानो की संख्या का आधार कुल जनसख्या से अनुसूचित जातियो या अनुसूचित जनजातियों का अनुपात होगा। यथास्थिति, राष्ट्रपति या राज्यपाल आंग्ल-भारतीय समुदाय के अधिक-से-अधिक दो सदस्यो को लोक सभा के लिए और एक सदस्य को राज्य विधान सभा के लिए नामजद कर सकता है, यदि यह पाया

जाए कि लोक सभा/विधान सभा में उस समुदाय का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है (अनुच्छेद 331-334)। जबकि कुछ निर्वाचन क्षेत्र आरक्षित हैं, मतदाता सभी में जनसाधारण हैं, यानी निर्वाचन क्षेत्र के सभी मतदाता समुदाय अथवा जाति आदि के भेदभाव के बिना मत दे सकते हैं। कोई अलग निर्वाचन क्षेत्र नहीं होंगे। स्थानों का आरक्षण भी अल्प अवधि के लिए है। इस अवधि के बीच आशा की जाती है कि अनुसूचित जातियां तथा अनुसुचित जनजातियां आगे बढ़ेंगी और वे शेष जनसंख्या के स्तर पर आ जाएंगी। लेकिन हर बार जब आरक्षण की अवधि समाप्त हो जाती है तो सरकार अपने विवेकानुसार उसे और बढ़ाने का निश्चय करती है और उसके लिए संविधान के संबद्ध उपबंध में संशोधन कर देती है (अनुच्छेद 334)। उपबंध का नवीनतम संशोधन 62वें संशोधन द्वारा किया गया। उसके द्वारा अवधि को बढ़ाकर 50 वर्ष यानी वर्ष 2000 तक कर दिया गया।

अनुच्छेद 335 के अधीन लोक सेवाओं के लिए नियुक्तियां करते समय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के दावों को ध्यान में रखा जाएगा, पर साथ ही प्रशासन की दक्षता को भी बनाए रखा जाएगा। अनुच्छेद 338 में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए एक राष्ट्रीय आयोग के गठन का उपबंध है।

अनुच्छेद 340 राष्ट्रपति को पिछड़े वर्ग सबंधी आयोग की नियुक्ति की शक्ति प्रदान करता है। आयोग 'सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों' का अन्वेषण करता है और उनकी कठिनाइयों को दूर करने तथा उनकी दशा में सुधार करने के बारे में सिफारिशें करता है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय है कि सामाजिक पिछड़ेपन के जाति समेत विभिन्न कारण हो सकते हैं लेकिन केवल जाति पर आधारित कोई वर्गीकरण वैध नहीं होगा (*जानकी प्रसाद बनाम जम्मू-काश्मीर राज्य,* ए आई आर 1973 एस सी 930)। अभी हाल में, मंडल के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि पिछड़े वर्गों को सेवाओं में 27 प्रतिशत आरक्षण दिया जाए, पर निदेश दिया कि आरक्षण के कोटे से पिछड़े वर्गों के उन्नत वर्गो या संपन्न स्तर के लोगों को निकाल दिया जाए और इस बात पर बल दिया कि सकल आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक न हो ("मूल अधिकार" संबंधी अध्याय के अधीन भी देखिए)। लेकिन 76वें संविधान संशोधन के द्वारा तमिलनाडु में 69 प्रतिशत आरक्षण होने संबंधी कानून को संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल कर न्यायिक अधिकार क्षेत्र से दूर रखने का प्रयास किया गया है।

प्रकीर्ण प्रावधान

अनुच्छेद-361 संघ के अध्यक्ष (भारत का राष्ट्रपति) को तथा राज्यों के अध्यक्षों (राज्यपालों) को संरक्षण प्रदान करता है। वे अपने कर्तव्यों के निर्वाह में किसी कार्यवाही के लिए किसी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होंगे। उनकी पदावधि के दौरान उन पर कोई दांडिक

कार्यवाही नहीं की जा सकेगी और उनकी गिरफ्तारी के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका जारी नहीं की जा सकेगी। लिखित रूप में दो मास का नोटिस दिए बिना उनके विरुद्ध कोई सिविल कार्यवाही जिसमें राहत का दावा भी शामिल है, नहीं की जा सकेगी।

अनुच्छेद का प्रयोजन है कि संघ के अध्यक्ष या राज्यों के अध्यक्षों की उच्च प्रतिष्ठा एवं गरिमा अक्षुण्ण रखी जाए क्योंकि वे संघ तथा राज्यों की प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। वे संविधान के संरक्षक हैं और प्राधिकार के प्रतीक हैं।

यदि राष्ट्रपति के स्तर पर कोई गलत कार्य हो तो उसका इलाज यह है कि उसे अनुच्छेद 61 के अधीन संसद द्वारा महाभियोग की प्रक्रिया का अनुसरण करके पद से हटाया जा सकता है। राज्य के राज्यपाल अपना पद राष्ट्रपति के प्रसादपर्यंत धारण करते हैं।

44वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया अनुच्छेद 361 क संसद तथा राज्य विधानमंडलों की कार्यवाहियों के प्रकाशन को सरक्षण प्रदान करता है। विधानमंडलों की कार्यवाहियों को विशेष दर्जा प्राप्त है और उनका प्रकाशन संबद्ध सदन की अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 361 क में कहा गया है कि विधायी कार्यवाही की सारतया सही रिपोर्ट के किसी समाचार पत्र में सदाशयता से प्रकाशन के संबंध में किसी व्यक्ति पर कोई कार्यवाही नहीं की जा सकेगी, पर यह संरक्षण गुप्त बैठक की कार्यवाही पर लागू नहीं होगा। यह संरक्षण रेडियो के प्रसारणों पर भी लागू होता है।

अनुच्छेद 363 में उपबंध है कि यदि देशी रियासतों के शासकों के साथ भारत सरकार या उसके पूर्ववर्ती सरकार की कोई संधिया, करार आदि हुए हो तो उनसे उत्पन्न मामलों में न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे।

अनुच्छेद 363 क देशी रियासतों के शासकों के विशेषाधिकारों और उनकी निजी थैलियों की समाप्ति को संवैधानिक मान्यता प्रदान करता है।

अनुच्छेद 364 में कहा गया है कि राष्ट्रपति अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकता है कि अमुक कानून महापत्तनों और हवाई अड्डों पर लागू नहीं होगा।

अनुच्छेद 365 की व्यवस्था है कि संघ के निदेशों का पालन न किया जाना राष्ट्रपति के लिए इस बात का पर्याप्त औचित्य होगा कि संबद्ध राज्य सरकार का शासन संविधान के उपबंध के अनुसार नहीं चलाया जा सकता और वहा अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति का शासन लागू किया जा सकता है ("आपात प्रावधान" संबंधी अध्याय के अंतर्गत भी देखिए)।

अनुच्छेद 366 परिभाषा-खड है और वह संविधान में प्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करता है।

अनुच्छेद 367 निर्वचन-खंड है। उसमें कहा गया है कि सामान्यतया साधारण खंड अधिनियम संविधान के प्रावधानों के निर्वचन के बारे में लागू होगा अथवा अधिनियमों

या विधियों के प्रति निर्देश में राष्ट्रपति या संबद्ध राज्य के राज्यपाल द्वारा जारी किए गए अध्यादेशों के प्रति निर्देश शामिल होगा, संविधान में 'विदेशी राज्य' से भारत से भिन्न कोई राज्य अभिप्रेत है, लेकिन राष्ट्रपति आदेश देकर यह घोषणा कर सकता है कि कोई राज्य विशेष प्रयोजनों के लिए विदेशी राज्य नहीं है।

अस्थायी, संक्रमणकालीन और विशेष उपबंध

कुछ अस्थायी एवं संक्रमणकालीन उपबंध नियत अवधि के लिए थे। यह अवधि समाप्त हो चुकी है। यथा, अनुच्छेद 369 के अधीन राज्य सूची में शामिल विषयों के बारे मे विधियां बनाने की संसद की शक्ति केवल पांच वर्ष की अवधि के लिए थी। इसी प्रकार, अनुच्छेद 373 के अधीन निवारक-निरोध के मामलो में राष्ट्रपति की शक्ति केवल एक वर्ष के लिए थी।

अनुच्छेद 370 में किए गए 'जम्मू-कश्मीर राज्य सबंधी अस्थायी उपबध' सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा राजनीतिक दृष्टि से संभवतया सर्वाधिक विवादास्पद उपबंध रहे है। इस अनुच्छेद के अधीन जम्मू-कश्मीर राज्य के लिए विधिया बनाने की शक्ति विलयन-पत्र मे विनिर्दिष्ट मामलों तक सीमित होगी तथा वह अन्य मामलों पर केवल राज्य की सहमति से लागू हो सकती है।

अनुच्छेद 371 से 371 झ में विशेष उपबध है और उनका संबध नागालैंड, असम, मणिपुर, आध्र प्रदेश, सिक्किम, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा के राज्यो से है। प्रत्येक दशा मे, विचार यह है कि प्रादेशिक, जनजातीय या अन्य भावनाओं की तुष्टि की जाए और स्थानीय लोगों के हितो की रक्षा की जाए। उदाहरण के लिए, धार्मिक एव सामाजिक प्रथाओं, रूढ़िगत कानूनों, भू-स्वामित्व आदि से सबद्ध ससद क अधिनियम नागालेंड पर लागू नही होंगे और नागालैड के राज्यपाल के कतिपय विशेष उत्तरदायित्व होंगे।

अनुच्छेद 372 वर्तमान विधियो के प्रवर्तन को जारी रखने का उपबध करता है। अनुच्छेद 372 क राष्ट्रपति को शक्ति प्रदान करता है कि वह संविधान से पूर्व की विधियो को संविधान के उपबंधो के लिए अगीकार करे। अनुच्छेद 374-378 क मे कतिपय अस्थायी उपबध है और उनका सबंध संविधान-पूर्व के फेडरल न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो, लंबित कार्यवाहियों, नियंत्रक-महालेखापरीक्षक तथा लोक सेवा आयोगो से, आध्र प्रदेश विधान सभा की अवधि आदि से है।

अनुच्छेद 392 राष्ट्रपति को शक्ति देता है कि वह संविधान की प्रवर्तन सबधी किन्ही कठिनाइयों को दूर करे।

23

पंचायती राज

भाग 9 और 9 क, अनुच्छेद 243-243 ह

दिसबर, 1992 में पारित संविधान 73वे और 74वे सशोधन के द्वारा भाग 9 और 9 क जोड़ा गया है। इन दो भागो के अतर्गत अनुच्छेद 243 से लेकर 243 ह तक कुल 34 नये अनुच्छेद तथा 11वी और 12वीं दो नयी अनुसूचिया सविधान का अंग बन गई है। 73वां सशोधन पंचायत संबंधी उपबध करता है और 74वा नगरपालिकाओ के बारे में है।

यद्यपि पचायतों और नगरपालिकाओं की बात कुछ नयी नही है, देश के अनेक राज्यो मे पचायत विषयक कानून थे, नगरपालिकाओ, जिलापरिषदो आदि का उपबध था। किंतु प्राय यह सस्थाए अधिक समय तक सफलतापूर्वक नही चल पाती थीं जिसके अनेक कारण थे।

अब इन सस्थाओ को संवैधानिक प्रतिष्ठा और सरक्षण मिल गया है। 73वे और 74वे सविधान सशोधनो मे उपबध है कि राज्यो के विधानमडल पचायतो और नगरपालिकाओं आदि के लिए अपने अपने कानून बनाएंगे। हरेक राज्य मे गाव तथा जिला और दोनों के बीच के स्तर पर पचायते स्थापित की जाएगी। जिन राज्यों की जनसंख्या 20 लाख से अधिक नही है, उनमे बीच के स्तर पर पचायतो की आश्यकता नही होगी। महत्वपूर्ण बातें यह है कि अब पचायतों को अधिक समय के लिए स्थगित अथवा निरस्त नही किया जा सकेगा क्योकि 6 महीने के भीतर चुनाव कराना अनिवार्य होगा। दूसरे, सभी पचायतों में महिलाओ को, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को आरक्षण प्राप्त होगा। पंचायतो का 5 वर्ष का निश्चित कार्यकाल होगा। उनका अपना बजट होगा, कर लगाने की शक्ति होगी तथा उनकी अपने विषय और अधिकार क्षेत्रो की सूची (11वी सूची) होगी। पचायते अपने अपने क्षेत्रों के लिए आर्थिक विकास की योजनाए बना सकेगी और उन्हें कार्यान्वित कर सकेगी। पंचायतो के चुनाव कराने के लिए प्रत्येक राज्य मे एक राज्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति होगी तथा हर पाचवें वर्ष पचायतो की आर्थिक स्थिति का जायजा लेने के लिए एक वित्त आयोग बैठाया जाएगा।

इसी प्रकार, 74वें सविधान संशोधन में नगर पंचायत, नगरपालिका आदि के विषय मे रूपरेखा दी गई है और प्रत्येक राज्य से अपेक्षा की गई है कि वह अपने अपने कानून बनाए। आरक्षण, निर्वाचन, कर लगाने की शक्ति, आर्थिक विकास के लिए योजना बनाने और लागू करने की शक्ति, वित्त आयोग की स्थापना, निश्चित कार्यकाल आदि के मामलों में उपबंध लगभग वैसे ही है जैसे 73वें संशोधन में पंचायतो के लिए दिए गए हैं।

सभी राज्यों ने साल भर के भीतर संविधान के आदेशानुसार अपने अपने कानून बना लिए थे। अधिकांश राज्यों में स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन भी हो गए हैं अथवा हो रहे है। आशा की जानी चाहिए कि नयी पंचायतें और नगरपालिकाएं देश मे वास्तविक भागीदारी, लोकतत्र के एक नये अध्याय का सूत्रपात करेंगी और शक्ति और सत्ता जनता के हाथों मे पहुचेगी जहां उसका वास सदैव होना चाहिए।

24

संविधान का कार्यकरण और पुनरीक्षा संबंधी सुझाव

यह कोई सरल कार्य नहीं था कि भारत जैसे देश के अतीत, आकार और प्रकृति को रास आने वाले संविधान और राजनीतिक प्रणाली का गठन और अंगीकरण किया जाए। अतः संविधान का जो रूप निखरकर सामने आया उसमे सुसंबद्धता तथा जीवंतता से परिपूर्ण राज्य व्यवस्था को संजोया गया और लोकतंत्र, समतावाद, पंथनिरपेक्षता तथा विधि के शासन को महत्ता दी गई। समाजवादी समाज व्यवस्था को लाने के लिए योजनाबद्ध विकास पर बल दिया गया। क्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन प्रयास किए गए कि निर्धनों एव दलितो की दशा को सुधारा जाए, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक बुनियादी ढाचे का निर्माण किया जाए, कृषि के क्षेत्र में क्रांति लाई जाए, उद्योग को बहुआयामी बनाया जाए और औद्योगिक क्षमता तथा उत्पादन को द्रुतगति के पंख लगा दिए जाए।

ढेर सारी उपलब्धियां है। कोई 600 से अधिक देशी रिसायतों का एकीकरण किया गया। शरणार्थियों को पुनः बसाया गया। जमींदारी का उन्मूलन किया गया तथा अन्य भूमि-सुधार किए गए। भारत में पुर्तगाल तथा फ्रांस के अधीन क्षेत्रों को आजाद कराया गया। हैदराबाद तथा जम्मू-कश्मीर की रियासतो का विलय भारत सघ मे कराया गया। अपने दो पडोसी देशों के अनेक आक्रमणो का सामना किया गया। गुटनिरपेक्षता एवं शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के ठोस सिद्धातो वाली सार्थक विदेश-नीति का विकास किया गया (भारत के दर्शन तथा नेतृत्व को एक साथ सौ से भी अधिक राष्ट्रो ने स्वीकार किया)। धरती पर सबसे विशाल लोकतंत्र में आम चुनाव कराए गए। अनेक बार एक पार्टी से दूसरी पार्टी के हाथ मे शांतिपूर्ण ढग से सत्ता सौंपी गई। हमारी राज्य व्यवस्था पर बाहरी तथा भीतरी विद्वेषी शक्तियों ने अनेक खिंचाव, तनाव व दबाव डाले पर भारत डिगा नहीं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि राजनीतिक स्तर पर अभी तक हमारी महान उपलब्धियां इस प्रकार रही हैं : (1) हमने राष्ट्र की एकता एवं अखंडता तथा राज्य व्यवस्था के पंथनिरपेक्ष स्वरूप को लाने का प्रयास किया और उसे बनाए रखा और (2) व्यक्ति की आजादी एवं गरिमा को सुनिश्चित करते हुए हमने प्रतिनिधिक संसदीय लोकतंत्र प्रणाली को कायम रखा।

जब हम अपने चारों ओर नजर दौड़ाते हैं तो हमें ये उपलब्धियां और भी महान लगने लगती हैं क्योंकि विश्व में इने गिने राष्ट्र ही है जहां वास्तव में सक्रिय लोकतंत्र तथा स्वाधीनता शेष रह गई है। कतिपय अस्थायी असामान्यताओं के बावजूद हम समुचित रूप से इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि जो भी समस्याएं सामने आई हैं, उन्हें हमने व्यवस्था के भीतर ही सुलझाया है या सुलझाने का प्रयास किया है।

लेकिन एक पक्ष निराशा का भी है। वर्तमान अधिक उत्साहवर्धक नहीं है। विशेषतया जब हम देखते हैं कि सभी क्षेत्रों तथा सभी व्यवसायों में मूल्यो का ह्रास हुआ है, साप्रदायिक दंगे हुए हैं, अंतर्जातीय हिंसा भड़की है, भाषायी, जातीय तथा प्रादेशिक आंदोलन हुए हैं, आतंकवादी गतिविधियां बढ़ी हैं, चुनावों में धनबल एवं भुजबल का बोलबाला है (प्रधानमंत्री राव के शब्दों में 'अपराधवृत्ति पर राजनीति का और राजनीति पर अपराधवृत्ति का' रंग चढ़ाया जा रहा है) कुछ विधानमंडलों मे अशुभ घटनाए घट रही हैं और यत्र-तत्र जातिवाद तथा संप्रदायवाद जैसी विघटनकारी तथा फूट डालने वाली वृत्तिया अपना घिनौना सिर उठा रही हैं।

किसी भी प्रतिनिधिक लोकतंत्र में दो मुख्य सरोकार होते हैं स्थिरता और उत्तरदायित्व। लोकतंत्र जो सरकार देता है, उसे सुरक्षा, विकास और जनकल्याण के लिए जरूरी बल एवं स्थिरता प्राप्त होनी चाहिए और जिन लोगों से शासन की अपेक्षा की जाती है, उन्हें जनता तथा उनके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी रहना चाहिए।

हमारे संविधान निर्माताओ को उस उपनिवेशवादी निरंकुश शासन का कटु अनुभव था जो न तो जनता का प्रतिनिधित्व करता था और न ही उसकी उमगों, आकांक्षाओ और आवश्यकताओं की ओर ध्यान देता था। वह भारत के लोगों के किसी प्रतिनिधि निकाय के प्रति जवाबदेह या उत्तरदायी नहीं था। अतः यह स्वाभाविक था कि हमारे संविधान निर्माताओ ने कार्यपालिका के 'उत्तरदायित्व' तथा प्रशासन की जवाबदेही को सर्वोपरि स्थान दिया।

उन्होंने संसदीय प्रणाली को अंगीकार किया जिसमें मंत्रियों के उत्तरदायित्व की संकल्पना है। लेकिन लगता है कि उन्होंने ऐसी स्थिति की पूर्व-संकल्पना नहीं की थी जहां मंत्रियों के दायित्व की सकल्पना में जनसाधारण के प्रति दायित्व शामिल नहीं होगा और जहां यह सकल्पना सरकार को राजनीतिक दलो के प्रति सदस्यों की बदलती हुई निष्ठा का इतनी बुरी तरह दास बना देगी कि वह सदन में दलबदल तथा अस्थायी बहुमत का सहारा लेने पर बाध्य हो जाएगी।

भले ही दलबदल विरोधी विधेयक के 'उद्देश्यों एवं कारणों' में यह विस्तार से नहीं कहा गया था, कितु उसके पीछे एक प्रमुख उद्देश्य यह था कि सरकारों में अस्थिरता की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाए। संघ-स्तर पर कुछ समय के लिए वह काम भी आया लेकिन

बाद मे राज्यों के स्तर पर तथा संघ के स्तर पर भी कहानी नितात भिन्न रही। दलबदल विरोधी कानून दलबदल को रोकने में असफल रहा। केवल यह अतर आया कि अब दलबदल झुंडो अथवा समूहो मे होने लगे ताकि दलीय विभाजन अथवा विलय के नाम पर सदस्यगण अपनी सदस्यता से वंचित होने से बचे रह सकें। उसके अलावा 10वीं अनुसूची द्वारा सदस्यों से उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषाधिकार यानी मतदान की आजादी छीन ली गई। वास्तव मे, दलबदल-विरोधी कानून के बाद, जैसा कि जनता दल विभाजन के मामले में अपने निर्णय में अध्यक्ष पाटिल ने कहा, सदस्य अपनी इच्छा के अनुसार मतदान भी नहीं कर सकते, यह तो एक ऐसी आजादी है जो संसद के सदनो के बाहर भारत के हर सामान्य नागरिक को प्राप्त है। संसद सदस्यों पर कानूनी बंधन है कि वे केवल दल सचेतक के निदेश के अनुसार ही वोट दे सकते हैं अन्यथा वे अपनी सदस्यता गवा सकते हैं।

जाहिर है कि अमरीकी शैली की राष्ट्रपतीय शासन प्राणाली में कार्यपालिका अधिक स्थिर होती है क्योंकि प्रमुख कार्यपालक तथा राज्याध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति 4 वर्ष की अवधि के लिए चुना जाता है ओर उसे तभी हटाया जा सकता है जब निजी कदाचार के लिए उस पर महाभियोग चलाया जाए। भले ही अमरीका मे कार्यपालिका अमरीकी काग्रेस के किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं है पर चार वर्ष मे एक बार वह सीधे जनता के प्रति उत्तरदायी है।

फ्रासीसियो ने विभिन्न मॉडलो को मिलाकर एक नयी व्यवस्था रची है। उसमे मत्रियो के दायित्व वाली ससदीय प्रणाली के साथ राष्ट्रपति के रूप मे हटाए जा सकने वाली कार्यपालिका की व्यवस्था है। वहा पर प्रधानमंत्री तथा अन्य मत्री नेशनल असेबली के प्रति उत्तरदायी है, राष्ट्रपति को जनता सात वर्ष की अवधि के लिए चुनती है और जीतने के लिए अनिवार्य है कि राष्ट्रपति 50 प्रतिशत से अधिक वोट प्राप्त करे।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालने वाली भारत की नवीनतम घटनाए इस आवश्यकता को उजागर करती हैं कि प्रतिनिधि-संस्थानों के माध्यम से राजनीतिक कार्यपालिका तथा प्रशासक वर्ग जनता के प्रति और अधिक उत्तरदायी तथा जवाबदेह हों। दूसरी ओर, क्रमश अनेक त्रिशकु ससदो एव राज्य विधानमंडलों और अल्पमत-सरकारों तथा बार बार के आम चुनावो का नजारा है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति मे स्थिरता भी गभीर चिंता का विषय है।

आर्नाल्ड टायनबी से एक बार पूछा गया : 'यदि लोकतत्र और स्थिरता मे से किसी एक को चुनना हो तो आप किसे चुनेगे?' प्रख्यात इतिहासकार का उत्तर था, 'चयन त्रासकारी होगा पर अनिवार्यतया वह स्थिरता होगा।' इस परामर्श के बावजूद हम भारतवासी यह नहीं चाहेगे कि उत्तरदायित्व के महत्व को कम कर दिया जाए। अतः विकल्प यह है कि विद्यमान संसदीय प्रणाली के भीतर और अधिक स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए उपाय

एवं साधन खोजे जाएं। लगता है कि सभी इस बारे मे सहमत हैं कि देश बार बार के आम चुनावों का भार सहन नहीं कर सकता। उसके अन्य दुष्परिणाम जो भी हों, उन पर विपुल धनराशि तो खर्च होती ही है।

विद्वानों, विधिवेत्ताओं, जनसेवकों तथा अन्य लोगों की ओर से संविधान की पुनरीक्षा के संबंध में विभिन्न प्रकार के ठोस सुझाव दिए गए हैं। न तो वे सब एक-दूसरे से मेल खाते हैं और न सभी स्वीकार्य हो सकते हैं। पर वे संवैधानिक मामलों के बारे में हमें चिंतन-मनन के लिए विवश अवश्य कर सकते हैं। ऐसे ही कतिपय सुझावों को साररूप में प्रस्तुत किया जाता है:

1. जब दलबदल-विरोधी कानून अस्थिरता को रोकने मे बुरी तरह विफल रहा है, तब क्यों न उसे पूर्णतया रद्द कर दिया जाए? संविधान पर पुनः विचार किया जाए और खोजा जाए कि क्या कतिपय अन्य सशोधन लाकर उत्तरदायित्व और जवाबदेही को कम किए बगैर सरकार की और अधिक स्थिरता सुनिश्चित करने के प्रयोजन को पूरा किया जा सकता है;
2. जर्मन प्रथा का अनुसरण करके हम मंत्रिपरिषद के प्रति रचनात्मक अविश्वास प्रस्ताव की व्यवस्था कर सकते हैं। इससे सदन के लिए यह अनिवार्य हो जाएगा कि वह पदधारी प्रधानमंत्री को हटाने के साथ ही साथ उसके उत्तराधिकारी का चयन कर ले;
3. यदि बार बार और जल्दी जल्दी सरकार बदलती रहे तो भारत जैसे देश की विशाल समस्याओं को हल नही किया जा सकता। सप्रति नियमों के अधीन मंत्रिपरिषद के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव एक ही सत्र मे एक से अधिक बार नही लाया जा सकता। इसमें रूपभेद करके कहा जा सकता है कि एक ही वर्ष में ऐसा प्रस्ताव एक से अधिक बार नहीं लाया जा सकेगा।
4. दसवीं अनुसूची बेकार होती जा रही है और उसे संविधान से निकाल दिया जाना चाहिए। उससे यह संभव होना चाहिए कि सदस्यों को वोट देने की आजादी पुनः प्राप्त हो जाए। सर्वोत्तम तो यह होगा कि अविश्वास प्रस्तावों जैसे मामलों और वित्तीय तथा नीति संबंधी खास मसलों में ही सचेतक के आदेश बाध्य हों। अविश्वास प्रस्ताव, नीति संबंधी खास मसले या वित्त विधेयक या अनुदान की मांगों के बारे में हार होने पर ही सरकार के इस्तीफे की जरूरत पड़े;
5. यदि मंत्रिपरिषद लोक सभा में बहुमत का समर्थन गंवा देती है या कोई दल स्थिर सरकार नहीं बना सकता तो राष्ट्रपति पहल कर सकता है कि बाहरवालों की मदद से राष्ट्रीय सरकार का गठन हो जाए और पदधारी उपराष्ट्रपति को उसका अध्यक्ष बना दिया जाए। यह व्यवस्था तब तक जारी रह सकती है, जब तक कि लोक सभा

के निर्वाचित प्रतिनिधि स्थिर बहुमत के समर्थन से अपनी नयी सरकार न बना लें;

6. वर्तमान प्रणाली के स्थान पर जिसमें राष्ट्रपति प्रधानमंत्री को नियुक्त करता है तथा अन्य मंत्रियों को वह प्रधानमंत्री की सलाह से नियुक्त करता है, दो तिहाई बहुमत द्वारा संसद के दोनों सदनों के सदस्य समूचे प्रधानमंत्री का चुनाव करें। केवल ऐसे दो तिहाई बहुमत द्वारा ही उसे हटाया जा सके;
7. दो तिहाई बहुमत से निर्वाचित होने के लिए यह जरूरी हो सकता है कि एक समान न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सामान्यतया समान विचार वाले दल एकजुट हों, एक सर्वमान्य प्रधानमंत्री का चयन करे और एक मिलीजुली सरकार बने;
8. यह अनिवार्य है कि राष्ट्र की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं मे भाग लेने वाले राजनीतिक दल अपने आंतरिक सगठनों के बारे मे स्वय लोकतांत्रिक दृष्टिकोण रखते हो। जरूरी है कि उनका विनियमन तथा नियत्रण विधि के अनुसार हो। अनिवार्य है कि दल की सदस्यता के द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों के लिए खुले हों। दल के चुनाव नियमित रूप से निष्पक्ष तथा स्वतंत्र रूप से हों। दल के लेखाओ की विधिवत लेखापरीक्षा हो और उसकी जानकारी आम जनता को उपलब्ध हो।

कुछ अन्य सुझाव इस प्रकार हैं ·

- एक छोटा संविधान हो। उसमे अनिवार्य तत्व हों और ऐसे निदेश हों जिनसे विभिन्न स्तरो पर अच्छे लोग आगे आए और एक बेहतर स्तर का नेतृत्व उभरकर सामने आ सके;
- सच्चे अर्थो मे सभी नागरिकों को वास्तव मे बराबरी का व्यवहार मिले और धर्म, मूलवश, जाति, लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न हो;
- हमारी सस्कृति, जरूरतो, आकाक्षाओं तथा हमारी कमजोरियो को ध्यान मे रखते हुए सर्वाधिक अनुकूल राज्य व्यवस्था का गठन हो;
- 50 या 60 छोटे, कमोबेश बराबर के आकार वाले राज्य हों, अधिकाधिक निम्नतर स्तरों पर सत्ता का विकेंद्रीकरण हो, शासन की तीन या चार स्तर वाली प्रणाली हो और सीमित सीधे चुनाव हों, एक सशक्त संघ और सशक्त इकाइया हो;
- निर्वाचन प्रणाली का सुधार हो और वह अधिक प्रतिनिधानमूलक हो और धनबल एवं भुजबल से मुक्त हो;
- राजनीतिक दलों की संख्या का परिसीमन हो, आंतरिक दलीय लोकतत्र को सुनिश्चित करके दलीय प्रणाली का विनियमन हो, पार्टी की धनराशियों के स्रोतों की घोषणा की जाए और खर्चो की जाच हो।

● ● ●

शब्दावली

अधिकार-पत्र — Bill of Rights
अधिकृत अग्रता-अधिपत्र — Official Warrant of Precedence
अधिशासी परिषद — Executive Council
अधिप्रमाणन — Authentication
अर्धपरिसघीय — Quasi-Federal
अग्रनयन नियम — Carry Forward Rule
अतिवादी — Extremist
अनम्य अथवा नम्य — Rigid or Flexible
अनुकल्पी मत की पद्धति — System of Alternate Vote
अनुमान तथा अनुदानों की मांगें — Estimates and Demands for Grants
अनुन्मोचित दिवालिया — Undischarged Insolvent
अभिलेख न्यायालय — Court of Record
आरक्षी शक्ति के सिद्धांत — Doctrine of Police Power
आकस्मिकता निधि — Contingency Fund
आरंभिक अपीलीय तथा मंत्रणा — Original Appellate and Advisory
आस्तियो के पूजीगत मूल्य पर कर — Taxes on Capital Values of Assets
आयकर पर अधिभार — Subcharge on Income Tax
उदार निर्वचन के सिद्धांत — Doctrine of Liberal Interpretation
उद्देशिका — Preamble
एकांतता का अधिकार — Right of Privacy
केंद्र-राज्य — Centre-State
जर्मन राज्य — Reich
दड का निलबन, परिहार या लघुकरण — Suspend, Remit or Commute
दांडिक अपराध — Criminal Offences
द्विस्वभावी — Amphibian
देशनिकाला — Deportation
दोहरा जोखिम — Double Jeopardy
धन-विधेयक — Money Bill

धर्मतंत्रवादी — Theocratic
न्यायिक निर्वचन — Judicial Interpretation
न्यायिक पुनर्विलोकन — Judicial Review
न्यायाधिकरण — Tribunal
न्यायिक आदेश — Writs
न्यायालयों द्वारा लागू कराए जा सकने वाले — Justiciable
नरमपंथी — Moderates
नागरिक तथा राजनीतिक — Civil and Political
निगम-कर — Corporation Tax
नियतकालिक कार्यपालिका — Fixed Term Executive
नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक — Comptroller and Auditor General,
नियंत्रित सरकार — Limited Government
निर्वाचक-गण — Electoral-College
निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल सक्रमणीय मत — System of Proportional Representation by means of Single Transferable Vote
पदावरोही — Outgoing
परिसघ — Federation
परिसंघात्मक/परिसंघीय — Federal
परिसंघ/एकात्मक — Federal or Unitary
पंथ — Creed
प्रथम दृष्ट्या — Prima Facie
प्रतिनिधान बिना कराधान नहीं -- No Taxation Without Representaion
प्रगतिशीलतापरक निर्वचन का सिद्धात - Doctrine of Progressive Interpretation
पुनर्वास अनुज्ञा — Resettlement Permit
पृथक्करणीयता का सिद्धात — Doctrine of Severability
पृथक्करण के सिद्धांत — Doctrine of Severability
पृथक निर्वाचक मंडल — Separate Communal Electorates
बाध्यता — Compulsion
बाह्यकरण — Externment
भारत की संचित निधि — Consolidated Fund of India
भारत का राज्य-संघ विधयेक — Commonwealth of India Bill
भारत के महान्यायवादी — Attorney General of India

भारत का नियंत्रक-महालेखापरीक्षक — Comptroller Auditor General of India

भावी विरुद्ध-निर्णय के सिद्धांत — Doctrine of Prospective Overruling

भूतलक्षी प्रभाव वाली विधि — Ex-post Facto Law

महाद्वीपीय मग्नतट भूमि — Continental Shelf

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा — Universal Declaration of Human Rights

राज्य संघ — Union of States

राज्य परिसंघ — Federation of States

राज्य क्षेत्रीय सागर-खंड — Territorial Waters

राष्ट्रीय सम्मेलन — National Convention

रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश — Supreme Command of the Defence Forces

लिखित अथवा अलिखित — Written or Unwritten

लेखानुदान — Vote on Account

लोक खाते — Public Accounts

वर्गगत विधान — Class Legislation

विचारण -- Trial

वित्त आयोग — Finance Commission

वित्तीय विधेयक — Financial Bills

विधि का शासन -- Rule of Law

विधि की सम्यक प्रक्रिया बनाम विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार — Due Process of Law vs. According to Procedure Established by Law

विनियोग विधेयक — Appropriation Bill

विबाध्यता — Duress

शास्ति — Penalty

शून्य — Void

संघ — Union

स्वयं पर दोषारोपण का प्रतिषेध — Prohibition Against Self Inerimination

संघ-राज्य — Union-State

संघ तथा राज्य — Union and States

संघ लोक सेवा आयोग — Union Public Service Commission

संचित निधि -- Consolidated Fund

संवैधानिकता के पक्ष में उपधारणा — Presumption in Favour of Constitutionality

समान सिविल संहिता — Uniform Civil Code
समरस अर्थान्वयन नियम — Rule of Harmonious Construction
समरस-संरचना सिद्धांत — Principle of Harmonious Construction
समवर्ती सूची — Concurrent List
सपरिषद गवर्नर जनरल — Governor-General-in-Council
सामान्य नियम — Rules of Inter Pretation
सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व — Communal Representation
सार्वत्रिक वयस्क मताधिकार — Universal Adult Franchise
सीमा शुल्क — Customs Duty
क्षमा, उसका प्रविलंबन, विराम या परिहार — Pardon, Reprieve, Respite or Remission
क्षेत्रातीत प्रवर्तन — Extra-territorial Operation
त्रितलीय ढांचे — Three Tier Structure

अनुक्रमणिका